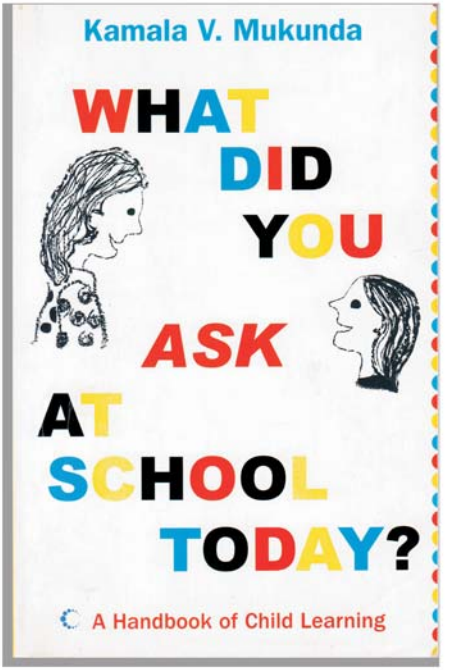

स्कूल में आज तुमने भला क्या पूछा?

कमला वी. मुकुन्दा

भाषान्तर

पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

इस किताब की सम्पादन प्रक्रिया जारी है।

इसे एकलव्य द्वारा अक्तूबर, 2013 में प्रकाशित किया जाएगा।

स्कूल में आज तुमने भला क्या पूछा?

कमला वी. मुकुन्दा

भाषान्तर

पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

स्कूल में आज तुमने भला क्या पूछा?

सेराक्यूस विश्वविद्यालय न्यू यॉर्क से शैक्षणिक मनोविज्ञान में पी.एचडी करने तथा कुछ वर्षों तक स्नातकपूर्व छात्रों को पढ़ाने के बाद कमला वी. मुकुन्दा, 1995 में भारत लौटीं। सेंटर फॉर लर्निंग, जो बंगलूरु स्थित अनौपचारिक शिक्षण शाला है, से जुड़ीं और शिक्षा की प्रकृति की छानबीन करने लगीं (www.cfl.in)। उन्होंने पाया कि शिक्षक तथा पालक दोनों ही उन तमाम शैक्षणिक प्रश्नों के प्रति सक्रिय जिज्ञासा रखते हैं, जो परंपरागत रूप से मनोवैज्ञानिकों की शोध का विषय रहे हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक बिरले ही इस पाठक वर्ग को संबोधित कर लिखते हैं! उनके आलेख विशिष्ट शब्दावली से भरे होते हैं। कमला ने पाया कि शैक्षणिक मनोविज्ञान की पाठ्यपुस्तकें तक इस दूरी को पाट नहीं पातीं। यों कमला ने इस क्षेत्र में हुई शोध के सार-संक्षेप को प्रस्तुत करते हुए सरल सुगम भाषा में छोटे आलेखों की रचना प्रारंभ की। जब इन आलेखों का स्वागत हुआ, उन्होंने भारतीय संदर्भ में शिक्षकों के लिए मनोविज्ञान पर एक पुस्तक लिखने का निर्णय लिया।

❑❑❑

अनुक्रमणिका

विवरण	पेज संख्या
प्राक्कथन	**06**
आमुख	**07**
आभार	**10**
परिचय	**12**
अध्याय-1 : मस्तिष्क, उद्विकास तथा शिक्षण	**17**

अध्याय मस्तिष्क के ढाँचे तथा कार्यों की मौजूदा समझ का वर्णन करता है, तथा शिक्षा के लिए प्रासंगिक उद्विकासीय मनोविज्ञान (एवोल्यूशनरी साइकॉलजी) का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है।

उप-बिन्दु : ढाँचा व कार्य; रंगभूमि (हिप्पोकैम्पस); मस्तिष्क में विभिन्न मॉड्यूल्स का उद्विकास; जन्मजात (इन्नेट) तथा गैर-जन्मजात (नॉन इन्नेट) रूप से सीखना; शिक्षण -- एक विशिष्ट मानवीय कौशल।

अध्याय-2 : सीखना **30**

यह अध्याय अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक (प्रोसीजरल) तरीके से सीखने का विस्तृत स्पष्टीकरण देता है तथा शिक्षकों के लिए शोध से उभरे उदाहरणों और सुझाव प्रस्तुत करता है। छात्रों में अनौपचारिक विवेचना के महत्त्व की पड़ताल करता है।

उप-बिन्दु : रचनात्मकतावाद (कन्स्ट्रक्टिविज़्म) तथा अवधारणात्मक बदलाव; खोज से सीखना; प्रक्रियात्मक ज्ञान तथा कौशल सीखना; संदर्भ आश्रित विवेचना।

अध्याय-3 : स्मृति **55**

यह अध्याय कक्षा के लिए प्रासंगिक मुद्दों पर दीर्घकालिक तथा अल्पकालिक स्मृति का स्पष्टीकरण उदाहरणों तथा शोध के साथ देता है।

उप-बिन्दु : दीर्घकालिक स्मृति की अंतर्वस्तु; दीर्घकालिक स्मृति किस प्रकार व्यवस्थित होती है; कार्यकारी स्मृति तथा सीखने-सिखाने की प्रक्रिया; स्वचालितता (ऑटोमैटिसिटी): एक विशेष उपयोग; 'मैं अध्ययन कर रही हूँ।'

अध्याय-4 : बाल विकास **73**

यह अध्याय उदाहरणों की मदद से बाल विकास के प्रतिद्वन्द्वी सिद्धांतों को स्पष्ट करता है तथा शिक्षा के लिए प्रासंगिक महत्त्वपूर्ण चरणों (क्रिटिकल पीरिडस्) की अवधारणा की चर्चा करता है।

उप-बिन्दु : मस्तिष्क का विकास; तंत्रकोशिकाओं (न्यूरॉन्स) के बीच संबंध; तंत्र कोशिकाओं का मज्जा विकास (मायेलीनेशन); गुणात्मक बदलाव दरअसल संचित संख्यात्मक बदलाव ही है; बाल विकास की निरंतरता का एक नज़रिया; बढ़ने में जल्दबाजी न करो, जितना ज़रूरी हो उतना समय लगाओ; विकास के अत्यावश्यक चरण।

अध्याय-5 : प्रकृति तथा परवरिश 95

सीखने तथा शिक्षा से जुड़े प्रकृति-परवरिश मुद्दे की मौजूदा स्थिति का विस्तृत तथा समग्र वर्णन।

उप-बिन्दु : सार्वजनीनता का प्रश्न; प्रकृति हमारी संज्ञानात्मक क्षमताओं में किस प्रकार योगदान करती है; हमारी संज्ञानात्मक क्षमताओं में प्रकृति का योगदान; वैयक्तिक अंतरों का सवाल।

अध्याय-6 : नैतिक विकास 112

यह अध्याय स्कूली शिक्षण के संदर्भ में नैतिक विकास के विभिन्न सिद्धान्तों तथा अध्ययनों का वर्णन करता है।

उप-बिन्दु : यह सही क्यों है ? नैतिकता के जन्मजात तत्व; आत्मसात करना एक सक्रिय प्रक्रिया है; नैतिक आचरण।

अध्याय-7 : बुद्धिमत्ता 138

यह अध्याय बुद्धिमत्ता से संबंधित विभिन्न सिद्धान्तों का उदाहरणों सहित वर्णन करता है (उदाहरणार्थ, गार्डनर, स्टर्नबर्ग) और स्कूली शिक्षण तथा शिक्षा संबंधी मुद्दों से उन्हें जोड़ता है।

उप-बिन्दु : बुद्धिमत्ता की परिभाषा; मापन; वैयक्तिक अंतर; बुद्धिमत्तापूर्ण आचरण के लिए शिक्षित करना।

अध्याय-8 : उत्प्रेरणा 163

यह अध्याय आंतरिक व बाह्य उत्प्रेरणा के सिद्धान्तों तथा शोध का कक्षा में उनके समेत वर्णन करता है।

उप-बिन्दु : अपूरित शारीरिक तथा भावात्मक आवश्यकताएँ, उद्विकासात्मक बाधाएँ; अनुभूत नियंत्रण का अभाव; पुरस्कारों का दुरुपयोग; अप्रासंगिक तथा चुनौतीहीन काम; कक्षा का वातावरण; शिक्षक आचरण तथा छात्र उत्प्रेरण; छात्रों की मान्यताएँ तथा उत्प्रेरण।

अध्याय-9 : सीखने का मापन 187

यह अध्याय मापन सिद्धान्त की बुनियादी जानकारी देता है तथा हमारे स्कूलों के परीक्षण

तथा आकलन अभ्यासों की समालोचना कर, कुछ विकल्प प्रस्तुत करता है।

उप-बिन्दु : मनोवैज्ञानिक परीक्षण का ककहरा; परीक्षा प्राप्तांकों की व्याख्या; आकलन को बेहतर बनाना।

अध्याय-10 : भावनाएँ, सीखना तथा भावनात्मक स्वास्थ्य 205

यह अध्याय सीखने की प्रक्रिया में भावनाओं के महत्त्व का वर्णन करता है तथा बताता है कि स्कूल के इस महत्त्वपूर्ण परन्तु उपेक्षित पक्ष के विषय में शिक्षक किस प्रकार अधिक जागरूक हो सकते हैं।

उप-बिन्दु : अकादमिक भावनाएँ; तनाव!; भावनात्मक परिपक्वता को विकसित करना; आत्म-सम्मान।

अध्याय-11 : किशोरावस्था, एक जैव-मनो-सामाजिक परिवर्तन 233

यह अध्ययन किशोरावस्था की प्रमुख विशेषाताओं तथा इस चरण में आए बदलावों का वर्णन करता है, विकास के इस चरण में छात्रों की कैसे मदद की जाए इस संबंध में सुझाव देता है और किशोरावस्था के संभाव्य सकारात्मक संभावनाओं की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

उप-बिन्दु : परिवर्तन के विषय में; स्कूल तथा किशोर, किशोरावस्था के खतरे तथा संभावनाएँ।

❑❑❑

प्राक्कथन

कमला वी. मुकुन्दा की
पुस्तक के विषय में चन्द शब्द

शिक्षा पर कमला वी. मुकुन्दा लिखित पुस्तक जैसी गंभीर तथा वृहद पुस्तक पढ़ने का आनंद अब तक मुझे नहीं मिला था। इसमें कई ऐसी अदभुत चीज़ें हैं, जिन्हें मैंने सोचा था कि मैंने ही खोजी हैं। कमला की विद्वत्तापूर्ण पुस्तक ने मेरे अंहकार की हवा निकाल दी है -- इस क्षेत्र में प्रथम आविष्कार कम ही हैं।

यह अद्‌भुत पुस्तक, जो बेहद अच्छी लिखी गई है, उन लोगों के लिए एक विश्वकोष-सी सिद्ध होगी, जिनकी रुचि बच्चों की शिक्षा में है। हालाँकि मैं यह भी मानता हूँ कि गहन चीज़ें, जितना हम शिक्षा से जुड़े लोग मानते हैं, उससे कहीं अधिक स्वायत्तता से सीखी जाती हैं। संभवतः स्कूल अक्सर ही कुछ अनमोल विशेषताओं को नष्ट कर डालते हैं।

डॉ. यशपाल
राष्ट्रीय शोध प्रोफेसर

❑❑❑

आमुख

स्कूल वह जगह है जहाँ बच्चों को बड़ी-भारी मात्रा में औपचारिक (फॉर्मलाइज्ड) ज्ञान सिखाया जाता है। इस शिक्षा की योजना बनाने और उसके अंतरण में भारी ऊर्जा लगाई जाती है, फिर भी पश्चिम तथा भारत में हुए सर्वेक्षण यही संकेत देते हैं कि यह व्यवस्था दोषपूर्ण है। अमरीका में, जहाँ प्रगतिशील शैक्षणिक विधियाँ, अर्से से काम में ली जाती रही हैं, गत 25 वर्षों की रिपोर्टें यही दर्शाती हैं कि छात्र बुनियादी तत्वों तक पर काबिज़ नहीं हो पा रहे हैं। और यहाँ घर में, एक राष्ट्रीय शैक्षणिक सर्वेक्षण ने ''छात्रों के सीखने में चिंताजनक कमियों'' की सूचना दी है, और वह भी हमारे 'शीर्षस्थ स्कूलों' में। इस सर्वेक्षण (जो इण्डिया टुडे में 27 नवम्बर, 2006 को प्रकाशित हुआ था) का निष्कर्ष था कि हमारे छात्र वास्तव में कुछ भी नहीं समझते हैं, शायद इसलिए क्योंकि यहाँ रटने पर इतना बल दिया जाता है। उनका सुझाव यह था कि शायद हमें अधिक सक्रिय, अभ्यास द्वारा सीखने के अनुभवों की आवश्यकता है। यह और अमरीकी रिर्पोट, दोनों ही प्रतिवेदन इस तथ्य पर दुख जताते हैं कि छात्र ''उच्च-स्तरीय वैचारिक कौशल'' सीख नहीं पा रहे हैं।

तो हम गलती भला कहाँ कर रहे हैं? ज़ाहिर है कि इस प्रश्न को अनेक स्तरों पर संबोधित किया जा सकता है, परन्तु इस पुस्तक में मैं स्वयं को हमारी शैक्षणिक असफलताओं के पीछे के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों तक ही सीमित रखूंगी।

लगता है कि एक ठेठ भारतीय स्कूल की पाठ्यचर्या का मस्तिष्क के ढाँचे के विषय में अपना कोई निजी संस्करण होता है। जहाँ तक पाठ्यचर्या का सरोकार है हमारा मस्तिष्क नीचे दी गई आकृति-सा भी लग सकता है!

हो सकता है कि यह चित्रांकन अतिशयोक्तिपूर्ण हो, पर फिर भी मस्तिष्क भलीभाँति क्या कर सकता है, और हमारा स्कूली शिक्षण ठेठ रूप में उससे क्या उम्मीद रखता है के बीच

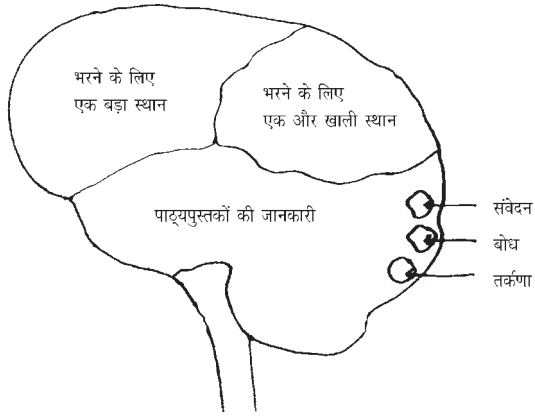

जो असंगति है, वह इस चित्र से रेखांकित होती है। इस असंगति को कुछ संक्षिप्त वक्तव्यों में समेटा जा सकता है :

- मस्तिष्क वास्तविक जगत के संदर्भों से सीखने में अच्छा होता है। स्कूल अमूर्त या पाठ्यपुस्तकों से सीखने पर बल देते हैं।
- शालापूर्व आयु की बालिका जीवविज्ञान, भौतिकशास्त्र तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में अपने निजी 'लोक' सिद्धान्त विकसित करने लगती है। स्कूल इनकी उपेक्षा करता है और उनके स्थान पर 'सही' ज्ञान रखने की चेष्टा करता है।
- स्मृति रचनात्मक तथा व्याख्यात्मक होती है। स्कूल सीखी गई सामग्री के पुनरोत्पादन पर बल देते हैं।
- भावनाएँ सीखने तथा स्मृति से अलग नहीं की जा सकतीं। स्कूल सीखने के भावनात्मक पक्ष की उपेक्षा करता है।

अन्य भी कई बेमेल बाते हैं, पर प्रमुख तो यही हैं। तो इसका समाधान भला क्या है? शायद हमें औपचारिक अध्यापन को ही त्याग देना चाहिए। मैंने कुछ प्रगतिशील शिक्षाविदों को ऐसी टिप्पणियाँ करते सुना है, 'बच्चों को उनके हाल पर छोड़ देना चाहिए और वे जिसकी उन्हें ज़रूरत हो स्वयं सीख लेंगे।' बेशक यह उस दमघोंटू स्कूली वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया है, जिसमें अधिकांश बच्चे स्वयं को पाते हैं। मैं इस भावना को बखूबी समझ सकती हूँ। परन्तु यह साफ नहीं है कि 'उनके हाल पर छोड़ने' का अर्थ क्या है। क्या हम सीखने की सामग्री और पुस्तकें उन्हें उपलब्ध करवायें? क्या हम उन्हें पढ़ाएँ, पर केवल तब जब वे सवाल लेकर हमारे पास आएँ? क्या किताबों से घिरे रहने से बच्चे खुद-ब-खुद पढ़ना और लिखना सीख जाएँगे, उसी तरह जैसे वे भाषा-समृद्ध वातावरण में बोलना और समझना सीख लेते हैं ?

मैं सोचती हूँ कि एक समृद्ध वातावरण में बच्चे वस्तुओं तथा लोगों से अंतःक्रिया कर बहुत कुछ सीखेंगे। पर इस अनिर्देशित, अंतःप्रेरणा से सीखने की सीमाएँ होती हैं। मैं प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट करूँगी कि इन्सानों के उद्विकास ने मस्तिष्क को इस तरह नहीं गढ़ा है कि वह 'स्वाभाविक' रूप से हाई स्कूल स्तर की बीजगणित या आवर्ती पहाड़े सीख ले। उपरोक्त सर्वेक्षणों में जिस 'उच्च स्तरीय सोच-विचार' की कमी का रोना रोया गया था, उसे विकसित करने के लिए कल्पनाशील व सुस्पष्ट निर्देशों की ज़रूरत होती है। हमारा जगत इस हद तक बदल गया है कि इस प्रकार की चीज़ें सीखना सफल अनुकूलन के लिए केंद्रीय रूप से आवश्यक बन गया है। अतः हमें पढ़ाना ही होगा। हम 'अपने बच्चों को यों नहीं छोड़ सकते' कि वे जो चाहें उतना भर सीख लें; समाज की मांगों के संदर्भ में ऐसा करना, मेरे मत में गैर-ज़िम्मेदारी होगी। इस आवश्यकता को स्कूली शिक्षण कितनी अच्छी तरह हासिल कर सकता है? अगर हमें इस छानबीन में लगना है तो मस्तिष्क कैसे काम करता है इस विषय में अधिक जानना होगा।

स्मृति, सीखना, बुद्धिमत्ता, बाल विकास व मनोविज्ञान के अन्य क्षेत्र हमें तमाम ऐसी बातें बता सकते हैं जो बेहतर शिक्षक बनने में हमारी मदद करें। इन्हीं शीर्षकों से इस पुस्तक के अध्याय हमें इन विषयों में उपयोगी अंतःदृष्टि दे सकते हैं। इस पुस्तक को पढ़ते समय यह ध्यान रखें कि ये विषय जलरोधी डब्बे नहीं हैं। सीखने, स्मृति तथा बुद्धिमत्ता को एक-दूसरे से काट कर समझा नहीं जा सकता; इस तथ्य के बावजूद इन शीर्षकों से अध्याय बनाने पर यह लग सकता है कि मैं ठीक यही कर रही हूँ! सच्चाई यह है कि ये सब परस्पर संबंधित हैं। यही कारण है कि इन अध्यायों में अक्सर अन्य अध्यायों का उल्लेख होगा और लगेगा कि अध्यायों में आच्छादन है। आशा करती हूँ कि आप यदाकदा पिछले अध्यायों पर लौटेंगे, और जो हिस्से रोचक लगें उन्हें, पुनः पढ़ेंगे, क्योंकि इससे आपकी समझ और सवाल, दोनों ही पैने होंगे।

कमला वी. मुकुन्दा
मार्च, 2009

❑❑❑

आभार

इस पुस्तक के लेखन के दौरान कई लोगों के सहयोग तथा प्रोत्साहन के लिए मैं उनकी आभारी हूँ। 'विप्रो अप्लायिंग थॉट इन स्कूल्स' ने इसे संभव बनाने के लिए वित्तीय अनुदान उपलब्ध करवाया, और मैं आनंद स्वामीनाथन तथा प्रकाश अय्यर की शुक्रगुज़ार हूँ। हार्पर-कॉलिन्स की शीमा मुखर्जी को धन्यवाद, जिन्होंने संपादन के दौरान धैर्य से, बखुशी और तेज़ी से मेरे अनंत प्रश्नों का समाधान किया, तथा वी.के.कार्थिका को भी जिन्होंने मुझे उत्तेजक 'हरी झंडी' दिखाई।

वनॉर्न हॉल को धन्यवाद जिन्होंने मुझे मनोविज्ञान को समझना सिखाया, शिक्षा के विषय में सोचना सिखाया और यह भी कि कौन से सवाल पूछना उपयोगी होगा। पुस्तक का शीर्षक भौतिकशास्त्री रिचर्ड फेन्नमैन के उद्धरण से प्रेरित है, जो अपनी माँ को श्रेय देते हैं कि स्कूल से लौटने पर उनकी माँ उनसे यह प्रश्न पूछा करती थीं। राधिका नीलाकांतन, प्रतिभाशाली कलाकार, को धन्यवाद जो मेरे बायें मस्तिष्क की दाहिनी मस्तिष्क बनीं। उनके चित्रों ने इस पुस्तक के पाठ में जान फूंकी, यह उनकी अनेकों पुस्तकों में प्रथम पुस्तक है। सुमना रमणन, मेरे बचपन की सखी का आभार, जिसने मुझे सही समय पर याद करने की ज़हमत उठाई। अहल्या चारी, जो लगभग पंद्रह वर्षों से मेरी प्यारी, बुद्धिमान मित्र और दिशादर्शक रही हैं। वेणु नारायण, जिनके सहयोग पर मैं न केवल आश्रित रही हूँ, बल्कि लम्बे समय से अक्सर उसे अपना अधिकार ही माना है। देविका नारायण, जिन्होंने मेरी ओर से कई शिक्षकों से साक्षात्कार किया, और इस प्रक्रिया में बह-सी गईं। वेंकटेश ओंकार तथा किर्बी हूमिन्यूइक जिन्होंने पाण्डुलिपि के कुछ अंशों के संपादन में मदद की, तथा माइकल लिटिन जिन्होंने मुखपृष्ठ का विचार दिया। भारती प्रताप, मेरी प्रतिभावान संगी शिक्षिका का आभार जिन्होंने मेरे जीवन को समृद्ध किया। प्रोफेसर सी.शेषार्दी का आभार जिन्होंने मुझे आश्वस्त किया कि इस प्रकार की पुस्तक उपयोगी होगी, और वह धक्का भी लगाया जिसकी मुझे आवश्यकता थी।

ऊषा अरूर, संपूर्ण कार्य पर तत्काल व उदार प्रतिक्रिया के लिए आपको धन्यवाद। आपकी कदरदानी मेरे लिए बहुत अर्थ रखती है। अरविंद गुप्ता जो आप हैं उसके वह होने के लिए ऊर्जावान, उत्साही, कटिबद्ध और पारवाह करने वाले इंसान होने के लिए, शुक्रिया। जिन लोगों ने आपसे प्रेरणा ली है उस सूची में मेरा नाम भी दर्ज कर लें।

प्रोफेसर यशपाल, आपके अमूल्य परामर्श तथा उत्साहवर्धन के लिए धन्यवाद, क्योंकि आपके कथन भारतीय शिक्षा की गहन समझ और बच्चों के प्रति असीम प्रेम से उपजे हैं।

अंत में मैं इन लोगों के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना चाहूँगी : मेरे पति शशिधर, जिन्होंने मूलतः यह विचार सुझाया, मुझे उस पर विश्वास दिलवाया और वह सारा सहयोग दिया, जो इस परियोजना को पूरा करने के लिए आवश्यक था। श्रुति को सबसे प्यारी और मांग न करने वाली बच्ची होने के लिए शुक्रिया, मेरे माता पिता को धन्यवाद, जिन्होंने जीवन में मेरी छोटी से छोटी उपलब्धि की भी प्रशंसा की और चौबीस वर्ष पूर्व भौतिकशास्त्र से मनोविज्ञान में कूदने के मेरे निर्णय का समर्थन किया। मेरे दोनों पक्ष के विशाल परिवार के छह माह से लेकर तिहत्तर वर्षीय सदस्यों को उनके प्रेम, प्रोत्साहन और साथ के लिए धन्यवाद। सीएफएल परिवार को, उनकी दोस्ती के लिए मुझे स्थान देने और काम करने, असंख्य तरीकों से बढ़ने का अवसर देने के लिए धन्यवाद। मेरे छात्रों का आभार जिन्होंने मुझे ऐसे पाठ पढ़ाए जो मैं किताबों से कभी सीख नहीं पाती। कृष्णामूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया, तब के मेरे मित्रों और शिक्षकों को धन्यवाद, जिनका समर्पण भाव मुझे प्रेरित करता है।

❑❑❑

परिचय

यह किताब मुख्यतः शिक्षकों के लिए है, पर उन सबके लिए भी है जो बच्चों के करीबी संपर्क में रहते हैं। एक शिक्षिका के रूप में मैं अक्सर अपने छात्रों की सीख पाने की क्षमताओं तथा भावनात्मक स्थिति पर सोचती हूँ। किसी एक छात्र को कोई एक विषय खासतौर से कठिन लगता है, दूसरा प्रेरणाशून्य रहता है, तीसरी छात्रा अपनी संभावनाओं के अनुरूप कार्य-प्रदर्शन नहीं कर पाती, तो चौथे का ध्यान भटकता रहता है। कभी हम इन मुद्दों को संतोषजनक रूप से सलटा लेते हैं ताकि काम आगे बढ़ा सकें, परन्तु अक्सर वे अनसुलझे ही लटके-से रहते हैं। दरअसल शिक्षक के रोज़मर्रा के काम से उभरने वाले प्रश्न गहरे और बुनियादी होते हैं, जिनके व्यापक निहितार्थ हों, और कई तो ऐसे जिनके कोई ज्ञात जवाब भी न हों। फिर भी हरेक चाहता है कि उसे उसके प्रश्नों के उत्तर मिलें; और शिक्षक भी भिन्न नहीं हैं! हम अपने अनुभव और अध्ययन से सीख कर, बाल विकास, उत्प्रेरणा, बुद्धि, नैतिकता, भावनात्मक स्वास्थ्य तथा अध्यापन के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों पर अपने-अपने निष्कर्ष निकालते हैं और अपनी निजी मान्यताएँ गढ़ते हैं। और इन्हीं विश्वासों के आधार पर हम काम करते हैं।

किसी शिक्षक की मान्यताएँ तथा उसके बोध, अक्सर बेहद मज़बूत होते हैं। ऐसा शायद इसलिए होता है क्योंकि हमारी मान्यताएँ घटनाओं की हमारी व्याख्याओं को व्यवस्थित करती चलती हैं, अतः हम जिधर भी देखें हमें केवल उन मान्यताओं की पुष्टि ही मिलती है। कई शिक्षकों की ऐसी मान्यताएँ भी होती हैं जिन्हें उन्होंने कभी शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया होगा, किन्तु फिर भी शिक्षकों का उनमें दृढ़ विश्वास होता है। मेरे अपने शब्दों में प्रस्तुत किए गए चंद उदाहरण, आपको यह समझा सकेंगे कि आखिर मैं कह क्या रही हूँ।

- जनसंख्या में बुद्धिमत्ता समान रूप से बंटी नहीं होती है।
- सीखना हमेशा मज़ेदार होना चाहिए।
- स्कूल लक्ष्य का साधन है।
- कक्षा में वैविध्य एक समस्या है।
- बच्चों को स्वतंत्र विचारक बनना सिखाना चाहिए।

- बच्चों को वयस्कों की तरह सोचना सीखना चाहिए।
- कोई भी कुछ भी सीख सकता है।
- बच्चों को असली दुनिया में माफिक बैठना सीखना चाहिए।
- बच्चे अपनी ही गति से सबसे अच्छी तरह सीखते हैं।

शिक्षकों के रूप में ऐसी मान्यताएँ होने के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर बखाना ही नहीं जा सकता। आप देख ही सकते हैं कि इनमें से प्रत्येक कथन से कुछ निर्णय और ढाँचे उपजते हैं। आप कह सकते हैं कि अगर हमारी मान्यताएँ 'सत्य' हों तो हमारे कर्म भी 'सही' होंगे। परन्तु जब बात शिक्षा और सीखने से जुड़ी हो तो पूर्णतः सत्य कथन अधिक नहीं होंगे। किसी भी दृढ़ विश्वास में इतनी ताकत होती है कि वह हमें शिक्षकों के रूप में अनम्य और गैर-लचीला बना डाले, जो किसी विशेष परिस्थिति में किसी बालक विशेष की स्थिति के प्रति हमें असंवेदनशील बना सकता है। बारीकी से देखने पर, खासतौर से ऊपर दिए गए सभी उदाहरण बेहद पेचीदा बन जाते हैं, और उनकी सत्यता को आसानी से स्थापित नहीं किया जा सकता। यह अनुभूति दरअसल मुक्त करने वाली है। यह हमें परिस्थितियों को विभिन्न नज़रियों से देखने, दृढ़ विश्वासों पर सवाल उठाने, उम्मीदों और विचलनों को देखने, और अपने अभिगम में लचीला बनने को आज़ाद करती है। आवश्यकता सोच-विचार करने के लिए समय और स्थान की, अपने नज़रियों तथा शिक्षकों के रूप में स्वयं पर प्रश्न उठाने की है।

जो शिक्षक सिखाने-सीखने की प्रक्रिया पर चिंतन कर सकता है उसका नज़रिया शिक्षा के प्रति स्वाभाविक रूप से खोजी व जिज्ञासा द्वारा निर्देशित होता है। यह नज़रिया मूलतः वैज्ञानिक है, ऐसा जो मनोविज्ञान की वैज्ञानिक विधियों में बड़ी सुंदरता से माफिक बैठता है। मनोविज्ञान का क्षेत्र उन सभी विषयों का अध्ययन करता है जो हमारे काम में केंद्रीय हैं : सीखना, स्मृति, बुद्धिमत्ता, उत्प्रेरण, बाल विकास तथा भावनात्मक स्वास्थ्य। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हैं, उन्हें जाँचते हैं, तथा परिष्कृत करते हैं। उनके लिए कोई भी एक सिद्धान्त कभी भी पूरी तरह तथा सर्वथा सत्य नहीं होता -- चाहे वह गैर-मनोवैज्ञानिकों में कितनी भी लोकप्रिय क्यों न हो! प्रत्येक मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण की अपनी चेतावनियाँ, शर्तें तथा आलोचनाएँ होती हैं। इसलिए शिक्षकों के रूप में हमारी अपनी मान्यताओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने में, चौकन्ना रहने में मनोवैज्ञानिकों के काम को समझना हमारी मदद कर सकता है। हम पाते हैं कि सत्य हमेशा सूक्ष्म, और पेचीदा होता है, तथा उसे सफल शिक्षकों के लिए युक्तियों, के रूप में पेश नहीं किया जा सकता। मेरे लिए यही मनोविज्ञान की खूबसूरती है और शिक्षा के लिए उसका सबसे सशक्त योगदान भी।

इससे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि मनोविज्ञान का अध्ययन हमें अपने 'छोटे' सवालों को (जो

हमारे किसी छात्र या कक्षा विशेष के बारे में हों) उठा कर, उन्हें अधिक बड़ी व सघन मनोवैज्ञानिक बहस के शाश्वत प्रश्नों में फिट बैठाने में भी मदद करता है। 'उसे यह याद क्यों नहीं है ?' का सवाल हमें स्मृति दरअसल है किस बारे में?, तक ले जाता है; 'क्या उसमें यह क्षमता है?' से प्रारंभ कर 'हम पैदा किन क्षमताओं के साथ होते हैं?' के सवाल तक पहुँच पाते हैं, जो दरअसल छोटे-छोटे चरण हैं। शिक्षकों के रूप में अपने काम तथा व्यापक सामाजिक तथा दार्शनिक मुद्दों के बीच जुड़ाव देखना उत्तेजक है। यह हमें स्मरण करवाता है कि इंसान होने के केंद्र में अध्यापन ही है।

कुछ स्पष्टीकरण

इस पुस्तक में मैंने शिक्षा से ताल्लुक रखने वाले प्रमुख मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों में समसामयिक शोध का सार-संक्षेप प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। बेशक 'समसामयिक' एक सापेक्ष शब्द है! जिन शोधों की यहाँ समीक्षा की गई है, वह दरअसल पिछले कई दशकों में हुई है, फिर भी अधिकांश गत दस या पंद्रह वर्ष पहले के हैं। इन शोधों पर जो आलेख हैं वे पेशेवर मनोवैज्ञानिक पत्रिकाओं में छपे थे। अतः भारतीय पाठकों की उन तक सीमित पहुंच है, तब भी जब वे इंटरनेट का उपयोग कर रहे हों। इसके बावजूद मैंने इस पुस्तक के अध्यायों के लिए जो कुछ भी पढ़ा, उसमें हरेक आलेख को सूचीबद्ध किया है, उन पाठकों के लिए जो उनमें से किसी भी लेख को तलाशना चाहें। कई लेखों के लिए मैंने लेखकों से संपर्क किया और डाक से उनकी प्रतियाँ मंगवाईं। लगभग बिना किसी अपवाद के प्रत्येक अनुरोध पर लेखकों ने सदाशयता के साथ त्वरित प्रतिक्रिया की। मैं उन सबकी आभारी हूँ।

जिस तरह के शोध को शामिल किया गया है उस बारे में कुछ बातें स्पष्ट करने की आवश्यकता है। शुरुआत मैं उस सबसे ज़ाहिर विचार से करती हूँ, जो भारतीय संदर्भ में पाठक के दिमाग से सबसे पहले उठता है *: अगर यह शोध पश्चिम में किया गया है, तो क्या यह हमारी परिस्थिति में वास्तव में प्रासंगिक है?* इस परियोजना को पूरा करने में मुझे जो दो वर्ष लगे उस दरमियान में इस अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को और भी पैना कर सकी।

मैंने भारत में, भारतीय संभागियों पर किए गए मनौवैज्ञानिक शोध को शामिल करने की कोशिश भी की। हालाँकि मुझे कुछ ऐसे शोध मिले भी परन्तु वह भारतीय शिक्षा के समूचे मनोविज्ञान को गढ़ने के लिए पर्याप्त नहीं थे। भारत में मनोवैज्ञानिक शोध की स्थिति का कई विद्वानों ने अध्ययन किया है तथा उस टिप्पणी भी की है। मैंने पाया कि निहारिका वोहरा[1] का हालिया सर्वेक्षण सर्वाधिक जानकारियों से भरपूर है। वे भारत में मनोवैज्ञानिक शोध के स्वदेशीकरण के तीन रास्तों का वर्णन करती हैं। एक रास्ता तो हमारे निजी सांस्कृतिक स्पष्टीकरणों के बीच से होकर मनोवैज्ञानिक परिघटनाओं तक

जाता है। उदाहरण के लिए, अवसाद तथा चिंता पर योग के प्रभाव पर कुछ अध्ययन हुए हैं; या फिर हिन्दू सांख्य दर्शन पर आधारित त्रिआयामी व्यक्तित्व सिद्धान्त पर अध्ययन किए गए हैं। परन्तु यह अभिगम अधिक लोकप्रिय नहीं हैं क्योंकि भारतीयों में बेहद सांस्कृतिक विविधता है। दूसरा रास्ता जो अधिक लोकप्रिय है, वह भारतीय वास्तविकताओं -- जैसे गरीबी, भीड़भाड़ तथा लिंग अंतरों को -- मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बनाना है। तीसरा रास्ता है पाश्चात्य सिद्धान्तों तथा अवधारणाओं को भारतीय संदर्भों में जाँचने का। कई सालों तक इसका अर्थ पाश्यात्य निष्कर्षों की नकल से अधिक नहीं रहा है। परन्तु हाल ही में इस प्रकार के अधिक कल्पनाशील तथा मौलिक अध्ययन भी हुए हैं। इन प्रयासों की संख्या का कुछ अनुमान आपको हो सके, इसलिए बता दें कि वोहरा ने पाया कि भारतीय पत्रिकाओं में 1998 से 2002 के बीच छपे कुल 1,895 प्रयोगाश्रित प्रकाशित मनोवैज्ञानिक आलेखों में 26 प्रतिशत आलेख ऐसे थे जिन्हें किसी न किसी रूप में देशज कहा जा सकता था। इनमें से 12 आलेखों में पहला रास्ता अख्तियार किया गया था, 394 दूसरे रास्ते के थे और 85 में तीसरा रास्ता अपनाया गया था। अगर हमारा लक्ष्य भारत में पूर्णतः स्वायत्त वैज्ञानिक मनोविज्ञान है, तो हम उस दिशा में काफी धीमी गति से बढ़ रहे हैं। इस प्रक्रिया को बढ़ाने में सहायक बनने के लिए हमें कुछ अच्छी पत्रिकाओं, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक संघों तथा वोहरा के शब्दों में '...परिपक्व शोधकर्ताओं के क्रांतिक द्रव्यमान (क्रिटिकल मास) की' आवश्यकता है, जो राष्ट्रीय रुचि के विषयों तथा भारतीय संदर्भ में प्रासंगिक समस्याओं की पहचान कर सकें।'

इस बीच पाश्चात्य मनोविज्ञान का क्षेत्र हमें अनेकों अंतर्दृष्टियाँ उपलब्ध करवाता है। बेशक इनमें सांस्कृतिक अंतर मौजूद हैं। हमारे विशिष्ट विश्वास तथा अभ्यास पाश्चात्य लोगों से बहुत भिन्न हैं। फिर भी चिंतन (थॉट) तथा सीखने (बोध) की *तंत्र* समान ही होते हैं। मनोवैज्ञानिक शोध के कुछ निष्कर्षों पर सांस्कृतिक प्रभाव अधिक होता है, तो कुछ पर कम।[2] इन निष्कर्षों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं उनके निहितार्थ जो भारत में शिक्षकों के रूप में हमारे लिए वे प्रस्तुत करते हैं। मैंने पाया कि मैं अमूमन इन निहितार्थों से आसानी से बहुत कुछ निकाल सकती थी।

---

1. निहारिका वोहरा (2004) 'द इन्डिजनाइज़ेशन ऑव साइकॉलजी इन इण्डिया : इटस् यूनिक फॉर्म एण्ड प्रोग्रेस', जो बी. एन. सेतियादी, ए. सुप्रतीकन्या, डब्ल्यू, जे. लोनेर तथा वाय. एच. पूर्तिलिंगा (संपादित) *ऑनगोइंग थीम्स् इन साइकॉलजी एण्ड कल्चर* (ऑनलाइन एडिशन), मेलबर्न, एफएलः इन्टरनेशनल एसोसिएशन फॉर क्रॉस कल्चरल साइकॉलजी। जो http://www.iaccp.org से लिया गया है।

2. इस विषय पर 2005 में छपे आरा नॉरिंज़यान तथा स्टीवन जे. हाइन के आलेख 'साइकोलॉजिकल यूनिवर्सल्स : व्हॉट आर दे एण्ड हाऊ कैन वी नो?' *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-131, संख्या-5: 763-784, में इस पर बढ़िया चर्चा मिलेगी।

कोई पाठक यह भी पूछ सकता है कि इस पुस्तक के विषय कैसे चुने गए। शैक्षणिक मनोविज्ञान की परंपरागत पाठ्यपुस्तकों की तरह इस किताब में मनोविज्ञान के इतिहास, उसकी विधियों या विभिन्न विचारधाराओं का विस्तृत वर्णन नहीं है। परंपरागत रूप से पसंद किए जाने वाले मनोवैज्ञानिकों (उदाहरण के लिए, पियाज़े या वायगोत्सकी के सिद्धान्त) की विस्तृत या गहन चर्चा नहीं की गई है। बाज़ार में ऐसी कई श्रेष्ठ पुस्तकें उपलब्ध हैं, जिन्होंने ठीक यही काम किया है, पर रुचि रखने वाली शिक्षिकाओं/शिक्षकों को सिद्धान्त तथा अभ्यास के बीच स्वयं जुड़ाव स्थापित करना पड़ता है, और ये कड़ियाँ अक्सर साफ-साफ ज़ाहिर भी नहीं होतीं। इस पुस्तक की परिकल्पना करते समय मैंने दरअसल दूसरे छोर से शुरुआत की। मैंने पहले कई ऐसे मुद्दों की सूची बनाई जो शिक्षकों को सबसे रोचक या उलझन पैदा करने वाले लगते थे। ये मुद्दे साथी शिक्षकों से हुई तमाम चर्चाओं तथा एक शिक्षक रूप में लगभग दो दशकों तक काम करते समय उठे मेरे निजी सवालों से निकले हैं। प्रत्येक विषय पर मैंने अब तक उपलब्ध मनोवैज्ञानिक साहित्य को इकट्ठा किया और इस प्रकार व्यवस्थित किया जो मुझे प्रासंगिक, जानकारी देने वाला, और पढ़ने में आनंददायक लगे।

शिक्षा के लिए प्रासंगिक इस आश्चर्यजनक रूप से समृद्ध साहित्य की छानबीन करते समय मैंने एक निर्णय लिया, जिस पर मुझे पछतावा करने का कोई कारण कभी नहीं मिला। कुछ मनोवैज्ञानिक पशुओं (कुत्तों, बिल्लियों, बंदरों, चूहों और कबूतरों) के साथ काफी काम करते हैं। हालाँकि मैं उनके काम की पटुता की प्रशंसक हूँ, यह सच्चाई बनी रहती है कि इन पशु-पक्षियों को पीड़ादायक स्थितियाँ झेलनी पड़ती है। मैं पशुओं पर किए गए अध्ययनों को छोड़ना चाहती थी और इस तथ्य से खुश हुई कि मैं जिन परिघटनाओं का वर्णन करना चाहती थी, उनका अध्ययन इंसानों के साथ भी किया गया है, वह भी उस तरीके से जो पर्याप्त रूप से नैतिक हों और मेरे लिए स्वीकार्य। सो इस पुस्तक में भूल-भुलैया में दौड़ते परिचित चूहों के बारे में आप नहीं पढ़ेंगे।

इस पुस्तक की योजना बनाते समय मुझे कई लोगों ने कहा (शिक्षक व गैर-शिक्षकों दोनों ने समान रूप से) 'पर शिक्षक तो पढ़ते ही नहीं है!' हालाँकि यह सच है कि स्कूल के लम्बे घंटों के बाद शिक्षकों को निजी स्तर पर पढ़ने का समय बहुत ही कम मिल पाता है, फिर भी यह कहना अतिशयोक्ति होगा कि वे कतई पढ़ते ही नहीं हैं। शिक्षा तथा अन्य व्यापक मुद्दों पर पढ़ने का समय निकालना ही नौकरी के रूप में अध्यापन करने और एक सार्थक व उत्तेजक पेशे के रूप में पढ़ाने के बीच फर्क करता है। अतः यह पुस्तक आपके लिए, व्यस्त शिक्षक के लिए है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि आप अपने अंतस में सीखने की आत्मा की लौ जगाए रखना चाहते हैं।

❑❑❑

अध्याय एक

मस्तिष्क, उद्विकास तथा स्कूली शिक्षा

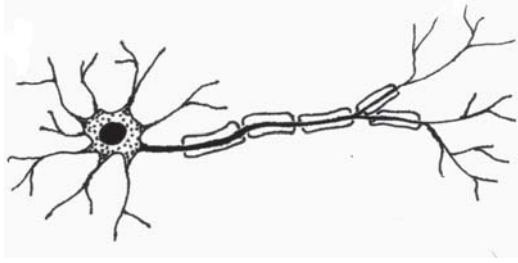

मस्तिष्क की संरचना की बुनियादी बातें हममें से अधिकांश हाईस्कूल में ही सीख लेते हैं। हम जानते हैं कि मस्तिष्क उन खास कोशिकाओं से बना होता है जो न्यूरॉन (स्नायु कोशिका) कहलाती हैं और विद्युत संवेगों के रूप में सूचना प्रसारित करती हैं। दरअसल ये स्नायु कोशिकाएं पूरे शरीर में फैली होती हैं और मस्तिष्क *तक* संवेदन पहुँचाती हैं और मस्तिष्क के संदेशों को शरीर के विभिन्न भागों *तक* पहुँचाती हैं। परन्तु मस्तिष्क में स्थित दस खरब स्नायु कोशिकाओं का आंतरिक कार्य एक सम्मोहक रहस्य है। जिन तौर-तरीकों को हमने अब तक समझना प्रारंभ किया भर है, उनसे ये न्यूरॉन ध्यान, प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृति, तर्क शक्ति, बुद्धिमत्ता तथा रचनात्मकता को जन्म देते हैं। है ना बड़ी भारी उपलब्धि!

संरचना एवं क्रियाकलाप

मान लीजिए आप यह जानना चाहते हों कि कोई पेचीदा मशीन कैसे काम करती है, तो आप उसे खोल कर उसके अंदरूनी कार्यों को करीब से जाँच सकते हैं। यह तरीका घड़ियों, दोपहिया साइकिलों और मोटरगाड़ियों में कारगर होता है -- पर मानव मस्तिष्क का मामला कुछ कठिन है। जब आप गाड़ी का बोनट खोलते हैं तो आसानी से अंदर के कई हिस्सों को पहचान लेते हैं, चाहे आप उनके नाम और काम से परिचित न हों, तो भी। पर मस्तिष्क को देखने पर उसके विभाजनों को देख पाना मुश्किल है। पहली नज़र में तो वह एक ठोस पुंज-सा लगता है; बारीकी से जाँचने पर वे आकार और संरचनाएँ नज़र आती हैं जिन्हें हम दिमाग के 'हिस्से' कह सकते हैं।

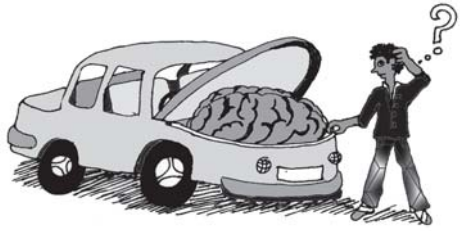

ठीक मोटरगाड़ी की ही तरह, हम उम्मीद यह रखते हैं कि मस्तिष्क के अलग-अलग हिस्सों के भिन्न-भिन्न कार्य होंगे, और यह बात काफी हद तक सच भी है। मस्तिष्क के कुछ हिस्से उद्विकासीय अर्थ में अधिक पुराने हैं; अर्थात् ये अन्य पशुओं में भी, मय सरीसृपों तथा मछलियों के, पाए जाते हैं। इनके नाम *कॉर्पस कैलोसम* (महासंयोजक पिंड), *बेसल गैंगलिया* (आधारिक गंडिका), *मेड्यूला* (अंतस्था) तथा *सेरेबेलम* (अनुमस्तिष्क) जैसे हैं। ये जो काम करते हैं, उनमें प्रतिवर्ती क्रिया (रिफ्लेक्स), श्वास तथा हृदयागति का नियमन, सूक्ष्म तथा स्थूल संचलनों का समन्वयन, नींद तथा भूख के चक्रों का नियामन और अन्य कई काम भी शामिल हैं।

मस्तिष्क का एक बड़ा भाग है उसका बाह्य आवरण जिसे **नीओकोर्टेक्स** (नववल्कुट) कहते हैं। यह तीन मिलीमीटर मोटी, झुर्रीदार, ऊतकों का धूसर पिंड है, जो खास उत्तेजक नहीं लगता। पर यही हमारा तथाकथित 'उच्चतर' मस्तिष्क है; जो हमें अन्य पशुओं से भिन्न बनाता है। शिक्षकों के रूप में हम अपने छात्रों से स्कूल में जो कुछ करवाना चाहते हैं -- समझना, याद रखना, सह-संबंध जोड़ना, संप्रेषण करना, अनुमान लगाना, समस्या समाधान करना और खोजना -- ये सभी काम इस नववल्कुट द्वारा संपादित होते हैं। हमारे शरीर के अनुपात में हम मानवों का मस्तिष्क ही शेष पशुओं से अधिक बड़ा होता है, और आकार में यह वृद्धि इस बढ़े हुए नववल्कुट के कारण ही होती है। नीचे दी गई आकृतियाँ मस्तिष्क के आंतरिक तथा बाहरी स्वरूप को दर्शाती हैं।

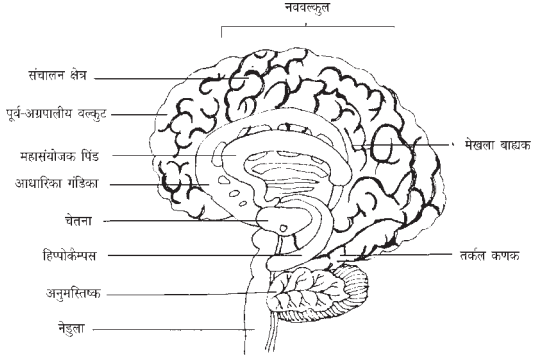

मनोवैज्ञानिकों ने मस्तिष्क के विभिन्नभागों के नामों वाले ऐसे चित्र बनाना जिन तरीकों से सीखा, उनमें एक था उन रोगियों का अध्ययन जिनके मस्तिष्क क्षतिग्रस्त हो गए थे। मस्तिष्क को पहुँचे नुक्सान को कुछ खास (कभी-कभार अजीबोगरीब) लक्षणों से जोड़ा जा सकता है। दूसरे शब्दों हमें हम यह मान सकते हैं कि मस्तिष्क का एक खास हिस्सा उस खो गए या क्षतिग्रस्त कार्य के लिए ज़िम्मेदार था। पहले केवल रोगी की मृत्यु के बाद शव-परीक्षा से ही यह पता लगाना संभव था कि नुक्सान मस्तिष्क के किस हिस्से में हुआ है। परन्तु आज मस्तिष्क को स्कैन करने की तकनीकें हमें उस नुक्सान के चित्र तत्काल उपलब्ध करवा देती हैं। सच तो यह है कि जैसे-जैसे स्कैनिंग तकनीक में सुधार आ रहा है, मनोवैज्ञानिक सामान्य क्रियाशील मस्तिष्क तक को 'देख' सकते हैं।

तकरीबन एक शताब्दी से भी अधिक समय से इस प्रकार की शोध के कारण हम अब काफी अच्छी तरह समझने लगे हैं कि मस्तिष्क में कार्यों का विभाजन किस तरह से है। उदाहरण के लिए हम जो कुछ देखते हैं, उसको हमारे मस्तिष्क का निचला पिछला हिस्सा प्रसंस्कृत (प्रोसेस) करता है, और हम सब (कुछ अपवादों के साथ) भाषा को मस्तिष्क के उस हिस्से में प्रसंस्कृत करते हैं जो हमारे बायें कान के पीछे और उसके गिर्द है। हम शारीरिक संवेगों को मस्तिष्क के ऊपर की संकरी पट्टी में प्रसंस्कृत करते हैं, और उसी के सामने वाली समांतर पट्टी से हमारी मांसपेशियों को निर्देश भेजते हैं। हम सब अपनी नई स्मृतियों को प्रसंस्कृत कर मस्तिष्क के केंद्र में बनी एक छोटी संरचना में रखते हैं जिसे हम हिप्पोकैम्पस कहते हैं।

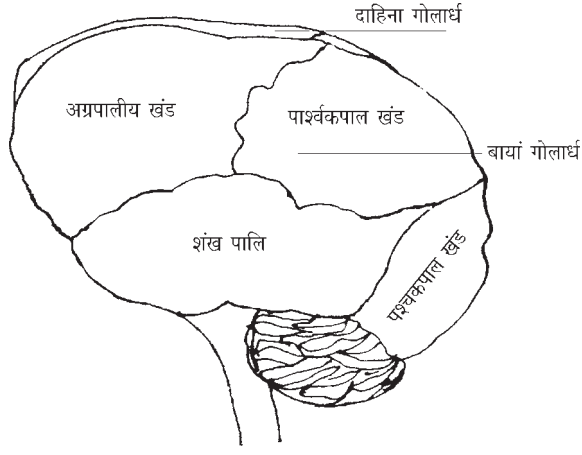

मस्तिष्क के इन 'भागों' का और बारीकी से उप-विभाजन किया जा सकता है : उदाहरण के लिए पढ़ना और लिखना वाचा और समझ से भिन्न स्थानों पर स्थित हैं। अर्थों

(शब्दार्थ विश्लेषण) तथा व्याकरण (वाक्य विन्यास) को प्रसंस्कृत करने के अलग-अलग भाग हैं। यह हम इसलिए जानते हैं क्योंकि ऐसे रोगी हैं जिनके मस्तिष्क का एक क्षेत्र क्षतिग्रस्त है और वे तेज़ी से, धाराप्रवाह, व्याकरण के दृष्टि से सही पर निरर्थक प्रलाप करते हैं। इसके विपरीत ऐसे रोगी भी हैं जिनके मस्तिष्क के किसी दूसरे हिस्से को चोट पहुँची है, जो अटक-अटक कर, व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध बोलते हैं, पर जिनके कहे का अर्थ संप्रेषित होता है। इससे भी बारीक विभाजन हैं : कुछ रोगियों को जीवित वस्तुओं तथा भोजन के नाम याद करने में परेशानी होती है, पर परिचित वस्तुओं के नाम में नहीं। जबकि अन्य रोगी सभी चीजों के नाम असनी से बता पाते हैं सिवाय जीवित वस्तुओं और भोजन के (बॉक्स-1 में विभिन्न हिस्सों का समन्वयन कौन करता है, यह बताया गया है)।

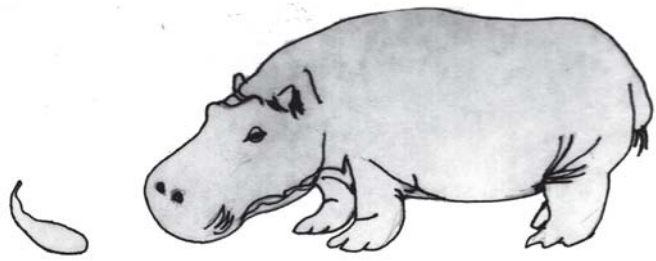

हिप्पोकैम्पस

हिप्पोकैम्पस से मिलें, यह मस्तिष्क के मध्य में एक नन्हीं-सी सम्मोहक संरचना है जो 'नई स्मृतियाँ बनाने' के लिए ज़िम्मेदार है। हाल में यह सीखने और स्मृति निर्माण संबंधी उत्तेजक नई शोध के ध्यान-केंद्र में है। मस्तिष्क के इस भाग के विषय में हमारा प्रारंभिक ज्ञान उन रोगियों से प्राप्त हुआ था जिनका हिप्पोकैम्पस और इसके आस-पास के हिस्से क्षतिग्रस्त हो गए थे। इन सबको मिलाकर 'हिप्पोकैम्पस प्रणाली' कहते हैं। ऐसे रोगी बात को एक से दूसरे पल में भूल जाते हैं : यही वह विख्यात 'अल्पकालिक स्मृति' का खोना है। ये रोगी नए अनुभवों को स्थाई स्मृति में तब्दील ही नहीं कर पाते। आप जितनी बार भी उनसे मिलें, वे आपका ऐसे अभिवादन करेंगे मानो वे पहली बार मिल रहे हों -- फिर चाहे आप उनसे पाँच मिनट पहले ही क्यों न मिले हों। इसके बावजूद उनकी 'पुरानी या दूरस्थ स्मृतियाँ' बनी रहती हैं, जो वे तमाम बातें हैं जिन्हें एक बिन्दु तक उन्होंने सीखी या अनुभव की हों। क्योंकि वे नई चीज़ें सीखने और याद करने में अक्षम होते हैं वे एक तरह से उसी बिन्दु पर अटक-से जाते हैं। यह उन्हें स्मृति-लोप वाले रोगियों से भी अधिक असमर्थ बनाता है, जो कम से कम अपना जीवन फिर से शुरू तो कर सकते हैं।

यहाँ एक रोचक भेद करना ज़रूरी है। हिप्पोकैम्पल क्षति **प्रत्यक्ष** (एक्सप्लिसिट) सीखने

को प्रभावित करती है पर **अंतर्निहित** (इम्प्लिसिट) सीखने को नहीं। ऐसे रोगी बारंबार अभ्यास से नए कौशल सीख सकते हैं (अंतर्निहित सीखना)। उदाहरण के लिए अगर आप ऐसे रोगी को सप्ताह भर तक हर दिन स्कूटर चलाना सिखाएँ, तो वह उसकी सवारी कर सकेगा। परन्तु उसे सीखने की प्रक्रिया की कोई याद नहीं होगी और उसे सप्ताह भर बाद इतनी अच्छी तरह स्कूटर चला पाने पर अचरज होगा। वह नए तथ्य, नए विचार सीख नहीं सकता, ना ही वह नए लोगों से मिल उनसे परिचित हो सकता है (प्रत्यक्ष सीखना)। अतः लगता है कि हिप्पोकैम्पस ही उन स्मृतियों को स्थापित करता है, जिन्हें हम सचेतन रूप से याद कर पाते हैं और मौखिक रूप से अभिव्यक्त कर पाते हैं। ये स्मृतियाँ चीज़ों, तथ्यों तथा संदर्भों के बीच नए अंतर्संबंधों से बनी होती हैं।

हिप्पोकैम्पस इस अर्थ में अनूठा है कि वह इन अंतर्संबंधों को बड़ी तेज़ी दर्ज कर लेता है, एक बार उनका अनुभव पाते ही। यह बात मस्तिष्क के दूसरे हिस्सों से भिन्न है जिन्हें कई बार परिचित होने व परीक्षण अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है। समय गुज़रने के साथ हिप्पोकैम्पस में जो अंतर्संबंध होते हैं वे नववल्कुट में एक अधिक स्थाई स्थान पर 'स्थानान्तरित' कर दिए जाते हैं, और इस प्रक्रिया में वे हिप्पोकैम्पस से गायब हो जाते हैं। अतः अगर चोट हिप्पोकैम्पस को पहुँचे और नववल्कुट को नहीं, तो हालिया स्मृति को नुक्सान पहुँचाता है परन्तु पहले की स्मृतियाँ अप्रभावित रहती हैं।

हिप्पोकैम्पस जिस अनोखे तरीके से काम करता है, संवेगों की अनुक्रिया में लगातार सह-संबंध बनाना और उनके नववल्कुट में स्थानान्तरित होने के बाद उन्हें हिप्पोकैम्पस में नष्ट करते जाना, वह यह सुझाता है कि वह मस्तिष्क के अन्य भागों से भिन्न है। माना यह जाता है कि शेष शरीर की कोशिकाओं की तरह न्यूरॉन (स्नायु कोशिकाएं) न तो पुनरुज्जीवित होती हैं ना ही स्वयं को बदलती हैं। यह बात कमोबेश सच है सिवाय हिप्पोकैम्पस के! हालिया शोध ने दर्शाया है कि मस्तिष्क के इस क्षेत्र में वयस्कावस्था में भी न्यूरॉन उत्पन्न होते हैं (जिसे **एडल्ट न्यूरोजेनेसिस** कहा जाता है)। संभव है कि हिप्पोकैम्पस का विशिष्ट कार्य इसे आवश्यक बनाता हो; नए अनुभवों को दर्ज करने के लिए नए न्यूरॉन उत्पन्न होते हैं, और समय के साथ स्मृति जब मस्तिष्क के अधिक स्थाई स्नायु संजाल (न्यूरल नेटवर्क) में स्थानान्तरित हो जाती है, तो उसके बाद वे नष्ट हो जाते हैं। यह रोचक कथा आगे और भी चलती है। हिप्पोकैम्पस में न्यूरोजेनेसिस के कम होने के घटक भला आपको कौन-से लगते हैं? वृद्ध होने की सामान्य प्रक्रिया के अलावा इसमें सबसे बड़ा अपराधी है सतत रहने वाला तनाव तथा शरीर में ग्लूकोकोर्टिकॉइडस (एक रसायन जो तनाव की प्रतिक्रिया स्वरूप निकलता है) का उत्पादन। अध्ययनों ने सुझाया है कि लगातार बने रहने वाला तनाव इंसानों की याद्दाश्त क्षमता को कमज़ोर बनाता है। हालाँकि यह शोध नया और अंतरिम है, फिर भी शायद यह ऐसा खास कुछ नहीं बताता, जो

बॉक्स 1

बॉस कौन है?

मस्तिष्क को अगर सूक्ष्मदर्शी यंत्र से देखा जाए तो गतिविधि और पेचीदगी की दुनिया उभरती है। मस्तिष्क के समूचे पिंड में तकरीबन दस-खरब स्नायु कोशिकाएँ (न्यूरॉन) होती हैं, जो विद्युत-रासायनिक प्रतिक्रियाओं के आधार पर काम करती हैं। स्नायु-संचारक (न्यूरोट्रांसमिटर्स) कहलाने वाले रसायन ऐसे विद्युत संवेगों को उत्पन्न करते हैं जो स्नायु कोशिका की पूरी दूरी तक जाते हैं और स्वयं को नन्हे अंतरालों, जिन्हें सूत्रयुग्मन (सिनैप्सेस) कहा जाता है, पर स्थित अन्य स्नायु कोशिकाओं तक पहुँचाते हैं (यह काम भी स्नायु संचारकों की मदद से किया जाता है)। बाहर से संदेश इंद्रियों द्वारा मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं और मस्तिष्क से निकल कर हमारे हाथ-पैरों व अन्य अंगों तक जाते हैं ताकि हम कोई कृत्य कर सकें या अनुक्रिया कर सकें। मस्तिष्क में आड़े-तिरछे आने-जाने वाले संदेशों की संख्या तेज़ी से बढ़ती है, क्योंकि प्रत्येक स्नायु कोशिका हज़ारों अन्य स्नायु कोशिकाओं से जुड़ी होती है।

जैसे-जैसे हम मस्तिष्क के क्रिया-कलाप की गुत्थी सुलझाने लगते हैं, एक सवाल बार-बार उठता है : इसका नियंत्रक कौन है?, और नियंत्रण केंद्र भला कहाँ है? शोध से पता लगा है कि मस्तिष्क में असल में काई मुख्य कार्यकारी अधिकारी (सीईओ) नहीं है। मस्तिष्क का कार्य स्नायु कोशिकाओं के सतत् बदलने वाले अंतर्संबंधों के अलावा कुछ नहीं है। और ऐसी कोई एक स्नायु कोशिका या उनका कोई एक समूह नहीं है, जो शेष से अधिक 'चतुर' हो।

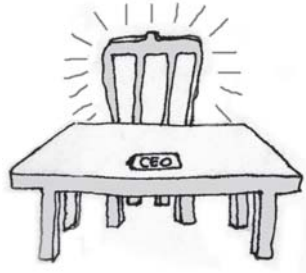

अर्थात् बॉस कहीं नहीं है -- या हर कहीं है। मस्तिष्क एक खास तरीके से काम करता है जिसे समांतर वितरित प्रसंस्करण (पैरेलल डिस्ट्रिब्यूटेड प्रोसेसिंग) कहते हैं। पहली बात, स्मृति, विचार, तथा ज्ञान नववल्कुट में व्यापक रूप से वितरित होते हैं। दूसरी बात, मस्तिष्क में प्रसंस्करण का काम क्रमिक तरीके से होने के बदले समानांतर रूप से होता है। उदाहरण के लिए किसी विशेष विचार-क्रम को सक्रिय करने के लिए, मस्तिष्क के विभिन्न हिस्सों में कई हजार स्नायु कोशिकाएँ एक साथ ही काम करती हैं। अगर प्रसंस्करण का काम एक क्रम में होता, तो फिर संदेशों को एक से दूसरी स्नायु-कोशिका

में एक क्रम में चलना पड़ता। ऐसे में किसी 'जल्दी से उभरे विचार' में भी काफी समय लगता। निश्चित रूप से इतना समय होता ही नहीं है कि सारी सूचनाएँ किसी केंद्रीय स्थान तक पहुँचें और तब जाकर कोई निर्णय लिया जाए या किसी काम को अंजाम दिया जाए। स्नायु-कोशिकाओं को दागने की क्रिया धीमी होती है (जो प्रति सैकंड 1 से 100 मीटर होती है!) और हमारे सोचने और क्रिया करने की रफ्तार बेहद तेज़ होती है, पलांश भर की। यह साफ करता है कि मस्तिष्क में प्रसंस्करण का काम क्रमवार हो ही नहीं सकता।

फिर भी यह सच है कि हमें यह लगता है कि मानो कोई प्रभारी है -- और हममें से अधिकांश अपने दिमाग में किसी को चिह्नित भी करते हैं। कुछ काम जिनमें हमें इच्छाशक्ति की आवश्यकता पड़ती है -- स्वैच्छिक ध्यानाकर्षण प्रक्रियाएँ (बॉलेंट्री अटेंशनल प्रोसेसेस्) -- का संबंध मस्तिष्क के उस क्षेत्र से होता है जिसे सिंग्युलेट कोर्टेक्स (मेखला बाह्यक) कहा जाता है। जब भी हम उपलब्ध पुरानी स्मृति को तलाशते हैं, जानबूझकर किसी सूचना को भण्डारित करने के लिए चुनते हैं, किसी भावात्मक अनुक्रिया को सायास दबाते हैं, या विचारों का दमन करते हैं, तब हमारे मस्तिष्क का यह छोटा-सा खास हिस्सा सक्रिय होता है।

हम पहले से ही जानते न हों। किसी भी शिक्षक का प्रत्यक्ष अनुभव यह गवाही देगा कि तनाव में सीखना बाधित होता है! अगर हम चाहते हैं कि छात्र सीखें तो ज़ाहिर है कि स्कूल के वातावरण को सतत तनाव उत्पन्न करने वाला वातावरण नहीं होना चाहिए।

मस्तिष्क के विभिन्न हिस्सों की संरचना और उनके क्रिया-कलाप का विचार एक तुलनात्मक रूप से नए क्षेत्र -- उद्विकासीय मनोविज्ञान (एवोल्यूशनरी साइकॉलजी) से करीब से जुड़ा है। इस अध्याय के शेष हिस्से में हम इस क्षेत्र के कुछ रोचक सिद्धान्तों पर नज़र डालेंगे जिन्हें शिक्षा पर लागू किया जाता है।

मस्तिष्क में मापदंडों (मॉड्यूल्स) का उद्विकास

मानव मस्तिष्क बहुत पुराना है। एक प्रजाति के रूप में मानव तकरीबन तीस लाख वर्षों से अस्तित्व में है। इस अवधि के लगभग 99.9 प्रतिशत समय तक वह शिकारी -- एकत्रक के रूप में बचा रहा है, जिसे कुछ खास तरह के खतरों तथा चुनौतियों से निपटना पड़ता था। पिछले दस हज़ार वर्षों से, जब से खेती की जाने लगी, उसे भिन्न प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। और पिछले 200 वर्षों का औद्योगीकरण, जिसकी परिणति आज के कम्प्यूटर युग में हुई है, ने हमारे पर्यावरण को इस कदर बदल डाला है कि यह हमारे पूर्वजों के परिवेश-सा रहा ही नहीं है।

परन्तु मानव मस्तिष्क तथा शरीर में हुए उद्विकासीय बदलावों की समय सारणी इस लम्बे दौर में अधिक धीमी गति से चली है। प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया को उन बदलावों को लाने में अनेकानेक पीढ़ियों की ज़रूरत पड़ी, जो हमें हमारे वानर संबंधियों से पृथक करते

हैं: उदाहरणाथ के लिए, सीधे खड़े होना, औजारों तथा भाषा का उपयोग करना। परन्तु पिछली कुछ शताब्दियों में हम जो बदलाव इतनी तेजी से लाएँ हैं, उनकी अनुक्रिया स्वरूप हमारे मस्तिष्क और शरीर को क्रमशः बदलने के लिए पर्याप्त पीढ़ियों के गुज़रने का समय ही नहीं मिल पाया है। इस कारण मनोवैज्ञानिक जॉन टूबी तथा लेडा कॉस्मिडेस कहते हैं कि 'हमारी आधुनिक खोपड़ियों में पाषाण युगीन मस्तिष्क रहते हैं!'

'प्राचीन' मस्तिष्क एक ऐसी दुनिया से बखूबी अनुकूलित था जहाँ, न बिजली थी, न परिष्कृत चीनी और ना ही स्कूल। उदाहरण के लिए मीठी चीजों को पसंद करना जो उस ज़माने में अनुकूल था, पर आज नहीं है। टूबी तथा कॉस्मिडस के अनुसार मस्तिष्क ने तमाम पृथक-पृथक **मॉड्यूल्स** या मापदंड बनाए जो उस समय की चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना कर सकते थे। उदाहरण के लिए एक जो हमें यह बताए कि क्या खाने योग्य है, एक हमारा यह मार्गदर्शन करने के लिए कौन हमारा अच्छा जीवन-साथी बन सकता है, एक चेहरे के हाव-भावों से संप्रेषण करने के लिए; एक व्याकरण सीखने के लिए; चेहरे पहचानने के लिए, स्थानिक नक्शे बनाने के लिए, आदि-इत्यादि। स्मृति, तर्क, निर्णय लेने तथा सीखने की प्रक्रियाएँ तक हमारे पूर्वजों के संदर्भों के अनुकूल होने के लिए विशेषीकृत थीं।

आज भी हम अपने दिमागों में इन्हीं मापदंडों को लिए फिरते हैं, हालाँकि हमारा पर्यावरण हमारे समक्ष बिल्कुल भिन्न चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है। सो आज भी हमारी तार्किक बुद्धि उन सामाजिक परिस्थितियों के लिए बेहतर है जो हमारे पाषाणयुगीन पूर्वजों की रही होगी। चेहरे याद रखने की हमारी शक्ति शब्दों की याद्दाश्त से बेहतर है। बच्चों को वाचिक भाषा के नियम सीखना वर्तनी या लिखित भाषा के नियमों को सीखने से अधिक आसान लगता है। इतना ही नहीं हमारे पास हमारे मौजूदा वातावरण, जैसे साक्षरता के वातावरण के लिए, कम्प्यूटर प्रोग्राम के लिए, या प्रमात्रा भौतिकी (क्वॉन्टम फिजिक्स) के लिए, उपयुक्त मानसिक मापदंड नहीं हैं। आप कल्पना कर ही सकते हैं कि शिक्षा के लिए इस तथ्य के कुछ निहितार्थ निश्चित रूप से होंगे।

जन्मजात तथा गैर-जन्मजात रूप से सीखना

डेविड गीअरी भी एक अन्य मनोवैज्ञानिक हैं जो मापदंड निर्माण के बारे में लिखते हैं और एक बेहद रोचक सिद्धान्त पेश करते हैं। जैसा हम कह चुके हैं कि प्रत्येक प्रजाति अपनी विशिष्ट चुनौतियों का सामना करने के लिए क्रमशः मापदंडों को विकसित करती है। हमारे पूर्वजों के समक्ष जो चुनौतियाँ थीं उन्हें तीन व्यापक श्रेणियों में बांटा जा सकता हैं, जो ये हैं : भौतिकी, जीवशास्त्र तथा मनोविज्ञान। परिस्थिति से अनुकूलित होने में सफल होने के लिए मनुष्य को-

- भौतिक वस्तुओं की त्रिआयामी दुनिया में यात्रा करनी पड़ती थी। उन्हें प्रक्षेप-पथ समझने पड़ते थे, गति का अनुमान लगाना पड़ता था, और वस्तुओं की मानसिक छवि बनाना व उनका संचलन करना पड़ता था (जो औज़ारों के उपयोग के लिए अत्यावश्यक था);
- उन्हें वनस्पतियों तथा जन्तुओं को खाद्य/अखाद्य/औषधीय, तथा शिकार/शिकारी की श्रेणियों में वर्गीकृत करना पड़ता था;
- उन्हें एक सामाजिक दुनिया में अपनी राह तलाशनी पड़ती थी (खासकर इसलिए क्योंकि वे समूहों में रहते थे); उन्हें चेहरे पहचानने होते थे, मुख के हावभाव पढ़ने पड़ते थे, रिश्तेदारों को पहचानना पड़ता था, और दुनिया को अपने समूह के अंदर तथा बाहर के सदस्यों में बांटना पड़ता था, भाषा का उपयोग करना पड़ता था और अन्य लोगों की मानसिक स्थितियों का अनुमान लगाना पड़ता था।

मानव ज्ञान तथा कौशल के इन तीन क्षेत्रों को हम लोक भौतिकी, लोक-जीवविज्ञान तथा लोक-मनोविज्ञान कह सकते हैं (लोक शब्द का उपयोग इन्हें स्कूल तथा उसके बाद औपचारिक रूप से सीखे जाने वाले ज्ञान से पृथक करने के लिए किया गया है)। बालक इन तीनों क्षेत्रों में बिना वयस्कों द्वारा विशेष प्रयास किए, स्वाभाविक रूप से विशेषज्ञता विकसित करता है। गीअरी ने उन मापदंडों को सूचीबद्ध करने की चेष्टा की जो कौशल के इन क्षेत्रों को बनाते हैं। इनमें से कुछ मापदंडों के लिए मस्तिष्क के कुछ विशिष्ट स्थानों को असल में ढूंढ़ा भी जा चुका है। उदाहरण के लिए भौतिक स्थान की मानसिक छवि बनाने में पार्श्विक वल्कुट (पेरिएटल कॉर्टेक्स) के कुछ हिस्से तथा हिप्पोकैम्पस काम में आते हैं। जीवित वस्तुओं के नाम दे पाने की

तीन पीएचडीधारी!

क्षमता में पश्च नववल्कुट(पोस्टीरियर नीओकोर्टेक्स) के अंश काम में आते हैं, पर वे अजीव वस्तुओं की पहचान में मददगार नहीं होते। चेहरों को पहचानने में फ्यूसिफॉर्म गायरस के कुछ हिस्से तथा पूर्व-अग्रपालीय वल्कुट (प्रीफ्रंटल कॉर्टेक्स) काम में आते हैं।

आदिवासी लोगों में, जिनमें औपचारिक शिक्षा नहीं होती, हम इन तीनों क्षेत्रों में ज्ञान तथा कौशल को विकसित पाते हैं। आदिवासी संस्कृतियाँ अपने वातावरण की वनस्पतियों तथा पशुओं के ज्ञान की गहराई तथा परिष्कार के लिए विख्यात हैं। इसी प्रकार वे साथ जीने तथा एक दूसरे के साथ सहकार करने के सामाजिक पक्षों में बेहद कुशल होते हैं तथा उनके सगोत्रता के नियम, सामाजिक अनुक्रम, प्रतिष्ठा तथा रिश्तेदारी बखूबी व्यवस्थित हैं। वे घरेलू औज़ारों और अस्त्रों के उपयोग में भी बेहद कुशल होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने यह दर्शाया है कि स्कूल में प्रवेश करने से पहले ही बच्चों के मनोविज्ञान संबंधी समृद्ध लोक-सिद्धान्त होते हैं। परन्तु हम उनके द्वारा सीखी गई बातों की पूरी तरह उपेक्षा करते हैं और उसे हमारी स्कूली पाठ्यचर्या द्वारा विस्थापित करते हैं![1]

एक प्रकार से हम इन कौशलों को जन्मजात या स्वाभाविक कौशल कह सकते हैं। यहाँ 'जन्मजात' शब्द का अर्थ ज्ञान के साथ जन्मा नहीं है -- क्योंकि ऐसा तो असंभव है। बल्कि इसका मतलब है कि हमारे दिमाग का एक हिस्सा पहले से ही कुछ खास सह-संबंध बनाने, कुछ तरह की चीज़ें सीखने के लिए, ही 'वायर्ड' या तैयार है।

भाषा इस प्रकार काम करती है : भाषा की क्षमता इस अर्थ में जन्मजात है कि शिशु कुछ इस प्रकार **पूर्व-निर्धारित** (प्रोग्राम्ड) होते हैं कि वे दुनिया की किसी भी भाषा को सीख लें। भाषा कौशल इस अर्थ में जन्मजात नहीं होता कि शिशु पैदा ही भाषा के ज्ञान के साथ होते हैं।

इस बिन्दु पर आपके मन में यह विचार उभर सकता है : क्या कुछ ऐसा भी है जिसे गैर-जन्मजात सीखना कहा जा सके? क्या मनुष्य ऐसी चीज़ें भी सीख सकता है जिन्हें सीखने के लिए वह पहले से ही निर्धारित या तैयार न किया गया हो? हमने सीखने के जन्मजात स्वरूपों का उल्लेख कई बार किया है। अब शिक्षकों के रूप में हमें यह अहसास होता है कि परंपरागत स्कूली पाठ्यक्रम में तथा इस प्रकार सीखने में अगर कुछ परस्पर आच्छादन या साम्य है भी तो वह स्वाल्प ही है। और इसके बावजूद ढेरों बच्चे कई साल की स्कूली पढ़ाई से गुज़रते हैं और कई 'गैर-जन्मजात' कौशलों (जैसे -- पढ़ना, लिखना, कलन (कैलक्युलस), कैपलर के नियम तथा शास्त्रीय संगीत) को सीख लेने का प्रमाणपत्र पाते हैं। यह भला कैसे संभव होता है? जब हम पशुओं को और उन्हें जो करने को प्रशिक्षित किया जा सकता है उसे देखते हैं तो पाते यह हैं कि प्रशिक्षित पशु आचरण के सबसे आश्चर्यजनक उदाहरण भी मानव शिशुओं द्वारा सीखी जा सकने वाली चीज़ों के

1. अध्याय दो में *अवधारणात्मक बदलाव* शीर्षक के तहत इसका वर्णन किया गया है।

विस्तार और नवीनता के समक्ष फीके हैं। ज़ाहिर है कि मानव मस्तिष्क में कुछ भिन्न है, और अंतर यह है कि मानव मस्तिष्क दरअसल गैर-जन्मजात कौशलों को सीखने में विशेषीकृत है।

सिखाना -- एक खास मानवीय कौशल

मस्तिष्क का, और खासतौर से (सिरिब्रल कॉर्टेक्स) का, जो गुण गैर-जन्मजात वस्तुओं को सीखना संभव बनाता है, उसे तांत्रिकीय लचीलापन (न्यूरल प्लास्टिसिटी) कहा जाता है। मानव मस्तिष्क में काफी 'अतिरिक्त' परिपथ (सर्किटरी) होते हैं जो नए सह-संबंध और जुड़ाव या संयोजन बनाने के लिए उपलब्ध होते हैं। पाषाण युग के मनुष्य के लिए यह तांत्रिकीय लचीलापन औज़ारों तथा संप्रेषण के नवाचार युक्त उपयोग के लिए एक बड़ा भारी आशीर्वाद था। आज यही तांत्रिकीय लचीलापन वायलिन बजाने से लेकर चरघातांकी (एक्सपोनेन्शियल) क्रिया-कलापों में विभेद करने तक, सब कुछ सीखने में हमारे काम आता है। इससे भी महत्त्वपूर्ण एक बात है जो हमारे निकटतम संबंधियों चिम्पैन्जियों से भी बहुत भिन्न है। वह यह है कि इन्सान जो कुछ सीखता है उसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया जा सकता है। यह ज़रूरी नहीं है कि प्रत्येक पीढ़ी फिर से वह सब खोज़े-तलाशे जिसे उसके माता-पिता सीख चुके थे, इसलिए क्योंकि मनुष्य एक प्रजाति के रूप में प्रत्यक्ष रूप से सिखाता भी है। तांत्रिकीय लचीलापन तथा संप्रेषण व सिखाने की क्षमता का संमिश्रण हमें एक प्रजाति के रूप में बिल्कुल पृथक करता है।

इसी बात को दूसरे तरीके से देखते हुए गीअर जैविक रूप से प्राथमिक व दोयम या गौण क्षमताओं की बात करते हैं, जिन्हें हमने पहले जन्मजात तथा गैर-जन्मजात रूप से सीखना कहा है। उनका कहना है कि बच्चे खेल-खेल में वातावरण से जो अंतक्रिया करते हैं, उससे उन्हें प्राथमिक क्षमताएँ हासिल होती हैं और ढेर-सा स्व-प्रेरित अभ्यास भी, जो इन कौशलों को ऊँचे दर्जे तक विकसित कर देता है (इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है 'भाषा')। परन्तु, बच्चे कई गौण क्षमताएँ भी हासिल कर सकते हैं, और इसमें शिक्षा की भूमिका है। इस प्रकार जो सीखा जाता है उसे मस्तिष्क की संरचनाएँ समर्थन दे सकती हैं। परन्तु ऐसी क्षमताओं को पाने के लिए सुस्पष्ट निर्देशों की और कुछ (जबरन!) कवायद तथा अभ्यास की ज़रूरत होगी। दूसरे शब्दों में अगर हम वायलिन बजाना या फिर चरघातांकी क्रिया-कलापों में विभेद करना सीखना चाहते हैं तो हमें ऐसा कैसे करना चाहिए यह सिखाया जाना होगा, और हमें इस कौशल का सायास अभ्यास भी करना होगा।

बेशक स्कूल ही वह स्थान है जिसका आविष्कार इस प्रकार की गौण क्षमताओं या गैर-जन्मजात कौशलों में औपचारिक निर्देश देने के लिए किया गया है। हम स्कूलों से बच नहीं सकते, परन्तु इसका मतलब यह भी नहीं है कि हम ठीक उसी तरह पढ़ाएँ जैसे हम

फिलहाल पढ़ाते हैं। मस्तिष्क किस तरह काम करता है और बच्चे किस प्रकार विकसित होते हैं उसे ध्यान में रखते हुए हम अपनी शिक्षण आवश्यकताओं को माकूल बना सकते हैं ताकि पहले जिस तरह के बेमेलपन का जिक्र किया गया था, उससे बचा जा सके। सीखना सार्थक और मज़ेदार हो सकता है। मस्तिष्क की आश्चर्यजनक क्षमताओं का उपयोग हम पहले ही वह सब सीखने के परे पहुँचा चुके हैं, जिसकी कल्पना तक हम सौ वर्ष पूर्व नहीं कर सकते थे। हम इसके लिए पीठ थपका कर खुद को शाबाशी भी दे सकते थे। सिवा इसके कि कई छात्रों के लिए शिक्षा पीड़ादायक और मूलतः एक असफल प्रक्रिया है। क्या एक कम दुःखद तरीके से इससे कुछ बेहतर हासिल किया जा सकता है? यही हम शिक्षकों को तलाशना है।

संदर्भ व ग्रंथ सूची

1. बैरेट, एच. क्लार्क तथा आर. कुर्त्ज़बान, 2006। 'मॉड्यूलैरिटी इन कॉग्निशन : फ्रेमिंग द डिबेट'। साइकोलॉजिकल रिव्यू, खण्ड-113, संख्या-3, 628-47
2. कॉस्मिडेस, एल. तथा जे. टूबी, 1997। *एवोल्यूशनरी साइकॉलजी : अ प्राइमर*।
3. गीअरी, डी.सी., 1995। 'रिफ्लैक्शन ऑव एवोल्यूशन एण्ड कल्चर इन चिल्ड्रन्स कॉग्निशन इम्पलिकेशन्स फॉर मैथेमैटिकल डेवलपमेंट एण्ड इन्स्ट्रक्शन'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-50, संख्या-1, 24-37
4. गीअरी, डी.सी. 1996। 'द एवोल्यूशन ऑव कॉग्निशन एण्ड द सोश्यल कंस्ट्रक्शन ऑव नॉलेज'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-51, संख्या-3, 265-66
5. गीअरी, डी.सी., तथा के. जे. हफमैन, 2002। 'ब्रेन एण्ड कॉग्निटिव एवोल्यूशन : फॉर्म्स ऑव मॉड्युलैरिटी एण्ड फंक्शन्स् ऑव माइन्ड'। *साइकोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड-128, संख्या-5, 667-98
6. गोउल्ड, ई., पी. टैनेपैट, एन.बी. हैस्टिंग्स तथा टी.जे.शोर्स, 1999। 'न्यूरोजेनेसिस इन एडल्टहुड : अ पॉसिबल रोल इन लर्निंग'। *ट्रैन्डस् इन कॉग्निटिव साइन्सेस*, खण्ड-3, संख्या-5
7. मैडिन, डी.एल., तथा एस.एटरन, 2004। 'द नेटिव माइन्ड :बायोलॉजिकल कैटेगराइज़ेशन एण्ड रीजनिंग इन डेवलपमेंट एण्ड अक्रॉस कल्चर्स', *साइकोलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-111, संख्या-4, 960-83
8. नैशनल कमिशन ऑन एक्सलैंस इन एज्युकेशन, 1983। *अ नेशन एट रिस्क : द इम्पैरेटिव फॉर एज्युकेशन रिफॉर्म*, संयुक्त राज्य शिक्षा विभाग।
9. नेल्सन, सी.ए., 2000। 'न्यूरल प्लास्टिसिटी एण्ड ह्यूमन डेवलपमेंट : द रोल ऑव अर्ली एक्स्पीरिएन्स इन स्कल्पटिंग मेमरी सिस्टम्स्', *डेवलवमेंटल साइन्स*, 3:2, 115-36
10. पिंकर, एस., 2003। 'हाउ टु गेट इन्साइड अ स्टूडेंटस हैड' *द न्यू यॉर्क टाइम्स*, 31 जनवरी, 2003
11. पोस्नर, एम.आई., तथा जी.जे. डिजिरोलामो, 2000, 'कॉग्नेटिव न्यूरोसाइंस : ओरिजन्स एण्ड प्रामिस'। *साइकोलॉजिक बुलेटिन* खण्ड-126, संख्या-6, 873-89
12. साक्स, ओ. 1990। '*द मैन हू मिसटुक हिज़ वाइफ फॉर अ हैट एण्ड अदर क्लिनिकल टेल्स*'।

हार्पर पेरिनियल, न्यू यॉर्क।

13. स्कॉयल्स, जे. आर., 1999। 'न्यूरल प्लास्टिसिटी एण्ड एक्ज़ाप्टेशन'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट*, खण्ड-54, संख्या-6, 438-39

14. स्वॉयर, एल.आर., 1992। 'मेमरी एण्ड द हिप्पोकैम्पस'। *साइकोलॉजिकल रिव्यू*, खण्ड-99, संख्या-2, 195-231

15. स्प्रिंगर, एस.पी., तथा जी. डॉयच, 1985। '*लेफ्ट ब्रेन, राइट ब्रेन*' (संशोधित संस्करण) डब्ल्यू.एच. फ्रीमन एण्ड को. न्यू यॉर्क।

16. थॉमसन, आर.एफ., 1993। '*द ब्रेन : अ न्यूरोसाइन्स प्राइमर*'। डब्ल्यू.एच.फ्रीमन एण्ड को., न्यू यॉर्क।

❑❑❑

अध्याय दो

सीखना

पिछले अध्याय में हमने मस्तिष्क तथा उसके उद्विकास की कुछ विशेषताओं को देखा, जो शिक्षा के लिए प्रासंगिक हैं। अब इस दूसरे अध्याय का स्वाभाविक विषय है 'सीखना'। बच्चे कैसे सीखते हैं के प्रश्न को संबोधित करने के पहले यह चर्चा करना आवश्यक होगा कि हम किस तरह की चीज़ें अपने छात्रों को सिखाना चाहते हैं। यही मैं पहले करती हूँ।

सीखने के तीन क्षेत्र वांछनीय हैं और वे ही हमारे स्कूली शिक्षण का लक्ष्य हैं : विभिन्न क्षेत्रों का **अवधारणात्मक ज्ञान** (जैसे -- जीवविज्ञान, रसायनशास्त्र, भाषा), विभिन्न कौशलों का **प्रक्रियात्मक** ज्ञान; तथा उच्च-स्तरीय **तार्किक** कौशल। किसी भी विषय क्षेत्र के बुनियादी सिद्धान्तों की समझ अवधारणात्मक ज्ञान है, इसमें कार्य-कारण संबंध की तथा उस क्षेत्र में क्या संभव है उसकी समझ शामिल होती है। उदाहरण के लिए बड़ी संख्याओं के जोड़ में बच्चों को दशमलव गणित तथा स्थानीयमान की अवधारणात्मक समझ ज़रूरी होती है। प्रक्रियात्मक ज्ञान से तात्पर्य उन आचरण संबंधी कौशलों से है, जो किसी कार्य को करने के लिए ज़रूरी हों। जोड़ के उदाहरण में दो संख्याओं को एक के नीचे दूसरी को सही स्थान पर रखना, अंकों को जोड़ना तथा हासिल को ले जाना आदि शामिल होगा। प्रक्रियात्मक ज्ञान की अन्य रोचक विशेषताएँ भी होती हैं, जिन्हें इस अध्याय में स्पष्ट किया जाएगा। तार्किक कौशल को एक-दो वाक्यों में परिभाषित करना कुछ

कठिन है। संभव है कि इसके अभाव के अर्थ में इसे परिभाषित करना अधिक उपयोगी हो। मनोवैज्ञानिक अधिकांश मानवीय चिंतन का वर्णन करने के लिए छिछला चिंतन, मस्तिष्क शून्यता, अपतार्किकता (डिस्रैशनेलिया) जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं! शिक्षकों के रूप में हमारी रुचि इसमें होनी चाहिए कि छात्रों के चिंतन की गुणवत्ता को कैसे सुधारी जाए। अध्याय के अंतिम भाग में यही तलाशा जाएगा।

स्कूल में जो भी अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक संबंधी ज्ञान हम देना चाहते हैं उसका अधिकांश भाग 'गैर-जन्मजात' होता है। आपको याद होगा कि पिछले अध्याय में हमने देखा था कि मस्तिष्क प्रारंभिक आयु से ही सीखने के कुछ 'जन्मजात' क्षेत्रों की क्षमता रखता है, और इसमें अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक दोनों ही प्रकार का सीखना शामिल है। इसका एक सरल उदाहरण है कि जब बच्चे चीज़ों की गिनती करते हैं वे **जानते हैं** (अवधारणात्मक अर्थ में) कि हरेक वस्तु को केवल एक ही बार गिनना है, और वे यह भी जानते हैं कि **यह कैसे** (प्रक्रियात्मक) करना है, एक-एक कर वस्तु को छूकर या उसकी ओर इशारा कर। दरअसल, जन्मजात या जैविक रूप से प्राथमिक विषय क्षेत्रों में, सीखने के ये दोनों प्रकार अभिन्न होते हैं, और बच्चे उनके बीच अंतर के प्रति सचेत भी नहीं होते। परन्तु जैसा हम कह चुके हैं कि मस्तिष्क में बहुत कुछ ऐसा सीखने की भी क्षमता होती है जो गैर-जन्मजात हो, और यहाँ (जैविक रूप से गौण क्षेत्रों में) सीखने के दोनों प्रकारों को अधिक प्रभावी रूप से सिखाने के लिए पृथक किया जा सकता है। दरअसल यह रोचक है कि अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक सीखने पर जो सापेक्ष बल दिया जाता है, वही प्रगतिशील तथा परंपरागत शिक्षा के प्रतिरूपों (मॉडल्स) में अंतर उत्पन्न करता है। हम परंपरागत शिक्षा पर यह आरोप लगा सकते हैं, जो शायद अन्याय ही हो, कि वह प्रक्रियात्मक ज्ञान पर ध्यान केंद्रित कर अवधारणात्मक ज्ञान को छोड़ ही देती है, जबकि प्रगतिशील शिक्षा प्रक्रियात्मक ज्ञान को छोड़ अवधारणात्मक पर बल देती है!

अगर अवधारणात्मक व प्रक्रियात्मक दोनों ही प्रकार का गैर-जन्मजात शिक्षण संभव है, तो अध्यापन का सबसे अच्छा तरीका क्या होगा ? स्टीवन पिंकर, जो मनोवैज्ञानिक हैं और जिन्होंने मानव मस्तिष्क के उद्विकास पर बहुत लिखा है, इस समस्या को बहुत बढ़िया तरीके से रखते हैं, 'शिक्षाविदों को उन शक्तियों को सहयोजित (को-ऑप्ट) करने का उपाय तलाशना चाहिए जो बिना प्रयास काम करती हैं और बच्चों से उन्हें उन समस्याओं पर लागू करवाना चाहिए जिनमें उनकी नैसर्गिक क्षमता न हो।'

यह कहना करने से अधिक आसान है। वे 'शक्तियाँ' भला कौन-सी हैं जो 'बिना प्रयास काम करती हैं', और उनका सहयोजन भला कैसे किया जा सकता है? मैंने ऐसी कुछ शक्तियों को सूचीबद्ध किया जो मेरे मत में इस योग्य हो सकती हैं -- रचनात्मकतावाद (कंस्ट्रक्टिविज़्म) तथा अवधारणात्मक बदलाव, अभ्यास तथा प्रक्रियात्मक रूप से सीखना,

और संदर्भ आश्रित तर्क कौशल। छात्र सबसे अच्छी तरह से कैसे सीखते हैं पर इनमें से प्रत्येक शक्ति का प्रभाव पड़ता है। अतः हम कैसे पढ़ाएँ उस पर भी प्रत्येक का प्रभाव होना चाहिए।

रचनात्मकतावाद तथा अवधारणात्मक बदलाव

रचनात्मकतावाद वह शब्द है जो दशकों से मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस्तेमाल किया जाता रहा है, और भारत में हाल में यह एक लोकप्रिय नारा बन गया है! सीधी-सादी भाषा में कहें तो इसका तात्पर्य इस बात से है कि मस्तिष्क में ज्ञान या सूचना किस प्रकार भण्डारित होती है। मस्तिष्क में कुछ भी *ठीक वैसे* दर्ज नहीं होता, जैसे उसे अनुभव किया गया हो। यह तथ्य हमारी पाँचों इंद्रियों से प्राप्त हुए अनुभवों के विषय में सच है; जब दो लोग एक ही बात को सुनें या देखें, उन्होंने जो कुछ भी देखा या सुना उसकी उनकी स्मृतियाँ निश्चित रूप से भिन्न होंगी। हमारे बोध तथा स्मृतियों में अंतर इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि हम जो कुछ अनुभव करते हैं उसकी *व्याख्या* भी करते हैं, और यह व्याख्या हमेशा हमारे पास मौजूद ज्ञान के आलोक में ही की जाती है। इस प्रकार अनुभवों की हमारी व्याख्या से नया ज्ञान बनता है, जो लगातार बढ़ता है और नए अनुभवों की व्याख्या करने में मदद करता है। सीखने वाले के द्वारा ज्ञान की **रचना** का यही अर्थ होता है।

ज्ञान का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह मस्तिष्क में सार्थक तरीकों से **व्यवस्थित** होता है। आप जानते ही हैं कि ज्ञान को भिन्न-भिन्न तरीकों से व्यवस्थित किया जाता है, जो इस बात पर निर्भर करता है कि वह पाठ्यपुस्तक में, किसी विश्वकोष में, या शब्दकोश में दर्ज है। मानव मस्तिष्क में ज्ञान इन व अन्य तरीकों से लचीलेपन के साथ व्यवस्थित किया गया होता है (अध्याय तीन इसका विस्तृत वर्णन देगा)। ज्याँ पियाज़े नामक वैज्ञानिक ने बाल विकास के बारे में बहुत व्यापक रूप से लिखा था। वे मस्तिष्क में ज्ञान की इन व्यवस्थित संरचनाओं को 'रूपरेखा' (स्कीमा) कहते हैं। उनका कहना था कि हमारी रूपरेखाओं में लगातार अनुभव 'जुड़ते' (फिट या माकूल बैठाए) जाते हैं (आत्मसात करना) और इन रूपरेखाओं को भी नई सूचनाओं को प्रवेश की अनुमति देने के लिए बदलना (समायोजित करना) पड़ता है।

रचनात्मकतावाद तथा व्यवस्थापन के सिद्धान्तों के अनुसार अगर मस्तिष्क इस प्रकार कार्य करता है, तो हम जिस तरह से पढ़ाते हैं, उसमें क्या हम इन शक्तियों का सहयोजन भी करते हैं? दुर्भाग्य से उत्तर ना है। शिक्षा अक्सर इन दोनों ही मसलों पर बच्चों को धोखा देती है :

- हम अपने छात्रों को असम्बद्ध टुकड़ों में ज्ञान देते हैं, और
- हम अपने छात्रों से अपेक्षा रखते हैं कि वे कमोबेश उसी प्रकार ज्ञान को पुनरुत्पादित करेंगे जिस प्रकार उन्होंने उसे प्राप्त किया था।

ज्ञान को असम्बद्ध टुकड़ों में प्रस्तुत करने से छात्र वह नहीं कर पाते जो वे श्रेष्ठ तरीके से कर सकते हैं -- मौजूदा ज्ञान के प्रकाश में नई जानकारी की व्याख्या। नतीजतन वास्तविक अवधारणात्मक समझ असंभव बन जाती है, जो आप तीसरे अध्याय में देखेंगे। साथ ही इसका जो कुछ सीखा गया उसकी बाद की स्मृति पर भी असर पड़ता है। इसके अलावा यह अपेक्षा करना भी अनुचित है कि किसी भी दिए गए पाठ को हमारे छात्र ठीक उसी रूप में समझेंगे, जैसे वह पाठ्यपुस्तक में लिखा गया है। सच तो यह है कि जब इस तरह का साम्य मिलता है तो वह यही संकेत देता है कि छात्र ने पाठ को तोते की तरह रट लिया है!

इस स्थिति को सुधारने के लिए हमें शिक्षा के प्रति अपने नज़रिए में नाटकीय परिवर्तन करना होगा। अव्वल तो हमें यह स्वीकारना होग कि सभी बच्चे वास्तविकता की अपनी-अपनी पूर्व-धारणाओं से प्रारंभ करते हैं। यहाँ 'पूर्व' से तात्पर्य यह है कि ये धारणाएँ औपचारिक शिक्षा से जुड़ने के पहले विकसित हो चुकी थीं! अर्थात् प्रत्येक बालक कोरी पाटी या स्लेट नहीं होता, जिस पर हम पन्ना दर पन्ना जानकारी लिखते चलें। मनोवैज्ञानिकों को ऐसे कई उदाहरण मिले, जिनमें बच्चों ने विभिन्न विषयों पर जैसे -- बल, पदार्थ, पृथ्वी तथा संख्याओं पर -- अपने 'सरल' या सहज बोध से उपजे सिद्धान्त बनाए थे। कभी ऐसा भी हो सकता है कि बच्चों द्वारा निर्मित ये भोले-भाले सिद्धान्त वयस्कों के 'सही' सिद्धान्तों जैसे ही हों।

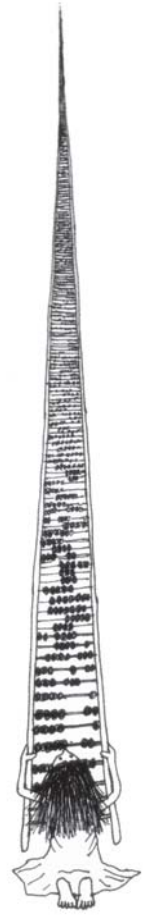

उदाहरण के लिए बच्चे अमूमन यह समझ लेते हैं कि धन पूर्णांक (नैचरल नम्बर्स) वियुक्त (डिसक्रीट) होते हैं और अनंत रूप से आगे बढ़ते जाते हैं। परन्तु अक्सर छात्रों का सहज ज्ञान पाठ्यपुस्तक के ज्ञान से या स्वीकृत ज्ञान से टकराता भी है। ऐसे उदाहरण काफी आम हैं : उदाहरण के लिए, उच्चतर स्कूल के छात्र बल को व्यक्तिगत वस्तुओं के गुण के रूप में देखते हैं न कि किसी प्रणाली के गुण के रूप में। या जब वे किसी वस्तु की पानी में सतह पर तैरने या डूबने की बात करते हैं, तो केवल वज़न के संदर्भ में ही करते हैं। हमारी वृत्ति ऐसे कथनों को गलत करार देने की होती है। बेशक, वे हमारी दृष्टि से गलत होते भी हैं, परन्तु छात्रों के स्पष्टीकरण अमूमन आंतरिक रूप से सुसंगत सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं (ये कोई बेतरतीब गलतियाँ नहीं होतीं)। मुझे तो बार-बार किसी भी परिघटना के बच्चों के स्पष्टीकरण की आंतरिक सुसंगतता पर अचरज होता है।

इसके बावजूद हमें उनको सही सिद्धान्तों से बदलना ही पड़ता है। और यहीं हम एक गलती करते हैं, यह मानकर कि हम उन्हें आसानी से 'प्रतिस्थापित' कर सकते हैं। जैसा कि हम देख ही चुके हैं, मस्तिष्क ऐसे काम नहीं करता। वह एकदम किसी रूपरेखा (स्कीमा) को किसी नई रूपरेखा के लिए यों ही खारिज नहीं कर सकता -- उसे तो पुराने के संदर्भ में नए की व्याख्या करनी पड़ती है, पुराने को समायोजित करना पड़ता है ताकि नया प्रवेश कर सके। ध्यान रखें, ज्ञान निर्मित करना पड़ता है, उसे थोक में आयातित नहीं किया जा सकता। शोध के अनुसार, यह प्रक्रिया अमूमन धीमी और क्रमिक होती है, न कि अचानक व तात्कालिक। इस राह में छात्र की परिवर्तित रूपरेखा में भी तब तक कई भ्रांतिपूर्ण धारणाएँ, गलतियाँ, और कभी-कभार असंगतताएँ भी होंगी, जब तक कि संपूर्ण व पक्की समझ प्राप्त नहीं हो जाती।

इस प्रकार जो सीखा जाता है उसे **अवधारणात्मक बदलाव** कहते हैं, और शिक्षा की शोध में यह बेहद संभावनापूर्ण क्षेत्र बन चुका है। यह तथ्य कि छात्र अवधारणात्मक बदलाव की प्रक्रिया से ही सबसे अच्छी तरह सीखते हैं, बेहद महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि अगर ऐसा अवधारणात्मक परिवर्तन नहीं होता तो पुरानी रूपरेखाएँ जस की तस सशक्त बनी रहती हैं। विज्ञान तथा गणित के प्रश्नों के उत्तरों में हाईस्कूल तो क्या कॉलेज के विद्यार्थी भी आश्चर्यजनक भ्रांतियाँ दर्शाते हैं -- आश्चर्यजनक इसलिए क्योंकि वे कहने को तो सही सिद्धान्तों की सफल शिक्षा प्रक्रिया से गुज़र चुके होते हैं! पिछले अध्याय में जिस राष्ट्रीय शैक्षणिक सर्वेक्षण का उल्लेख किया गया था, उससे स्पष्ट हुआ था कि 'शीर्षस्थ भारतीय स्कूलों' के छात्र भी विज्ञान, गणित तथा अंग्रेज़ी की अवधारणाओं की समझ में अनेक रिक्तताएँ दिखाते हैं। ज़ाहिर है कि इन कमियों के बावजूद वे स्कूली जाँचों व परीक्षाओं में संतोषजनक 'प्रदर्शन' कर पाते हैं। इसका एक मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण यह है कि कभी-कभी अकादमिक ज्ञान रोज़मर्रा के अनुभव से काफी दूर होता है। नतीजतन होता यह है कि कक्षाओं में जो कुछ सिखाया जाता है, उसकी रूपरेखाओं को छात्र रोज़मर्रा के अनुभवों की रूपरेखाओं से स्वतंत्र तथा उनसे असंबद्ध रख सकते हैं। ये रूपरेखाएँ अकादमिक कार्य के संदर्भ में ही सक्रिय होती हैं, और इसलिए परीक्षाओं तथा गृहकार्य करने में तो मदद करती हैं, पर वास्तविक परिघटनाओं की बेहतर समझ उनसे नहीं मिल पाती।

छात्रों में अवधारणात्मक बदलाव को प्रोत्साहित करने का सबसे बढ़िया तरीका है, छात्रों के समक्ष ऐसे स्पष्ट उदाहरण रखना जिनका स्पष्टीकरण उनकी रूपरेखाओं से मिल ही न सके। ऐसे में छात्रों को अपनी रूपरेखाओं को संशोधित करना ही होगा। और यह प्रक्रिया कदम-दर-कदम बढ़ने वाली प्रक्रिया है। जैसे-जैसे छात्रों का सामना नए तथ्यों से होता है, जिनको उन्हें स्पष्ट करना होता है, वे अपनी रूपरेखाओं को संशोधित करते चलते हैं। उदाहरण के लिए, छात्रों की मान्यता यह हो सकती है कि गुणा करने से हमेशा

एक अधिक बड़ी संख्या मिलेगी, या अधिक अंकों का मतलब बड़ी संख्या होता है। परन्तु जब वे भिन्नों का गुणा करना सीखते हैं तो उन्हें पहली अवधारणा को बदलना पड़ता है; और जब उनका परिचय दशमलवों से होता है (1.234<1.24) तो उपरोक्त दूसरी अवधारणा को बदलना ज़रूरी हो जाता है। जैसा मैं पहले भी बता चुकी हूँ, यह परिवर्तन अमूमन एकबारगी न होकर क्रमिक ही होता है। इसके लिए शिक्षिका की ओर से कम-से-कम स्पष्ट व युक्तियुक्त प्रदर्शन के प्रयास की आवश्यकता तो होगी ही। उदाहरण के लिए बच्चे यह मानकर चलते हैं कि किसी सचल वस्तु का हरेक भाग एक समान गति से चलता है। यह बात एक सीधी रेखा में चल रही वस्तुओं के लिए तो सच है, पर किसी गोलाकार रेस मैदान में चल रही कार का दाहिना और बायाँ दरवाज़ा एक समान गति नहीं चलता! इस स्थिति में अगर अवधारणात्मक बदलाव लाना हो तो एक सीधा सरल भौतिक प्रदर्शन किया जा सकता है, जिसमें दो छात्राएँ एक ऐसे हत्थे का पकड़ कर, जो किसी केंद्रीय धुरी से जुड़ी हो, उसके इर्दगिर्द चलें। यह प्रदर्शन शब्दों की मदद से समझाने से कहीं अधिक असरकारी होगा। जो छात्रा धुरी से अधिक दूरी पर हो उसे अनुभव होगा कि उसे धुरी के पास छात्रा के साथ-साथ चलने के लिए अधिक तेज़ चलना पड़ रहा है।

जब छात्रा अपनी रूपरेखा निर्मित और पुनर्निर्मित करने में जुटती है तो संभव है कि वह पुरानी व नई के बीच की किसी मध्यवर्ती रूपरेखा के आधार पर तर्क करे। मनोवैज्ञानिक स्टेला वोस्निएडाउ तथा उनके सहकर्मी अवधारणात्मक परिवर्तन कैसे होते हैं, तथा छात्र किन प्रकारों की मध्यवर्ती रूपरेखाएँ बनाते हैं इसका अध्ययन करते रहे हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण भिन्नों के विषय से आता है। वोस्निएडाउ ने ग्रीस के दस से पंद्रह वर्षीय छात्रों से कहा कि वे सबसे छोटे और सबसे बड़े भिन्न की कल्पना करें और अपने उत्तरों को समझाएँ। छात्रों के उत्तरों से भिन्नों के विषय में चार पृथक रूपरेखाएँ स्पष्ट हुईं।

1. अंश (या हर) में छोटी संख्याएँ छोटा भिन्न बनाती हैं। इस रूपरेखा में भिन्न के आकार का (गलत) प्रतिनिधित्व दो स्वतंत्र संख्याओं से होता है।
2. अंश (या हर) में बड़ी संख्याएँ छोटा भिन्न बनाती हैं। यह एक मध्यवर्ती रूपरेखा

है जो इस तथ्य की आंशिक समझ पर आधारित है कि भिन्न एकल संख्याओं से फर्क आचरण करते हैं -- 'भिन्नों में, किसी न किसी तरह छोटा दरअसल बड़ा होता है'।

3. भिन्न तब बड़े होते हैं जब अंश, हर के पास आने लगता है। यहाँ भिन्न को सही-सही दो संख्याओं के बीच के संबंध के रूप में देखा गया है। पर यह समझ अब भी संपूर्ण नहीं है (इकाई सबसे बड़ा भिन्न नहीं है)।

4. भिन्न तब बड़े होते हैं जब अंश हर से बड़ा हो जाए। अतः इस श्रेणी के कुछ छात्र इस सही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कोई भी भिन्न सबसे छोटा या सबसे बड़ा नहीं होता।

वोस्निएडाउ के काम का एक अन्य उदाहरण परिमेय संख्याओं (रैशनल नम्बर्स) की सघनता (डेन्सिटी) से है। जैसा आप पहले देख चुके हैं, कि संख्याओं के विषय में बच्चों का एक 'सहज-सरल' विचार होता है कि वे पृथक होती हैं, अर्थात् जब गिनती की जाए तो हम 1, 2, 3, ... के क्रम में बढ़ते जाते हैं और उनके बीच कुछ नहीं होता'। बेशक धन पूर्णांकों (नैचरल नम्बर्स) की सूची अनंत क्रम में बढ़ती जाती है -- क्योंकि वे अपरिमित रूप से अनेक होते हैं। गिनने में धन पूर्णाकों के पार्थक्य की अवधारणा बेहद ज़रूरी होती है, और बच्चे इसे अंतर्बोध से विकसित कर लेते हैं। परन्तु परिमेय संख्याओं का आचरण भिन्न होता है -- दो परिमेय संख्याओं के बीच अनेक अनंत परिमेय संख्याएँ होती हैं। वोस्निएडोउ ने चौदह वर्षीय छात्रों से परिमेय संख्याओं पर कई प्रश्न पूछे, जैसे .005 तथा .006 के बीच, 3/8 तथा 5/8 के बीच, तथा 5/8 व 8.5 के बीच कितनी संख्याएँ हैं। उनके उत्तरों से अवधारणात्मक बदलाव के चार चरण पहचाने जा सके (जिनमें चौथा बिल्कुल सही था)।

1. दशमलवों में, जैसे .005 तथा .006 के बीच, कोई संख्याएँ नहीं हैं, तथा 3/8 और 5/8 के बीच केवल 4/8 है।

2. .005 तथा .006 जैसे दशमलवों के बीच सीमित संख्या में संख्याएँ होती हैं जैसे किन्हीं भी दो भिन्नों के बीच हों।

3. .005 तथा .006 के बीच सीमित संख्या में संख्याएँ होती हैं पर दो भिन्नों के बीच असीमित संख्या में संख्याएँ होती हैं।

4. किन्हीं भी दो दशमलवों तथा दो भिन्नों के बीच अनेक असीमित संख्याएँ होती हैं।

उपरोक्त दोनों उदाहरण आपको यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होंगे कि छात्रों के 'गलत उत्तरों' के पीछे कितना पेचीदा चिंतन होता है! हमें इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिए कि हमारे छात्र अवधारणाओं के आधार पर तर्क करते हैं, कि ये 'वैकल्पिक'

अवधारणाएँ अक्सर 'सही' अवधारणाओं से टकराती हैं, और यह भी कि इन अवधारणाओं को बदलना उनके लिए हमेशा आसान नहीं होता। बॉक्स-1 वैकल्पिक अवधारणाओं के विषय में एक सिद्धान्त का वर्णन करता है।

किसी शोधकर्ता के लिए छात्रों की विभिन्न पूर्व-धारणाओं की छानबीन करना तो ठीक है, परन्तु शिक्षकों के रूप में हम अपने खुद के छात्रों की रूपरेखाओं के बारे में कैसे जान सकते हैं ? बातचीत, कक्षा चर्चाएँ खुले सवाल तथा डायरी लेखन सभी मददगार होते हैं। हमें उनसे बार-बार सवाल पूछने चाहिएँ जैसे, 'तुम्हारा मतलब क्या है ?' और 'क्या कोई उदाहरण दे सकते हो?' हमें लग सकता है कि हमारे पास इस सबके लिए समय नहीं है या कक्षा में इतने अधिक छात्र हैं कि यह तरीका कारगर हो ही नहीं सकता। परन्तु जब हम अपने छात्रों के साथ कम से कम कभी-कभार चर्चाएँ और बातचीत करते हैं, तो संभव है कि यह प्रक्रिया उनके दिमागों द्वारा आत्मसात कर ली जाए। आखिरकार हम उन्हें अच्छे शिक्षार्थी भी तो बनाना चाहते हैं, और ऐसा करने में एक बात जो मददगार हो सकती है, वह यह है कि वे स्वयं में होने वाले अवधारणात्मक बदलाव के प्रति सजग हो जाएँ। जहाँ तक बड़ी कक्षा का प्रश्न है, अगर वहाँ प्रत्येक छात्र को बोलने का 'अवसर नहीं मिल पाता' फिर भी सभी ऐसे आदान-प्रदान को सुनने का कम से कम लाभ तो उठाते ही हैं। कई अन्य अच्छे अध्यापन अभ्यास भी अवधारणात्मक शिक्षण को प्रोत्साहित करते हैं।

बॉक्स-1

गलत अवधारणाएँ नहीं बल्कि वैकल्पिक अवधारणाएँ

माइकेलेन ची व अन्य शोधकर्ता मनुष्यों की विभिन्न प्रकार की वैकल्पिक संकल्पनाओं को श्रेणीबद्ध करने पर काम करते रहे हैं, और इस माध्यम से वे यह समझने की कोशिश भी करते रहे हैं कि कुछ गलत-अवधारणाओं को 'सही' करना क्यों खासतौर से कठिन होता है। हम यह जानते ही हैं कि किसी भी विषय में कुछ अवधारणाओं को सीखना अन्य अवधारणाओं की तुलना में अधिक कठिन होता है -- क्या इसका संबंध उन सरल अवधारणाओं से हो सकता है जो मनुष्य गढ़ लेते हैं ? ची का सुझाव है कि मनुष्य में (शिशुओं से लेकर वयस्कों तक में) किसी भी परिघटना को समझाने के लिए स्वतंत्र पर, एक साथ काम करने वाले तत्वों की पेचीदा निर्गमित (इमर्जेंट) प्रणालियों के गुणों के बनिस्बत *प्रत्यक्ष*, क्रमबद्ध कार्य-कारण के रूप में उसे समझाने की प्रवृत्ति होती है। इस कथन को समझने के लिए हमें कुछ उदाहरण देखने होंगे। ताप को ही लें -- कई भोले छात्र इसकी कल्पना किसी पदार्थ के रूप में करते हैं और ऊष्मा के स्थानान्तरण का स्पष्टीकरण करते समय वे मानते यह हैं कि 'गरमी' जैसा कोई पदार्थ एक से दूसरी वस्तु में स्थानान्तरित होता है। इसी तरह तापमान को भूलवश किसी चीज़ की 'मात्रा' माना जाता है। ची कहती हैं कि मानव प्रवृत्ति ही कुछ ऐसी है कि कई अवधारणाओं को वह आनुक्रमिक प्रत्यक्ष कारण तथा प्रभाव के रूप में ही स्पष्ट करता

है। साथ ही प्रवृत्ति यह भी हो सकती है कि वह अवधारणाओं को भी *प्रक्रियाओं* के बदले *वस्तुओं* के रूप में देखे (उदाहरणार्थ, ताप, विद्युत व बल)। फिर भी कई महत्त्वपूर्ण परिघटनाएँ (प्रसारण, मौसम के पैटर्न, कुछ खास ज्यामितीय आकार (फ्रैक्टल्स), मानवीय आचरण, वाष्पीकरण, प्राकृतिक चयन...) दरअसल ऐसी नहीं होतीं। ये परिघटनाएँ एक प्रणाली के गुण होते हैं जो विभिन्न तत्वों की अंतःक्रियाओं से उद्गमित होते हैं। क्योंकि हम चीज़ों को इस दृष्टि से देखते ही नहीं हैं, अतः हमें निर्गमित प्रक्रियाओं को समझने में खासतौर से कठिनाई होती है।

ची के अनुसार समाधान यह हो सकता है कि शिक्षक पहले द्रव्यों को नहीं बल्कि कुछ अवधारणाओं तथा प्रक्रियाओं को स्पष्ट करें, और तब एक निर्गमित प्रक्रिया के विचार को रचें। ऐसा प्रतिरूपों के उपयोग या भूमिका-अभिनय से किया जा सकता है। एक बार जब निर्गमित प्रक्रिया की रूपरेखा स्थापित हो जाएगी तो नई अवधारणाओं को उनके संदर्भ में ही समझना होगा।

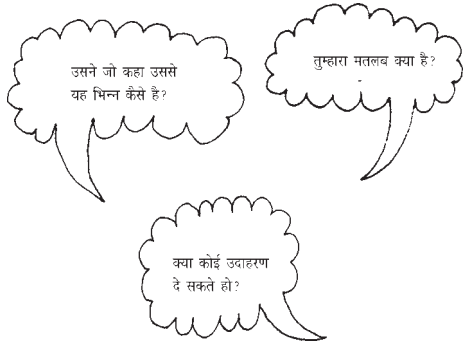

आपके छात्रों में गणित के बुनियादी सिद्धान्तों तथा संबंधों की बेहतर समझ विकसित करने के लिए शोध से प्राप्त कुछ सुझाव हैं :

- अपने छात्रों से सही सवाल पूछें। मनोवैज्ञानिकों ने गणित शिक्षकों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों को विभिन्न प्रकारों में श्रेणीबद्ध किया है। ज़्यादातर का सवाल - इस प्रकार के हाते हैं 'फलाँ का जवाब क्या है?', पर कुछ शिक्षक यह भी पूछते हैं 'आप फलाँ कैसे करेंगे?', और 'यह उत्तर सही क्यों है?' *कैसे* और *क्यों* संबंधी प्रश्न इतने आम नहीं हैं; पर वे अवधारणात्मक समझ में मददगार होते हैं। ऐसे प्रश्न पूछने वाले शिक्षक के छात्र गणित में बेहतर होते हैं। ऐसा तब भी होता है जब छात्र दरअसल प्रश्न का जवाब देता भी नहीं है -- इस बारे में सोचने भर से उच्चतर स्तर की अवधारणा बनाने को (कन्सैप्चुयलाइज़ेशन) प्रोत्साहित करता है!
- अपने छात्रों से पूछें कि किसी समस्या का अलग-अलग तरीकों से समाधान कैसे किया जा सकता है। वैकल्पिक विधियों से एक समान परिणाम निकलते देखना

और यह समझना कि, यह कैसे हुआ, अवधारणात्मक शिक्षण को प्रोत्साहित करेगा। लगभग प्रत्येक समस्या को हल करने के अनेक तरीके होते हैं, अतः इस विचार का अभ्यास करना आसान है।

- छात्रों को विभिन्न समस्याओं को उनके समाधान की विधि के अनुसार वर्गीकृत करने को प्रोत्साहित करें। जो समस्याएँ सतही स्तर पर भिन्न लगती हैं, उनमें भी साझी अंतर्निहित संरचनाएँ होती हैं। इस तथ्य को पहचान लेने से अवधारणात्मक समझ सुदृढ़ होती है। हो सकता है कि आपको ऐसा करने के लिए प्रश्न या समस्याएँ इकट्ठी करनी पड़ें या खुद उन्हें बनाना पड़े -- अधिकांश पाठ्यपुस्तकें विधि के अनुसार प्रश्नों को रखती हैं। फलस्वरूप छात्रों को परीक्षा के पहले इस चुनौती का सामना करना ही नहीं पड़ता!
- अपने छात्रों से कहें कि वे किसी अवधारणा को किसी दूसरे छात्र को पढ़ाएं। मनोवैज्ञानिक शोध यह दर्शाता है कि किसी दूसरे को पढ़ाने के *मकसद* से पढ़ना भी अवधारणात्मक समझ को बेहतर बनाता है।
- यह सुनिश्चित करें कि शब्दों में पूछे जाने वाले गणित के प्रश्नों के संदर्भ ऐसे हों जिनसे छात्र परिचित हों या जो उनके लिए प्रासंगिक हों।

भाषा शिक्षण में अवधारणात्मक समझ को प्रोत्साहित करने के लिए आप छात्रों को अन्य लेखकों (खुद के या वरिष्ठ छात्रों के) लेखन के पहले प्रारूप या संशोधित आलेख दिखा सकते हैं। इससे वे स्वयं यह सीख सकते हैं कि क्या बदला या सुधारा गया है। छात्र एक-दूसरे के या खुद अपने ही लेख का संपादन भी कर सकते हैं। इतिहास पढ़ाते समय छात्रों को किसी एक ही घटना के विभिन्न विवरण दिए जा सकते हैं, और उन्हें यह सोचने को प्रोत्साहित किया जा सकता है कि इतिहास का प्रस्तुतीकरण कैसे किया जाता है, उसकी व्याख्या कैसे की जाती है, अतः उसे कैसे गढ़ा जाता है! वे स्वयं साक्ष्यों को (प्राथमिक स्रोतों से, जैसे यात्रियों के वर्णनों से, या लोगों से साक्षात्कारों द्वारा) जाँच सकते हैं, और खुद इतिहास संबंधी निजी सिद्धान्त बना सकते हैं, जिनकी तुलना तब वे अपनी पाठ्यपुस्तकों में दिए गए सिद्धान्तों तथा स्पष्टीकरण से कर सकते हैं।

आप जो भी विषय पढ़ाएँ, छात्रों को 'सही सवाल' पूछना सीखने दें -- जो दरअसल 'सही जवाब' देने से भी अधिक कीमती कौशल है। अवधारणाओं को समझाने के लिए सादृश्यों, प्रतिरूपों या सचित्र व्यवस्थापकों (ग्राफिक ऑर्गनाईजर्स) का इस्तेमाल करें (निम्नोक्त उदाहरण देखें)। उन्हें वे जो सीख रहे हों, उसकी बात करने दें (वर्णन, स्पष्टीकरण, सविस्तार करना)। वे अपनी डायरियों में खुद यह दर्ज भी कर सकते हैं कि वे किसी कक्षा के पहले क्या जानते थे, और उसके बाद उनकी समझ किस प्रकार बदली।

सादृश्य के उपयोग द्वारा सौर मंडल को समझना :

अगर सूर्य एक कद्दू हो, तो पृथ्वी एक सरसों के दाने जितनी बड़ी होगी और दोनों के बीच तकरीबन 50 मीटर का फासला होगा। अगर सूरज सरसों का दाना हो तो पृथ्वी 50 से.मी. दूर होगी और निकटतम तारा तकरीबन 60 कि.मी. दूर होगा!

बीज गणित के समीकरण को तोहफा लपेटने के प्रतिरूप तथा तुला प्रतिरूप के उपयोग से सुलझाना :

समीकरण को तोहफा लपेटने के प्रतिरूप से पुनर्व्यवस्थित करने के लिए किसी वस्तु को पहले कागज़ में लपेटें, उसे एक डब्बे में रखें, और उसे एक रस्सी से बाँधें। इस 'तोहफे' को खोलने के लिए आपको ऊपर बताए गए क्रम को बिल्कुल सही-सही पर उलटे क्रम में दोहराना होगा। नीचे जो चरण दर्शाए गए हैं, वे इसलिए गलत हैं क्योंकि यह ऐसा है मानो आप रस्सी खोले बिना ही डब्बा खोलना चाहते हैं।

$$\frac{2x+4}{7} = 10$$

$$\frac{2x}{7} = 10 - 4 = 6$$

छात्रों को याद दिलाएँ कि वे हमेशा खुद से पूछें कि 'तोहफा कैसे लपेटा गया था', ताकि उन्हें उसे खोलना भी पता हो। नीचे जो अभिव्यक्ति की गई है, उसमें वे कह सकेंगे कि हमने 'पहले × को 2 से गुणा किया, तब उसमें 4 जोड़ा और नतीजे को 7 से भाग दिया।'

$$\frac{2x+4}{7} = 10$$

एक अज्ञात संख्या वाले समीकरण को हल करने के लिए किसी फल (नींबू बखूबी काम करते हैं) और वज़न का उपयोग करें :

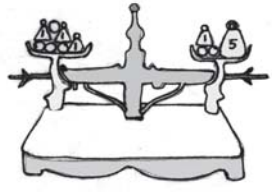

$4x + 3 = 2x + 6$

$2x = 3$

$x = 1{\cdot}5$

खोज द्वारा सीखना

अवधारणात्मक परिवर्तन की एक सशक्त विधि है स्वनिर्देशित खोज की प्रक्रिया, खासतौर से विज्ञान तथा गणित में। हाल में खोज द्वारा सीखने का विचार भारतीय शैक्षणिक वृत्तों में बेहद आकर्षक बन गया है! एक ठेठ खोज द्वारा सीखने की स्थिति में छात्रों को कई तरह की उपयुक्त सामग्रियाँ दी जाती हैं, और उम्मीद यह की जाती है कि वे स्वनिर्देशित प्रयोगों के द्वारा सक्रिय रूप से ज्ञान का निर्माण करेंगे ताकि अवधारणात्मक बदलाव हासिल हो सके। रचनात्मकतावादी नज़रिए से यह परिदृश्य श्रेष्ठ है। सामान्यतः इसको 'प्रतिपादक नज़रिया' (एक्सपोसिटरी एप्रोच) से विपरीत रख कर देखा जाता है, जिसमें शिक्षक एक पाठ तैयार कर उसकी प्रस्तुति (भाषण शैली में) करता है, या बारीकी से कक्षा किसी पाठ्यपुस्तक का अनुकरण करती है। नीचे दी जा रही तालिका प्रतिपादक पाठों के लाभ तथा हानियों का वर्णन करती है।

लाभ	हानियाँ
1. छात्रों को अवधारणाएँ स्पष्ट व प्रत्यक्ष तरीके से समझाई जा सकती हैं।	1. छात्र निष्क्रिय बन जाते हैं, और अगर उन्हें बोलने या सोचने को न कहा जाए तो दिमाग का 'खटका ही बंद' कर लेते हैं।
2. विषयों को क्रमवार रखने से अवधारणात्मक परिवर्तन में मदद मिलती है।	2. एक सुसंगत भाषण तैयार करने के लिए शिक्षक को छात्रों की पृष्ठभूमियों का ध्यान नहीं रखना पड़ता, अतः पाठ उबाऊ या बेहद कठिन भी बन सकता है।
3. सभी प्रासंगिक विचार शामिल कर लिए जाते हैं और यह भाग्य पर नहीं छोड़ा जाता कि छात्र स्वयं सब कुछ खोज लेंगे।	

प्रतिपादक कक्षाएँ ज्ञान निर्माण की संभावना को खारिज नहीं कर देतीं। अच्छी तरह दिए गए भाषाण को ध्यान से सुनने पर छात्र कई चीजें 'खोज' सकते हैं, वे जो कुछ पहले से जानते हैं उसे जो प्रस्तुत किया जा रहा हो उससे जोड़ भी लेते हैं। पर ऐसे पाठों की बढ़िया तैयारी करनी पड़ती है, तैयारी के समय छात्रों की रुचियों तथा पृष्ठभूमियों का ध्यान रखना पड़ता है, और ढेरों ऐसे सवाल तैयार रखने होते हैं, जो छात्रों को लगातार चौकन्ना रखें। परन्तु दुर्भाग्य से अनेक प्रतिपादक कक्षाएँ एकालाप में बदल जाती हैं। ध्यान रखें कि छात्र कुछ नया सीखें इसके लिए दो बातें आपको करनी होंगी : पहले से मौजूद प्रासंगिक रूपरेखाओं को सक्रिय बनाना और मौजूदा रूपरेखाओं में नई सूचनाएँ माफिक बिठाना। पढ़ाने की प्रतिपादक विधि में खतरा यह होता है कि उपरोक्त दो में से *पहला* काम हो ही नहीं। इस नज़रिए की निराशाजनक असफलता ने ही खोज द्वारा, पढ़ाने के नज़रिए के पक्ष में मालौल बनाया है। फिर भी खोज द्वारा सीखने का जो उपरोक्त *दूसरा भाग है वह* उस स्थिति में होगा ही नहीं, अगर छात्रों का सामना सीखी जाने वाली नई जानकारी से न हो!

इलोंका हार्डी तथा अन्य शोधकर्ताओं ने जर्मनी में एक अध्ययन किया जो 'विशुद्ध' खोज नज़रिए की समस्या का दृष्टान्त देता है, और उससे निपटने का उपाय भी दिखाता है। इन शोधकर्ताओं ने जर्मनी में आठ वर्षीय बच्चों के साथ 'तैरने और डूबने' पर आठ सत्रों का एक छोटा पाठ्यक्रम आयोजित किया। विज्ञान की औपचारिक कक्षाओं में इस विषय से इन छात्रों का पहले सामना नहीं हुआ था (क्योंकि यह अवधारणा काफी अग्रवर्ती है)। छात्रों के समक्ष छानबीन के लिए जो प्रश्न रेखा गया वह था, 'एक बड़ा लोहे से बना जहाज़ तैरता क्यों है ?' छोटे बच्चे सामान्यतः तैरने या डूबने के सवालों के जवाब केवल एक ही घटक के संदर्भ में देखते हैं ('भारी चीज़ें डूब जाती हैं', या 'बड़ी वस्तुएँ डूबती हैं' या 'जिन चीजों में छेद होते हैं वे तैर सकती हैं')। परन्तु एक वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में वस्तु के तथा तरल पदार्थ के घनत्व पर, और गुरुत्वाकर्षी व उत्पल्वकता की शक्तियों के प्रभाव पर विचार किया जाता है। यह ज्ञान जो भौतिकशास्त्रियों ने वैज्ञानिक बारीकियों के साथ विकसित किया है, उसे छोटे बच्चे स्वतःस्फूर्त तरीके से तलाश लें, इसकी उम्मीद क्या रखी जा सकती है?

यह जाँचने के लिए पाठ्यक्रम के दौरान कई तरह की सामग्रियाँ उपलब्ध करवाई गईं -- विभिन्न आकारों के टुकड़े या रोज़मर्रा की वस्तुएँ जो लकड़ी, धातु, मोम, मिट्टी आदि से बनी थीं। ये सामग्रियाँ ऐसी थीं जो परिकल्पना को जाँचने के अवसर दें। उदाहरण के लिए दो एक ही आयतन की परन्तु भिन्न सामग्री से बनी वस्तुएँ, यह दर्शा सकती थीं कि तैरना केवल आयतन पर निर्भर नहीं करता। प्रयोग के स्थान भी तैयार किए गए थे, जिनके साथ, निर्देश, संकेत, इशारे तथा निर्देशक प्रश्न भी थे। और पाठ्यक्रम में एक शिक्षक भी मौजूद था।

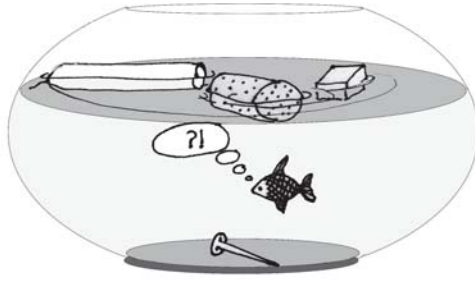

अध्ययन सीखने की दो विधियों की तुलना करता था : जिन्हें हमें 'विशुद्ध खोज' तथा 'निर्देशित खोज' कह सकते हैं। छात्रों के एक समूह को अपनी इच्छा से सामग्रियों से खेलने, अपने प्रयोग खुद ईजाद करने और विभिन्न कार्य-पत्रकों (वर्क शीटस्) को भरने को मुक्त छोड़ा गया (इसे निम्न अनुदेशात्मक सहयोग (लो इन्स्ट्रक्शनल सर्पोट)। इस समूह में जो शिक्षक उपलब्ध था वह आपस में चर्चा को प्रोत्साहित करने तथा यदा-कदा

कोई टिप्पणी के लिए था, पर वह सीखने को किसी भी रूप में कोई ढाँचा नहीं देता था। कई स्वतःस्फूर्त चर्चाएँ उभरीं और इस समूह में सीखने की प्रक्रिया निश्चित रूप से छात्र केंद्रित थी। छात्र स्वयं पहल कर, जो उनकी इच्छा हो उसे करने और सीखने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र थे। दूसरे समूह को शिक्षक से ढाँचाबद्ध निर्देश प्राप्त हुए, जिसने पाठ्यक्रम को आठ प्रकरणों में क्रमबद्ध रूप से रखा तथा केंद्रित चर्चाएँ आयोजित कीं (इसे उच्च अनुदेशात्मक सहयोग या हाई इन्स्ट्रक्शनल सपोर्ट कहा गया)। छात्रों को एक तयशुदा क्रम में प्रयोग करने तथा कार्य-पत्रकों को पूरा करने को कहा गया। यह पाठ्यक्रम छात्रों की तैरने और डूबने संबंधी अवधारणाओं को बदलने तथा उन्हें ऐसे विपरीत उदाहरणों से परिचित करवाने के लिए था जो ज्ञान की रूपरेखाओं में संशोधन को प्रोत्साहित करें। इस समूह में प्रत्येक छात्र को निर्देशों का लाभ मिला, पर उन्हें प्रयोगों तथा गतिविधियों में स्वयं पहल करने की छूट नहीं दी गई।

तो हुआ क्या ? दोनों ही समूहों ने अवधारणात्मक समझ को जाँचने के लिए तत्काल ली गई परीक्षा में समान रूप से अच्छा प्रदर्शन किया, और उस आधाररेखा समूह के बच्चों से बेहतर किया, जो पाठ्यक्रम से गुज़रे ही नहीं थे। परन्तु साल भर बाद ली गई अनुवर्ती परीक्षा में निम्न अनुदेशात्मक सहयोग या विशुद्ध खोज समूह के बच्चों का प्रदर्शन कमज़ोर हुआ। साल भर बाद इस समूह के बच्चों की कई भ्राँतियाँ वापस लौट आईं थी, जबकि निर्देशित खोज (गाइडेड डिस्कवरी) समूह की समझ सालभर बाद भी बाकायदा बरकार थी। इसी अध्ययन के समान कई अन्य शोध हुए हैं जो दर्शाती हैं कि कुशल तरीके से सीखने, स्मृति तथा नई समस्याओं पर सीखे हुए को स्थानान्तरित करने में निर्देशित खोज, विशुद्ध खोज से बेहतर है।

रिचर्ड मायर, जो एक शैक्षिक मनोवैज्ञानिक हैं, ने 2005 में भावमय गुहार की, कि 'रचनात्मकतावादी' विधि से सीखने को स्वयं 'हाथों से करके' सीखने के समतुल्य नहीं माना जाए। हम अक्सर भूलवश यह मान बैठते हैं कि रचनात्मकतावादी रूप से सीखने का तात्पर्य है *व्यवहारवादी* रूप से सक्रिय छात्र। व्यवहारवादी गतिविधियों के लोकप्रिय उदाहरणों में हाथों से किया जाने वाला कार्य, चर्चा, समूह कार्य तथा सामग्रियों की मुक्त छानबीन शामिल हैं। परन्तु मायर के अनुसार रचनात्मकतावादी रूप से सीखना हो गया है यह कह पाने के लिए न तो व्यवहारवादी गतिविधि एक आवश्यक शर्त है, न ही पर्याप्त। इसके लिए वास्तव में जिसकी ज़रूरत होती है वह है *संज्ञानात्मक* गतिविधि (आ रही सूचनाओं को देखना, उनमें से प्रस्तुत स्थिति के लिए जो प्रासंगिक हो उसे चुनना, तथा उसे पहले से मौजूद ज्ञान में व्यवस्थित तथा आत्मसात करना)। शिक्षकों के रूप में हमारे लिए शायद अपनी कक्षाओं के रंग-रूप को बदलना भर पर्याप्त नहीं है (हालाँकि यह अपने-आप में फायदेमंद हो सकता है)।

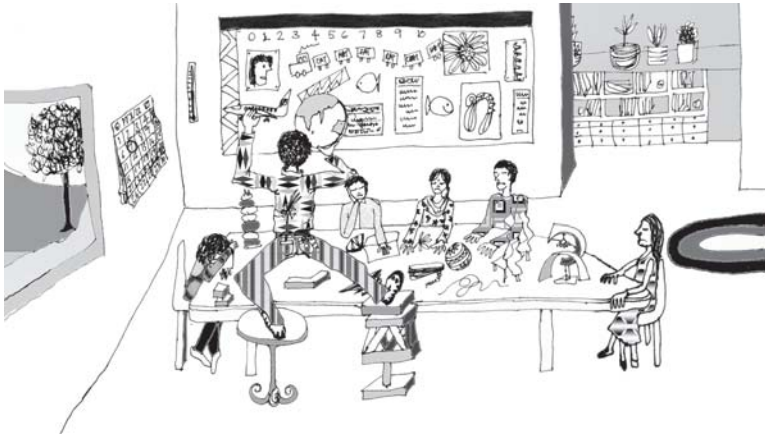

ढेरों गतिविधि, हलचल, और छात्रों की भागीदारी अपने आप में लक्ष्य नहीं होते। हम शिक्षकों को अपने पाठों का ढाँचा बनाना होता है, अवधारणाओं को उचित क्रम में रख कर सिखाना होता है, और चुनौतीपूर्ण सवाल पूछने पड़ते है (अगर हम ढंग से लिखी गई किसी पाठ्यपुस्तक के अनुसार चल रहे हों, तो इस सबमें ज़्यादातर बातों का स्वतः ही ध्यान रख लिया गया होता है)। इस पुख्ता बुनियाद पर छात्रों द्वारा की जाने वाली गतिविधि और छात्रों की पहल से हुई खुली चर्चाएँ अधिक लाभदायक होती हैं।

हम सीखने को कैसे देखते हैं वही अंततः यह तय करता है कि हमारे पढ़ाने का तरीका कैसा होगा। हमारे पढ़ाने के तरीकों में छोटे या क्रमिक बदलाव भी लाभदायक सिद्ध होंगे। अब हम सीखने के दूसरे क्षेत्र, प्रक्रियात्मक ज्ञान की ओर मुड़ते हैं।

प्रक्रियात्मक ज्ञान तथा कौशलों को सीखना

आपको याद ही होगा कि प्रक्रियात्मक रूप से सीखने का मतलब है यह जानना कि चीज़ें कैसे की जाती हैं। स्कूल में लगभग जो कुछ भी हम सिखाते हैं उस सब में कुछ हद तक प्रक्रियाओं को सीखना शामिल होता है। कैसे करना संबंधी कौशलों की आवश्यकता, गणित, ललित कलाओं, भाषा, विज्ञान, आदि-इत्यादि में पड़ती है। इन कौशलों के नमूना पेश कर (मॉडलिंग) उसके माध्यम से सिखाया जाता है; अर्थात् शिक्षक स्वयं करके उस कौशल को दर्शाता है; फिर चाहे यह किसी समीकरण को हल करना हो, वाक्यों का पद-निरूपण हो, या सुलेख हो। तब छात्र अपनी श्रेष्ठतम क्षमता के हिसाब से उसे दोहराते हैं।

परन्तु प्रक्रियात्मक रूप से सीखना केवल उन कामों तक सीमित नहीं होता जो छात्र स्कूल में करते हैं। दरअसल यह मस्तिष्क में एक पृथक व बेहद महत्त्वपूर्ण सीखने की विधि का

प्रतिनिधित्व करता है, जिसके बिना हमारे जीवन ही गड़बड़ा जाए (हम कुछ कर ही न सकें)। प्रक्रियात्मक रूप से सीखना हमेशा चलता रहता है, ठीक उसी प्रथम दिन से प्रारंभ हो जाता है, जब शिशु करवट बदलना, रेंगना, चीज़ों को थामने के लिए हाथ बढ़ाना, सार्थक ध्वनियाँ निकालना... चम्मच का उपयोग करना, जूते के तस्मे बाँधना, साईकिल चलाना, माचिस जलाना... सड़क पार करना, किसी समीकरण को संतुलित करना, रोटी बनाना, आदि सीखता है। वयस्कों के रूप में हम लगातार नई प्रक्रियाएँ सीखते हैं, स्कूटर चलाना, टाइप करना, या किसी नई मशीन को चलाना। इन तमाम विभिन्न परिस्थितियों में जो समान हैं वे हैं :

- ये सभी प्रक्रियाएँ करने पर ही सबसे अच्छी तरह से सीखी जा सकती हैं न कि मौखिक निर्देशों का पालन कर, या दूसरों को इन कार्यों को करते देख;
- बार-बार उद्‌भासन (एक्सपोज़र) तथा अभ्यास से इनमें सुधार होता है;
- ये अव्यक्त होती हैं, या इन्हें शब्दों में अभिव्यक्त करना आसान नहीं होता (उदाहरण के लिए यह मुगल शासकों की सूची को याद कर लेने से भिन्न होता है)।
- एक बिन्दु के बाद यह स्वचालित, प्रयासहीन और अक्सर हमारे सचेतन नियंत्रण के बाहर हो जाती हैं।

प्रक्रियात्मक रूप से सीखने में, बार-बार उद्‌भासन से प्रदर्शन में तब तक सुधार आता जाता है, जब तक कि अभ्यास द्वारा वह कौशल स्वचालित न बन जाए। किसी कौशल को सीखना किसी अवधारणा को सीखने से पूर्णतः भिन्न होता है। इन दोनों में एक अत्यावश्यक भेद है अभ्यास की आवश्यकता। मनोवैज्ञानिक हमें बताते यह हैं कि किसी प्रक्रियात्मक कौशल को प्रभावी रूप से सीखने का एकमात्र तरीका है उसे दोहराते जाना। स्कूल में हम जो 'निरर्थक' अभ्यास करते हैं उसका मूल लक्ष्य संभवतः यही होता है। मनोविज्ञान तथा शिक्षा के विषय में एक सामान्य बात कहने का यह उचित समय है। जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रियात्मक रूप से सीखने पर शोध करते हैं वे इष्टतम सीखने की उन आदर्श परिस्थितियों की छानबीन कर रहे होते हैं जो इस प्रक्रिया में अंतर्निहित हो। उदाहरण के लिए वे बताते हैं कि किसी प्रक्रिया को सीखने का एकमात्र तरीका है लगातार अभ्यास, और वह भी ढेर-सा। अब किसी शिक्षक को इस पर कैसी अनुक्रिया करनी चाहिए? क्या हमें छात्रों पर ढेर दोहराव व अभ्यास लाद देना चाहिए?

बारंबार दोहराव तथा उसके घातक परिणाम के बारे में इतना कुछ कहा जा चुका है कि मैं उसमें कुछ और जोड़ना नहीं चाहती। कई शिक्षक इन दो विरोधाभासी तथ्यों से परिचित ही हैं -- दोहराव उबाऊ हो सकता है, तथापि अभ्यास कुछ प्रक्रियाओं में महारत हासिल करने का एकमात्र तरीका होता है। दोहराव में समस्या तब होती है जब हम यह मान लेते हैं कि वह **समझ का स्थान ले सकता है**। अवधारणाएँ और प्रक्रियाएँ दो

जरूरत से ज्यादा ड्रिल...

भिन्न चीजें हैं, छात्रों को इन दोनों को ही सीखना पड़ता है। अभ्यास **अकेले** अवधारणात्मक ज्ञान की ओर नहीं ले जाता, और **केवल** समझ, प्रक्रिया पर काबिज नहीं होने देता।

पहले जब हम जन्मजात रूप से सीखने की बात कर रहे थे, हमने देखा था कि अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक ज्ञान, दोनों ही उसका हिस्सा होते हैं। बहुत छोटे बच्चे स्वतःस्फूर्त रूप से, पर बड़े श्रम से अपने प्रक्रियात्मक कौशलों का अभ्यास करते हैं। वे कुछ ध्वनियाँ या कृत्य बारंबार, तब तक दोहराते हैं, जब तक उन पर अधिकार न स्थापित कर लें। शैशव से ही हम यह प्रवृत्ति उनमें देखते हैं -- लगता यह है कि बच्चों को दोहराव में मज़ा आता है, और हम इसे 'खेल' कहते हैं। कितना अद्‌भुत हो अगर हमारे छात्र एक पन्ने भर गणित के सवालों को 'खेल' कह पाते! परन्तु गैर-जन्मजात प्रक्रियाएँ एक हद के बाद मजेदार नहीं लगतीं। अगर छात्रों का बस चलता तो वे उस तरह का दोहराव कभी न करते जिसकी ज़रूरत किसी प्रक्रिया पर काबिज़ होने के लिए पड़ती है।

अतिशय दोहराव से असंतोष हममें से कुछ को प्रक्रियाओं को सीखने की कीमत पर अवध ाारणात्मक समझ पर बल देने की दिशा में ले जाता है, ऐसा डेविड गिअरी का कहना है (हम अध्याय एक में उनसे मिल चुके हैं)। गिअरी का सरोकार यह है कि छात्रों को यह सुझाना कि सीखना हमेशा मज़ेदार ही होना चाहिए, फायदे से अधिक नुक्सान ही पहुँचाता

है। कुछ तरह के सीखने को सामाजिक अर्थ तथा समर्थन दिया जाना चाहिए, ताकि छात्र मज़ेदारी के अभाव के बावजूद अभ्यास करने को प्रोत्साहित हो सकें। अधिक 'प्रगतिशील' शिक्षा प्रणालियों में, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका की प्रणाली में, यह एक जायज़ सरोकार हो सकता है। परन्तु भारत में हमारे लिए, दोहराव पर अब तक भी नाजायज़ बल दिया जाता है और कई कक्षाओं में अवधारणात्मक समझ की अनदेखी की जाती है। हमें दरअसल जिसकी ज़रूरत है वह है दोनों प्रकार के सीखने में संतुलन की।

इस विचार का कि लोग अक्सर ऐसी चीजें भी करते हैं जो आवश्यक रूप से 'मजेदार' न हों, संबंध उत्प्रेरणा से है। उसकी चर्चा अध्याय आठ में की गई है। परन्तु यहाँ भी इस विचार पर कुछ वाक्य प्रासंगिक होंगे। ज़ाहिर है कि बच्चों में 'जन्मजात' कौशलों के अभ्यास का उत्प्रेरण होता है, तथा हालाँकि कुछ अर्थों में कमी आने के बावजूद बच्चे 'गैर-जन्मजात' कौशलों के अभ्यास के प्रति भी उत्प्रेरणा दर्शाते हैं। यह परवर्ती उत्प्रेरणा कुछ भिन्न प्रकार की होती है -- इसमें खेल का अभाव हो सकता है, परन्तु छोटे-छोटे सुधारों से पुरस्कृत होने का भाव जगता है और कुण्ठाओं के बावजूद हमें उस काम में जुटे रहने देता है। दीर्घकालिक अभ्यास करने की उत्प्रेरणा हमें कई वर्षों में विविध क्षेत्रों में विशेषज्ञ बनने में मदद कर सकता है। कृपया ध्यान दें कि हम स्कूली कार्य की उस उत्प्रेरणा की बात नहीं कर रहे हैं जो सज़ा पाने के डर से उपजता है। इस तरह की प्रेरणा तो अंततः स्वयं को ही परास्त करने वाली होती है।

दोहराव क्या वास्तव में समझने में मदद कर सकता है ? कई शिक्षाविदों का मानना है कि अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक ज्ञान का रिश्ता इकतरफा है -- अर्थात् किसी अवधारणा को अच्छी तरह समझना उसकी प्रक्रिया को सीखने में सुधार लाता है, परन्तु प्रक्रिया को बखूबी सीखने से अवधारणा की समझ बेहतर नहीं होती। फिर भी हालिया शोध उन उपायों की छानबीन कर रही है, जिनसे प्रत्येक दूसरे को सुधार सके, और अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक रूप से सीखने के बीच लगातार आगे-पीछे जाया जा सके। अब लगने यह लगा कि दोनों के बीच का संबंध वास्तव में दो-तरफा भी हो सकता है। प्रक्रिया के उपयोग पर सोच-विचार अवधारणा की हमारी समझ को पुष्ट करता है। हमें अपने छात्रों से पूछना चाहिए कि कुछ प्रक्रियाएँ *क्या* वास्तव में कारगर हैं, और अगर हैं तो *क्यों* कारगर हैं जबकि अन्य तरीके गलत हैं। उदाहरण के लिए बड़ी संख्याओं को जोड़ते समय यह क्यों महत्त्वपूर्ण होता है कि उन्हें दूसरी संख्या के नीचे एक खास तरीके से रखा जाए?

बेहतर प्रक्रियात्मक ज्ञान का एक दूसरा लाभ यह है कि जब कोई कौशल स्वचालित बन जाता है, तब मानसिक संसाधन और ध्यान उच्चतर स्तर की तर्कणा के लिए आज़ाद किए जा सकते हैं। ये हैं नियोजन, प्रबोधन, सह-संबंध बनाना तथा मूल्यांकन करना। हम सब जानते हैं कि किसी नई भाषा में मूल-पाठ का अर्थ समझना तब तक श्रमसाध्य और

कठिन होता है जब तक हम शब्दों को पढ़ने में स्वचालितता (धारा-प्रवाह) तक नहीं पहुँच जाते। अध्याय तीन में इस परिघटना पर अन्य उदाहरणों के साथ और चर्चा की गई है।

इसलिए, अभ्यास अपने आप में बुरी चीज़ नहीं है, पर हमें इसके उपयोग को इष्टतम बनाना चाहिए। अच्छे अभ्यास के सिद्धान्त यह हैं कि इसमें :

- एक सत्र में एकाधिक *प्रक्रियाओं का मिश्रण* होना चाहिए;
- एक *लंबे अर्से के दौरान इसे छोटी मात्रा* में दिया जाना चाहिए (कुछ मनोवैज्ञानिक सुझाते हैं कि किसी भी एक कौशल पर प्रतिदिन 20 मिनट से अधिक नहीं लगाए जाने चाहिएँ);
- कुछ प्रक्रियाएँ कारगार क्यों रहती हैं *पर चिंतन* इसका पूरक होना चाहिए।

'समझाने के लिए पढ़ाना' के जुमले को सामान्यतः स्वयं को अवधारणात्मक शिक्षण तक सीमित करना मान लिया जाता है। परन्तु, अगर इस भाग के अंत में आप इसे अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक रूप से सीखना, दोनों को समेटना समझेंगे, तो मेरा उद्देश्य हासिल हो चुका होगा।

संदर्भ-आश्रित तर्कशक्ति

1985 में मनोवैज्ञानिक डेविड पर्किन्स ने शिक्षण के विषय में यह लिखा, 'उम्मीद यह है कि 12 वर्ष या उससे भी अधिक सालों के अध्ययन के बाद छात्र न केवल बेहतर तरीके से पढ़-लिख, समझ, या कुछ खास तथ्यों को याद कर पाएँगे, बल्कि सोच भी सकेंगे।' पार्किन्स ने सोचने की इस क्षमता को '**अनौपचारिक तर्कशक्ति**' या रोज़मर्रा की तर्कशक्ति कहा था। उन्होंने इस बात पर शोक व्यक्त किया कि स्कूल इसे पोषित करने पर या तो बहुत कम, या कतई ध्यान नहीं देते। अनौपचारिक तर्कशक्ति, औपचारिक तर्कशक्ति से इस अर्थ में भिन्न होती है कि इसमें कठोर निगमन (डिडक्शन) या परिकलन (कैलक्यूलेशन) नहीं किया जाता। जब भी हम किसी दावे या परिस्थिति का सामना करते हैं, हमें अक्सर उसके दोनों पक्षों के सबूतों को तोलने के बाद उसका मूल्यांकन करना पड़ता है। उदाहरण के बतौर अगर आपसे पूछा जाए 'क्या टेलिविज़न तथा कम्प्यूटर खेलों की हिंसा, समाज में हिंसा को बढ़ाती है ?' आपका उत्तर सीधे-सीधे हाँ या ना में नहीं हो सकता। आपको कई तरह के साक्ष्यों पर विचार करना होगा, सभी पक्षों को सावधानी से तोलना होगा। उम्दा अनौपचारिक तर्कशक्ति में तर्क की कई धाराएँ शामिल होंगी, स्वयं अपने ही बिन्दुओं पर अनेक आपत्तियाँ होंगी और चर्चित मुद्दे पर टिके रहने की क्षमता भी होगी।

परन्तु स्कूल तथा कॉलेज के स्नातकों के साथ की गई पार्किन्स की शोध ने दर्शाया कि लोगों की अनौपचारिक तर्कशक्ति का कौशल आश्चर्यजनक रूप से कमज़ोर थे। इन

लोगों से जो सवाल पूछे गए उन पर बहुत ही कम तर्क प्रस्तुत किए गए और अपने तर्क पर उठाई गई आपत्तियाँ तो और भी कम थीं (पर यह बात मुझे चकित नहीं करती)। किसी भी मुद्दे की स्वाल्प-छानबीन (अन्डर एक्सप्लोरेशन) करने की प्रवृत्ति पर पहले भी शोध की जा चुकी है। छात्रों के पास जितना भी प्रासंगिक ज्ञान मौजूद होता है, वे उसके केवल कुछ ही भाग तक पहुँच उसका उपयोग करते हैं, और उनकी तर्कणा उनकी बौद्धिक क्षमता से काफी कम होती है। कई लोग केवल एक ही तर्क देते हैं और उससे ही संतुष्ट हो जाते हैं। इसे कई बार 'जड़ ज्ञान' (इनर्ट नॉलेज) की समस्या कहा जाता है, जो मुझे उपयुक्त लगता है। छिछला तथा संकीर्ण होने के साथ ही यह चिंतन अक्सर जल्दबाज़ी वाला या आवेगपूर्ण, अस्पष्ट या एक अटकल भर होता है।

जैसा पार्किन्स कहते हैं, शिक्षा खुले (ओपन-एन्डेड) मुद्दों को संबोधित करने की क्षमता को प्रोत्साहित नहीं करती। स्कूली कार्य सही जवाबों का तेज़ी से समापन और रेखीय चिंतन पर केंद्रित होते हैं। जबकि वास्तविक जगत की कई परिस्थितियों में खुले मुद्दों पर चिंतन की ज़रूरत पड़ती है। हमारे कई निर्णयों को -- जिनका सरोकार धन से लेकर स्वास्थ्य, या संबंधों से हो -- उन सबको बेहतर तर्कशक्ति द्वारा सुधारा जा सकता है। अतः इस अध्याय के लिए प्रश्न यह है : क्या हम बेहतर चिंतन करना *सीख* सकते हैं? शोध ने दिखाया है कि इसके दो संभावित नज़रिए हो सकते हैं। पहला नज़रिए है चिंतन को एक पृथक विषय की तरह पढ़ाना, और इस प्रकार के कई कार्यक्रम स्कूली उम्र के बच्चों के लिए विकसित कर जाँचे गए हैं। ऐसे सभी कार्यक्रम दो काम करते हैं, वे छात्रों को उनके चिंतन की प्रक्रिया के प्रति (उसकी मज़बूतियाँ, कमज़ोरियाँ, संभव खतरों के प्रति) सचेत करते हैं और उनके चिंतन को रणनीतियों की मदद से पुनःव्यवस्थित करते हैं। इसका अच्छा उदाहरण है मैथ्यू लिपमैन द्वारा रचित बेहद सफल आलोचनात्मक चिंतन का कार्यक्रम। परन्तु ऐसे कार्यक्रमों की एक समस्या यह है कि उसमें बहुमूल्य स्कूली समय खपाना पड़ता है -- तकरीबन आठ सप्ताहों तक प्रति सप्ताह दो या तीन कालाँश। भारतीय पाठ्यचर्या में एक अतिरिक्त विषय के लिए स्थान भला कहाँ है? दूसरी समस्या है कि ऐसे कार्यक्रम विषय-वस्तु की सूचना से कन्नी काटते हैं और अमूर्त समस्याओं या पहेलियों से चिपके रहना पसंद करते हैं। परन्तु ऐसा करना स्थितिपरक चिंतन (सिच्यूएटेड थिंकिंग) का कौशल नहीं भी दे सकता है, जो ज्ञान तथा विशेषज्ञता के किसी क्षेत्र को विकसित करने के लिए महत्त्वपूर्ण होता है।

बॉक्स-2

पारस्परिक अध्यापन

मनोवैज्ञानिक एन ब्राउन तथा उनके सहकर्मियों ने 1980 के दशक में पारस्परिक अध्यापन विधि विकसित की और उसे जाँचा। यह आपकी कक्षा को एक **सहयोगी सीखने वाले समुदाय** में बदलने का तरीका है, जिसमें छात्र स्वयं अपने सीखने की

ज़िम्मेदारी ले लेते हैं। यह तरीका चुनौतीपूर्ण पाठ सामग्री को समझने के माध्यम के रूप में छात्रों (तथा एक शिक्षक) के बीच संवाद का उपयोग करता है और इस प्रक्रिया के दौरान छात्रों के अधि-संज्ञानात्मक (मैटाकॉग्नेटिव) कौशलों को सुधारता है। पाठ किसी भी विषय का हो सकता है, और यह ज़रूरी होता है कि उसे छोटे अंशों में, सामान्यतः अनुच्छेदों में, बांट दिया जाए।

इस विधि का उपयोग 6 से 17 विद्यार्थियों के समूह में किया गया है। परन्तु अगर आपकी कक्षा अधिक बड़ी हो तो निराश न हों, आप छात्रों के छोटे समूहों में, शिक्षक के न्यूनतम सहयोग से पारस्परिक सीखने की विधि के पीछे जो विचार हैं उनका उपयोग कर सकते हैं। आप अपनी कक्षा को 6 से 8 छात्रों के कई समूहों में बांट सकते हैं, और स्वयं जहाँ भी मार्गदर्शन या मदद की ज़रूरत हो वहाँ जा सकते हैं। प्रारंभ में शिक्षक के रूप में आपको स्वयं चारों कौशलों का प्रदर्शन करना होगा : सार-संक्षेप करना, स्पष्टीकरण, प्रश्न पैदा करना और भविष्यवाणी करना (नीचे दिए गए वर्णन को देखें)। क्रमशः आपके छात्रों को 'तरीका समझ आने लगेगा' और वे खुद-ब-खुद काम जारी रख सकेंगे।

समूह के सभी छात्र एक साथ एक अनुच्छेद पढ़ते हैं, और तब कोई एक छात्रा उसका सारांश अपने शब्दों में रखती है। अगली छात्रा उन हिस्सों को स्पष्ट करती है जो समझने में कठिन हों, या समूह की मदद से संभव असंगतियों को स्पष्ट करती है। तीसरी छात्रा पाठ पर आधारित प्रश्न पूछती है। यह सवाल ऐसा हो सकता है जिसका जवाब अनुच्छेद में ही दिया गया हो, या ऐसा भी जो पढ़ने से उपजा हो। इसके बाद कोई अन्य छात्र, अब तक पढ़े गए पाठ के आधार पर, और उस विषय पर अपने सामान्य ज्ञान के आधार पर यह भविष्यवाणी करता है कि अगले अनुच्छेद में क्या लिखा गया होगा। इसके बाद समूह पाठ के अगले हिस्से की ओर बढ़ता है और ठीक यही प्रक्रिया समूह के चार अन्य छात्र-छात्राओं के साथ दोहराई जाती है।

कागज़ी वर्णन से यह विधि इतनी सरल लगती है कि इसके प्रभावी होने पर भी शंका हो सकती है। पर आज़मा कर तो देखें! यह उस स्तर की गहराई को ही बदल देता है, जिस स्तर पर छात्र पाठ पढ़ते हैं, और साथ ही उनकी समझ के स्तर को भी। क्रमशः कठिन पाठों को पढ़ने की यह विधि छात्रों में आत्मसात हो जाती है, और वे 'सीखने के

लिए पढ़ने' लगते हैं और साथ ही सामग्री की अपनी समझ का स्वयं प्रबोधन भी कर पाते हैं।

दूसरा नज़रिए दोनों ही समस्याओं का एक ही झटके में समाधान कर देता है, यह है विभिन्न विषयों के माध्यम से बेहतर सोचना सिखाना। पार्किन्स इसे **अंतर्वेशन** (इन्फ्यूज़न) कहते हैं, क्योंकि इससे उम्मीद यह रहती है कि ये कौशल सामान्य चिंतन में भी फैल जाएँगे। इसका श्रेष्ठतम उदाहरण पारस्परिक अध्यापन है, जो 1980 में मनोवैज्ञानिक एन ब्राउन ने विकसित किया था। इसका विस्तृत वर्णन बॉक्स-2 में दिया गया है। इस विधि का उपयोग किसी भी विषय की सामग्री के लिए किया जा सकता है, और यह *सामग्री की अपनी निजी समझ के प्रति जागरूकता* को भी प्रोत्साहित करता है। इस जागरूकता का एक भला-सा नाम है : अधिसंज्ञान (मैटाकॉग्निशन)। सरल शब्दों में यह वह जानने की क्षमता है कि व्यक्ति स्वयं क्या जानता है, कितनी अच्छी तरह से उसे जानता है, और अपने ज्ञान को सुधारने में क्या उसकी मदद करेगा। आपको यह जानकर अचरज होगा कि यह क्षमता अधिकतर छात्रों में नहीं होती है। सामान्यतः लोग अपने ज्ञान व समझ को वास्तव से कहीं अधिक या फिर बहुत कम आँकते हैं और फलतः सीखने के लिए उपयुक्त रणनीतियों का उपयोग नहीं करते। अध्याय चार बाल विकास पर है, उसमें आप बाल्यावस्था में अधिसंज्ञानात्मक क्षमताओं के बारे में और पढ़ेंगे। अधिसंज्ञान निश्चित रूप से अनौपचारिक तर्कणा का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।

अंतर्वेशन इस हद तक भी काम कर सकता है कि अधिक ज्ञान अपने आप में ही हमारी तार्किक क्षमता को सुधार दे। कुछ मनोवैज्ञानिक अति करते हुए यह दावा भी कर सकते हैं कि बढ़िया तर्कशक्ति सुव्यवस्थित ज्ञान के आधार से भिन्न कुछ है ही नहीं! जो व्यक्ति समाजशास्त्र, बाल्यावस्था तथा सहसंबंध-एवं-कार्यकारण के बारे में कुछ जानता हो क्या वह टी.वी. पर हिंसा संबंधी प्रश्न पर उस व्यक्ति से बेहतर तर्क प्रस्तुत कर सकेगा, जो इन विषयों पर कुछ भी नहीं जानता हो? ऐसा संभव है। यहाँ विचार यह है कि अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक ज्ञान, दोनों ही विभिन्न क्षेत्रों में विकसित होते हैं (गणित, विज्ञान, भाषा इतिहास आदि-इत्यादि)। जो ज्ञान और कौशल यों विकसित होते हैं, वे विभिन्न क्षेत्रों में सामन्यीकृत भी होते जाते हैं और अंततः उनका उपयोग तर्कणा की नई स्थितियों में भी किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में अगर हम अपने विषय कुछ इस प्रकार पढ़ाएँ कि छात्रों की तर्कशक्ति किसी *संदर्भ* में विकसित हो, तो हम यह भी सुनिश्चित करते हैं कि हमारे छात्रों को अधिक तथा बेहतर रूप से व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त हो, जो पलटकर उनकी *सामान्य* तार्किक क्षमताओं को भी बेहतर बना दे। बुद्धिमत्ता पर सातवें अध्याय में आप इस बारे में और पढ़ेंगे, क्योंकि बुद्धिमत्ता को परिभाषित करने का एक तरीका सामान्य तर्कशक्ति भी है।

मेरा निजी समाधान होगा अवधारणात्मक तथा प्रक्रियात्मक समझ को ध्यान में रखते हुए

विषयों को पढ़ाना, जहाँ भी संभव हो पारस्परिक अध्यापन विधि का उपयोग करना और अपने छात्रों से सीखने, समझने, और याद रखने की प्रकृति पर यदाकदा बातचीत करना। अगर आप सप्ताह में एक कालाँश खुले सवालों पर चर्चाओं के लिए रख सकते हैं, तो यह छात्रों को अनौपचारिक तार्किक कौशलों के अभ्यास में मदद करेगा। इन सत्रों में छात्रों को कमज़ोर तर्कशक्ति के खतरों के प्रति भी चेताएँ : संकीर्णता, छिछलापन, असटीक चिंतन, बोलते समय विषय बदल देना... और उन्हें खुद भी अन्य खतरे सुझाने दें।

निष्कर्ष

होता यह है कि हम अपने छात्रों की सीखने की क्षमता को कमतर आंकते हैं -- कुछ शिक्षक हमेशा ही यह करते हैं, और सभी शिक्षक कभी-कभार तो ऐसा करते ही हैं। अतः सीखने की पेचीदगी तथा उसकी परिष्कृत प्रकृति को ध्यान में रखना अच्छा रहता है, और मानव के सीखने के सिद्धान्तों के साथ बढ़ना भी। मानव स्मृति की परिघटना का सीखने से घनिष्ठ संबंध हैं, जिसकी चर्चा अगले अध्याय में है। दरअसल ये दोनों एक ही हैं : सीखने का मतलब है याद रखना। अध्याय तीन में आप फिर से कुछ भिन्न शब्दावली के साथ अवधारणाओं तथा प्रक्रियाओं से मिलेंगे, और साथ ही स्मृति के अन्य बिल्कुल भिन्न पक्षों से भी परिचित होंगे।

संदर्भ एवं ग्रंथसूची

1. ब्रैनस्फोर्ड जे., आर. शेरवुड, एन. व्ये, तथा जे. राइज़र, 1986। 'टीचिंग थिंकिंग एण्ड प्राब्लम सॉल्विंग'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट,* खण्ड-41, संख्या-10, 1078-89
2. ची, एम.टी.एच., 2005। 'कॉमनसेंस पर्सेप्शन ऑव इमर्जेंट प्रोसेसेस : व्हाय सम मिसकन्सेप्शन आर रोबस्ट' *द जर्नल ऑव द लर्निंग साइन्सेस, 14(2), 164-99.*
3. एरिकसन, के.ए., आर.टी. क्रैम्पे, तथा सी. टेश-रेमियर, 1993। 'द रोल ऑव डेलिबेरेट प्रैक्टिस इन द एक्विज़िशन ऑव एक्स्पर्ट परफोर्मेंस'। *साइकोलॉजिकल* रिव्यू, खण्ड-100, संख्या-3, 363-406
4. गिअरी, डी.सी., 1995। 'रिफ्लेक्शन्स ऑव एवोल्यूशन एण्ड कल्चर इन चिल्ड्रन्स् कॉग्निशन : इम्पलिकेंशन्स फॉर मैथेमैटिकल डेवलमेंट एण्ड इन्स्ट्रक्शन'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट,* खण्ड-50, संख्या-1, 24-37
5. गिअरी, डी.सी, 1996। 'द एवोल्यूशन ऑव कॉग्निशन एण्ड द सोश्यल कंस्ट्रक्शन ऑव नॉलेज'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट,* खण्ड-51, संख्या-3, 265-66
6. ग्लेसर, आर., 1984। 'एज्युकेशन एण्ड थिंकिंग : द रोल ऑव नॉलेज'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट,* खण्ड-39, संख्या-2, 93-104
7. ग्लासमैन, एम., 1996। ' द आर्ग्यूमेंट फॉर कंस्ट्रक्टिविज़्म'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट,* खण्ड-51, संख्या-3 : 264-65
8. गोल्ड, ई., पी. टैनापैट, एन.बी. हेस्टिंग्स तथा टी.जे.शोर्स, 1999। 'न्यूरोजेनेसिस इन एडल्टहुड :

अ पॉसिबल रोल इन लर्निंग'। *ट्रेन्डस इन कॉग्निटिव साइन्सेस।* खण्ड-3, संख्या-5

9. हार्डी, आई., ए. जोनेन, के. मोल्लेर, तथा ई. स्टर्न, 2006। 'इफेक्टस ऑव इन्स्ट्रक्शनल सपोर्ट विदिन कन्स्ट्रक्टिविस्ट लर्निंग एन्वायरन्मेंट फॉर एलिमेंट्री स्कूल स्टूडेन्टस् अन्डरस्टैंडिंग ऑव 'फ्लोटिंग एण्ड सिंकिंग'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* 98(2), 307-26.

10. कील, एफ.सी., डब्ल्यू.सी.स्मिथ, डी.जे.सिमन्स् तथा डी.टी.लेविन, 1998। 'टू डॉग्मास् ऑव कन्सैप्च्यूअल एम्पेरिसिज्म : इम्पलिकेशन्स फॉर हाइब्रिड मॉडल्स ऑव द स्ट्रक्चर ऑव नॉलेज' *कॉग्निशन,* 65; 103-35.

11. लूइस, ए.बी., 1989। 'ट्रेनिंग स्टूडेन्टस टु रिप्रेजेन्ट अरिदमैटिक वर्ड प्रॉब्लम्स'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-81, संख्या-4, 521-31.

12. मायर, आर.ई., 1992। 'कॉग्निशन एण्ड इन्स्ट्रक्शन : देयर हिस्टॉरिक मीटिंग विदिन एज्युकेशनल साइकॉलोजी'। जर्नल *ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-84, संख्या-4, 405-12

13. मायर, आर.ई., 2004। 'शुड देयर बी अ थ्री-स्ट्राइक्स टूल अगेन्स्ट प्यूर डिस्कवरी लर्निंग?' द केस फॉर गाइडेड मेथडस् ऑव इन्स्ट्रक्शन'। *अमेरिकन साईकोलॉजिस्ट,* खण्ड-59, संख्या-1, 14-19

14. नेल्सन, सी.ए., 1999। 'चेंज एण्ड कन्टिन्यूइटी इन न्यूरोबिहेवियरल डेवलपमेंट : लैसन्स फ्रॉम द स्टडी ऑव न्यूरोबायोलॉजी एण्ड न्यूरल प्लास्टिसिटी'। *इन्फैन्ट बिहेवियर एण्ड डेवलपमेंट,* खण्ड-22, संख्या-4

15. पैलिन्स्कर, ए.एस., तथा ए.एल.ब्राउन, 1984। 'रेसिप्रोकल टीचिंग ऑव क्रॉम्पिहैन्शन फॉस्टारिंग एण्ड मॉनिटरिंग एक्टिविटीज़'। *कॉग्निशन एण्ड इन्स्ट्रक्शन, 1(2), 117-75*

16. पर्किन्स, डी.एन., 1985। 'पोस्टप्राइमरी एज्युकेशन हैज़ लिटल इम्पैक्ट ऑन इनफॉरमल रीज़निंग'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साईकोलॉजी,* खण्ड-77, संख्या-5, 562-71

17. पर्किन्स, डी. एन., तथा टी. ए. ग्रोत्ज़र, 1997। 'टीचिंग इन्टैलिजेन्स'। *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट,* खण्ड-52, संख्या-10, 1125-33

18. पैरी, एम., एस.डब्ल्यू. वैण्डरस्टोएप, तथा एस.एल.यू, 1993। 'आस्किंग क्वैश्चन्स इन फर्स्ट ग्रेड मैथेमैटिक्स क्लासेसः पोटेंशियल इन्फ्लुएन्सेस ऑन मैथेमैटिकल थॉट'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-85, संख्या-1, 31-40

19. फिलिप्स, डी.सी., 1997। 'हाऊ, व्हाय, व्हॉट, व्हैन एण्ड व्हेयर : पर्सपैक्टिव्स ऑन कंस्ट्रक्टिविज़्म इन साइकॉलजी एण्ड एज्युकेशन'। *इश्यूस इन एज्युकेशन,* खण्ड-3(2), 151

20. पिआजे, जे., 1970। *'साइन्स ऑव एज्युकेशन एण्ड द साइकॉलजी ऑव द चाइल्ड'।* ओरियन प्रेस, न्यू यॉर्क।

21. पिंकर, एस., 2003। 'हाउ टु गेट इन्साइड ए स्टूडेन्टस् हैड'। द न्यू यॉर्क टाइम्स, जनवरी, 31, 2003

22. पोस्नर, एम.आई., तथा जी.जे. डिगिरोलामो, 2000। 'कॉग्निटिव न्यूरो साइन्स : ओरिजन्स एण्ड प्रॉमिस'। *साइकॉलजिकल बुलेटिन,* खण्ड-126, संख्या-6, 873-89

23. रिटल-जॉनसन, बी., आर.एस. सीग्लर, तथा एम.डब्ल्यू अलीबली, 2001। 'डेवलपिंग कन्सैप्च्यूअल अन्डरस्टैंडिंग एण्ड प्रोसीज़रल स्किल इन मैथेमैटिक्स : एन आइटरैटिव प्रोसेस'। जर्नल ऑव

एज्युकेशनल साइकॉलजी, खण्ड-93, संख्या-2, 346-62.

24. सीग्लर, आर.एस., 2005। 'चिल्ड्रन्स लर्निंग'। *अमैरिकन साइकोलॉजिस्ट,* 60, 769-78

25. सकोयल्स, जे.आर., 1999। 'न्यूरल प्लास्टिसिटी एण्ड एक्जैप्टेशन'। अमेरिकन साइकॉलजिस्ट, 54, 438-39

26. सोल्सो, आर.एल., 2001। *कॉग्निटिव साइकॉलजी।* पियरसन एज्युकेशन (सिंगापुर), पीटीई लिमिटेड, दिल्ली

27. स्टेफिलिडाउ, एस., तथा एस.वॉस्निआडाउ, 2004। 'द डेवलपमेंट ऑव स्टूडेन्टस् अन्डरस्टैंडिंग ऑव द न्यूमेरिकल वैल्यू ऑव फ्रैक्शन्स'। *लर्निंग एण्ड इन्स्ट्रक्शन, 14, 503-18*

28. वैम्वाकोस्सि, एक्स., तथा एस. वॉस्निआडाउ, 2004। 'अन्डरस्टैंडिंग द स्ट्रक्चर ऑव द सेट ऑव रैशनल नम्बर्स : अ कंस्सैप्चूअल चेंज एप्रोच'। *लर्निंग एण्ड इन्स्ट्रक्शन,* 14, 453-67

❑❑❑

अध्याय तीन

स्मृति

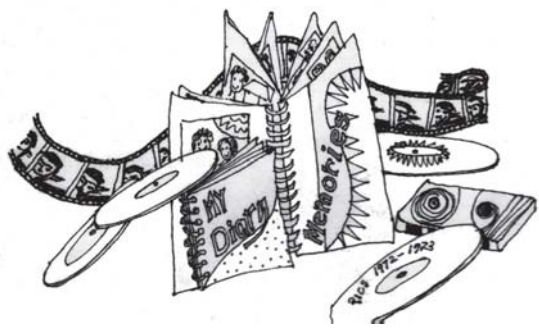

इन शब्दों को कम्प्यूटर के एक कोरे पन्ने पर टंकित करते समय किसी पृष्ठ को लेखन से भरने और मस्तिष्क को ज्ञान से 'भरने' में अंतर की ओर ध्यान जाता है। इन अंतरों को सूचीबद्ध करने पर इंसान की स्मृति तथा सीखने की कुछ बेहद महत्त्वपूर्ण विशिष्टताएँ रेखांकित करने में मदद मिलती है :

- मैं जो कुछ लिखूँगी, वह ठीक इसी रूप में, संभवतः हमेशा के लिए बना रहेगा। परन्तु इसके विपरीत मनुष्य की स्मृति बेहद सारांश - तथा अर्थ-अभिमुख होती है। कुछ भी तब तक शब्दशः न तो संग्रहित होता है, न ही याद किया जा सकता है, बशर्ते ऐसा इरादतन न किया जाए (जैसे तब, जब हम किसी कविता को कंठस्थ करते हैं)।
- जिस पन्ने पर मैं टाइप करती हूँ, वह कोरा है, और टाइप करने पर नए वाक्य, पुराने वाक्यों को नहीं बदल देते (शुक्र है!)। इसके विपरीत मानव स्मृति, मौजूदा व्यवस्थित सूचना में नई सूचना को समाविष्ट करते हुए काम करती है। और नई सूचना, पुरानी को रूपान्तरित करती है : अगर मैं दक्षिण भारत के पक्षियों के बारे में कुछ पढ़ती हूँ, तो वह उन पक्षियों के विषय में मेरे मौजूदा ज्ञान आधार को बदल देता है। कुछ भी शब्दशः दर्ज नहीं होता; कुछ भी अपरिवर्तित नहीं रहता।

- मैं जिस फाइल पर टाइप करती हूँ, वह किसी फोल्डर में सुरक्षित होती है, जो किसी दूसरे में और वह भी किसी अन्य फोल्डर में होती है... और यह क्रम चलता जाता है। तो उस फाइल तक पहुँचने के लिए आपको एक विशेष क्रम में फोल्डरों की एक कड़ी खोलनी पड़ती है, और इस कड़ी का क्रम तयशुदा होता है। इस फाइल के अंदर, सूचना रेखीय रूप में संग्रहित होती है, अर्थात् एक वाक्य के बाद दूसरा आता है। इसके विपरीत मानव स्मृति अद्‌भुत रूप से पेचीदा और सूक्ष्म तरीकों से व्यवस्थित होती है -- दरअसल, संदर्भ के अनुसार विभिन्न स्मृतियाँ एक-दूसरे से जुड़ी लगती हैं, अतः वे एक-दूसरे को उभारती हैं। मैं किसी स्मृति को, कई पथों से पुनः प्राप्त कर सकती हूँ।

कई बार हम शिक्षक, तथा वह स्कूली प्रणाली जिसके हम हिस्सा हैं, अपने छात्रों से ऐसी माँगें करते हैं जो स्मृति की इन खासियतों से असंगत होती हैं। जब हम स्मृति का अनुचित उपयोग करते हैं, तब हम उसकी विशाल शक्ति, उसकी असीमित क्षमताओं की उपेक्षा करते हैं। स्मृति ठीक कैसे काम करती है इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिकों ने कड़ी मेहनत की है, और हालाँकि वे अब तक भी इसके संपूर्ण विवरण तक पहुँच नहीं पाए हैं, उन्होंने इस विषय में कई रोचक बातें तलाश ली हैं। ऊपर जिन तीन बिंदुओं का ज़िक्र हुआ है, उनका संबंध सक्रिय शोध के उन क्षेत्रों से है, जो परस्पर करीब से जुड़े हैं : अन्तर्वस्तु, कूटबद्ध करना/सीखना तथा व्यवस्थित करना। ये तीनों ही उससे संबद्ध हैं जिसे दीर्घकालिक स्मृति (लॉन्ग टर्म मेमरी) कहा जाता है, और हम यह अध्याय इसी के वर्णन से प्रारंभ करते हैं।

दीर्घकालिक स्मृति की अंतर्वस्तु

दीर्घकालिक स्मृति के तंत्र की क्षमता सीमाहीन लगती है। जैसा इसका नाम सुझाता है -- इसकी अंतर्वस्तु सालों तक, एक समूचे जीवनकाल तक बनी रहती है। परन्तु स्मृतियाँ हमारे अनुभवों की शाब्दिक 'प्रतियाँ' नहीं होतीं। एक शब्दशः रिकॉर्ड करने वाले यंत्र तथा हमारी दीर्घकालिक स्मृति में अंतर दो स्रोतों से आता है। हम चीज़ों को केवल अनुभूत नहीं करते; हम जो कुछ अनुभव करते हैं उसकी व्याख्या भी करते हैं (सो, होता यह है कि कोई भी दो व्यक्ति किसी भी वस्तु को ठीक एक से तरीके से अनुभव नहीं करते)। इसके ही साथ, हमें किसी अनुभव की हरेक बारीकी याद नहीं रहती; हमारी स्मृति में कई रिक्त स्थान होते हैं, जिन्हें हम बाद में चतुर अनुमान से भरते हैं। संक्षेप में हमें बाहरी घटना कभी याद नहीं रहती, जो याद रहता है वह है उस घटना का हमारा निजी मानसिक प्रसंस्करण। इस प्रक्रिया का नतीजा होता है ऐसी स्मृतियाँ जो हमारे लिए अर्थवान हों, बावजूद इस तथ्य के कि वे हमारे अनुभवों की सटीक प्रतियाँ नहीं हैं। मैं दीर्घकालिक स्मृति के इस गुण को एक खामी नहीं मानती : दरअसल यह गुण में हमें अपने रोज़मर्रा

के जीवन में कार्यकुशल और प्रभावी बनाता है। किसी अनुभव के सारांश को दर्ज करना हमें अन्य परिस्थितियों व अनुभवों को अधिक गहराई से समझने, बेहतर सामान्यीकरण करने की दिशा में ले जाता है। साथ ही यह स्मृति प्रणाली पर भी कम बोझा डालता है। बेशक, इससे छात्रों को उन स्कूली परिस्थितियों से निपटने में मदद नहीं मिल पाती, जहाँ माँग ही ढेरों चीज़ों को रटने की रहती है!

दीर्घकालिक स्मृतियाँ दो प्रकार की होती हैं -- एक तो वे जिनके बारे में आप बात कर सकते हैं, सुस्पष्ट या **निर्देशात्मक** (डिक्लेरोटिव) और दूसरी वे जो केवल कर्मों तथा आचरण से अभिव्यक्त की जा सकती हैं, यानी अप्रत्यक्ष या **प्रक्रियात्मक**। अध्याय दो में अवधारणात्मक/प्रक्रियात्मक ज्ञान में जो भेद किया गया था वह सुस्पष्ट/अप्रत्यक्ष तथा निर्देशात्मक/प्रक्रियात्मक के बीच अंतर के समान है।

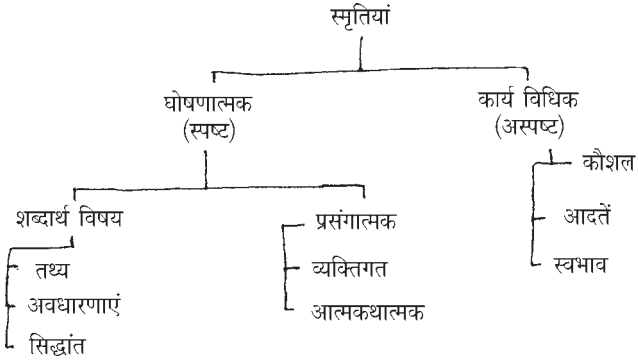

इस आकृति में आप देखते हैं कि प्रक्रियात्मक स्मृति कौशलों, मनोवृत्तियों तथा आदतों से बनती हैं। इसका उदाहरण पढ़ने या दोपहिया साइकिल चलाने की क्षमता है। निर्देशात्मक स्मृतियाँ वे तमाम तथ्य, अवधारणाएँ तथा सिद्धान्त हैं जो हमारे पास दर्ज हैं, साथ ही घटनाओं की व्यक्तिगत स्मृतियाँ भी हैं। इसका एक उदाहरण मुगल शासकों की सूची हो सकता है, या फिर विभाजन के कारण, या पहली कक्षा में अपने घनिष्ठ मित्र का नाम। इन दो प्रकार की स्मृतियों में अंतर करना उपयोगी होने के साथ सही भी है, क्योंकि दरअसल उनको मस्तिष्क के अलग-अलग भाग प्रसंस्कृत करते हैं। यह बात हम क्षतिग्रस्त मस्तिष्क वाले रोगियों के लक्षणों द्वारा जानते हैं। आपको अध्याय एक का वह रोगी याद होगा जिसका हिप्पोकैम्पस क्षेत्र चोटिल हुआ था। वह नई सुस्पष्ट स्मृतियाँ नहीं बना पाता था, पर नई अप्रत्यक्ष स्मृतियाँ बना सकता था। हालाँकि उसे वह चिकित्सक याद ही नहीं रहता, जिससे वह प्रतिदिन मिलता था और वह उनका अभिवादन ऐसे करता था मानो उनसे पहली बार मिल रहा हो, फिर भी जिस खास आइना चित्रण का उसे

प्रतिदिन अभ्यास करना होता था, उसमें वह क्रमशः बेहतर होता गया। बेशक, उसे यह याद नहीं रहता था कि वह यह अभ्यास पहले कर चुका है, पर इसके बावजूद उसके प्रदर्शन में लगातार सुधार हुआ।

स्वयं निर्देशात्मक स्मृतियाँ भी दो भिन्न प्रकार की होती हैं। एक वे जिनका रिश्ता विचारों तथा अवधारणाओं से होता है (शब्दार्थ -- विषयक या सिमेन्टिक स्मृति) और दूसरी वे जिनका संबंध हमारे अपने जीवन की घटनाओं से होता है (प्रसंग -- विषयक या एपिसोडिक स्मृति)! यहाँ भी हम जानते हैं कि ये दोनों मस्तिष्क में विभेदित हैं, क्योंकि कुछ रोगियों में खास प्रकार की क्षति से प्रसंगात्मक स्मृति तो लुप्त हो जाती है पर अर्थगत नहीं। ये 'मैं कौन हूँ, मैं कहाँ हूँ?' रोगी अपने सामान्य ज्ञान या क्षमताओं को नहीं भूलते, परन्तु वे अपने जीवन की एक भी व्यक्तिगत स्मृति याद नहीं कर पाते। उदाहरण के लिए व्यक्ति को अपनी गाड़ी की बनावट तथा निर्माण का साल तो याद हो, पर उसे एक भी बार स्वयं चलाने की याद न हो।

स्कूलों में हमारे अध्यापन का अधिकांश भाग हमारे छात्रों की अर्थ-विषयक समृति में बढ़ोतरी करता है -- विचार, तथ्य तथा अवधारणाएँ स्कूली पाठ्यचर्या को बनाते हैं। कम से कम हम तो यही चाहते हैं कि वे इन्हीं स्मृतियों को हमारे सामने प्रस्तुत करें और कायम रखें। अगर हम किसी छात्रा से कहें कि वह पायथेगॉरस के प्रमेय को समझाए, तो हम यह नहीं जानना चाहते कि उसने किस दिन यह सीखा, या उस दिन कक्षा से ठीक पहले दोपहर के भोजन में उसने क्या खाया था। हम चाहते हैं कि वह सिर्फ उस प्रमेय को बताए।

मैंने कहा था कि हमारा अध्यापन अर्थगत स्मृतियों में 'जोड़ता' है, पर इस प्रक्रिया की जो जटिलता है उससे 'जोड़ना' शब्द दरअसल खास न्याय नहीं करता। किसी छात्र का अर्थ-विषयक ज्ञान आधार अनेक आयामों में बढ़ता है। जैसे-जैसे वह नए तथ्यों व अवधारणाओं से परिचित होता है ज्ञान का **आकार** तथा उसकी मात्रा बढ़ती जाती है, साथ ही ज्ञान के मौजूदा टुकड़ों के बीच **अंतर्संबंधों** की संख्या बढ़ती है, और इन अंतर्संबंधों की **जटिलता** भी बढ़ती है। ज्ञान के विभिन्न अंशों के बीच **सुसंगतता** तथा उसके अर्थगत ज्ञान में **अमूर्तिकरण के स्तर** में इज़ाफा होता है। पढ़ाते समय क्या हम इन बातों को अपने ज़ेहन में रखते हैं?

मैं सौचती हूँ कि हमारी शिक्षा प्रणाली इनमें से पहली बात पर तो अच्छी तरह से ध्यान देती है -- हमें स्मृति में अधिक से अधिक जानकारियों के अंश जोड़ने में कोई हिचक नहीं होती! परन्तु शिक्षकों के रूप में स्मृति के अधिक रोचक अर्थगत पक्षों में अधिकतम इज़ाफा करने के लिए हमें विशेष प्रयास करने पड़ सकते हैं। हमें ज्ञान को जोड़ने में अपने छात्रों की सहायता करनी होगी, उनके समक्ष उन असंगतियों को रखना होगा, जिनका

उन्हें समाधान करना पड़े और एक अधिक जटिल एवं अमूर्त ज्ञान आधार रचने में उनकी मदद करनी होगी। यह काम पाठ्यपुस्तकें अकेले नहीं कर सकतीं -- शिक्षक की भूमिका अद्वितीय है। जब आप अपने छात्रों के सीखने के अलग-अलग तरीकों के बारे में सोचेंगे तो आप स्वतः ही अपने पढ़ाने की शैली में भी समायोजन करेंगे।

आकार की बात करें तो एक औसत वयस्क की अर्थगत स्मृति कितनी होती है ? लग सकता है कि इस प्रश्न का उत्तर देना असंभव है, पर लोगों ने फिर भी इसकी चेष्टा तो की ही है। मिशेलेन ची, जिनसे आप सीखने संबंधी अध्याय में परिचित हो चुके हैं, का संतुलित अनुमान है कि हममें से प्रत्येक की स्मृति में कम से कम दस लाख से अधिक ज्ञान के अंश होते हैं! और यह कहने की आवश्यकता भी नहीं है (खासकर अगर आप पुस्तक के पहले दो अध्याय पढ़ चुके हैं तो) कि ये सभी दस लाख से भी अधिक ज्ञान अंश परस्पर संबद्ध हैं। वे जिस प्रकार जुड़े हैं, वह सवाल व्यवस्था का है। अगले भाग में हम इसी को देखेंगे।

दीर्घकालिक स्मृतियाँ किस प्रकार व्यवस्थित होती हैं

किसी भण्डारण व्यवस्था में सूचना जिस तरह व्यवस्थित की गई हो, वही यह भी तय करेगा कि उसे किस तरह वापस निकाला जा सकेगा, अर्थात् वह कितनी उपयोगी सिद्ध होगी। शिक्षकों के रूप में हम चाहते हैं कि जो कुछ हम अपने छात्रों को पढ़ाएँ-सिखाएँ वह उनको उपयोगी रूप में उपलब्ध हो, यानी जब भी ज़रूरत पड़े वह 'उनके दिमाग में आ जाए' (इस उम्मीद के साथ कि वार्षिक परीक्षा के बाद भी वह बनी रहे!)। अगर कोई छात्रा घटाना सीख ले, तो शिक्षक की उम्मीद रहती है कि वह निम्नोक्त सभी परिस्थितियों में घटा सकेगी :

- 456-345 = ?
- 345+n = 456
- 456 तथा 345 में कितना अंतर है?
- श्री जय के पास रुपये 456 हैं और उनकी पत्नी के पास 345 रुपये। श्री जय के पास अपनी पत्नी से कितने रुपए अधिक हैं? आदि-इत्यादि।

ऊपर दिया गया प्रत्येक सवाल छात्र को दीर्घकालिक स्मृति में से घटाया कैसे जाता है इसके ज्ञान को निकालने के लिए उकसाता है। जब हम घटाना सिखाते हैं तो हमें निश्चित रूप से *कैसे* के साथ *कब* उसका उपयोग किया जाए, और *किन* संख्याओं में किया जाए, भी सिखाना चाहिए। क्योंकि अगर *कब* या *कौनसी* संख्या का ज्ञान न हो, या वह ज्ञान ऐसे भण्डारित हो कि ज़रूरत पड़ने पर उसे निकाला ही न जा सके, तो *कैसे* घटना चाहिए का ज्ञान भी निरर्थक हो जाता है!

यह विश्लेषण किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार के सीखने पर लागू होता है। जब कोई बिन्दु या विषय ऐसे सिखाया जाता है जिसमें छात्र जो पहले से जानता हो, या जिनसे दुनिया में उसका सामना होने वाला हो, उनसे कई तरीकों से जोड़ते हुए सिखाया जाए, तो सूचना को फिर से निकालने के कई रास्ते भी होते हैं -- कई खटके जो याद करना आसान बना दें।

तो मस्तिष्क में स्मृतियाँ किस प्रकार व्यवस्थित होती हैं ? यह बात इतनी सरल नहीं होती कि मानो एक ही बड़ी-सी किताब हो जिसमें हमने शुरू से अंत तक जो कुछ अनुभव किया हो वह लिखा हुआ हो। कुछ विद्वानों ने स्मृति की तुलना हज़ारों किताबों वाले पुस्तकालय से की है, जहाँ सब कुछ एक उपयोगी वर्गीकरण प्रणाली के अनुसार भण्डारित हो, ताकि ज़रूरत पड़ने पर सूचना तेज़ी से निकाली जा सके। पर यह चित्र भी कुछ अधिक सरल-सा है। पुस्तकालय में किताबें विभिन्न विषयों के अनुसार और तब उनमें भी लेखकों के वर्णानुक्रम के हिसाब से वर्गीकृत होती हैं। इसलिए, अगर आपको किपलिंग की रचना 'जंगल बुक' चाहिए तो आप पहले कथा-साहित्य पर जाते हैं और तब 'के' अक्षर में देखते हैं। परन्तु अगर आप से कहा जाता है कि 'मोगली वाली किताब ढूंढ़ो' और आपके पास दूसरी कोई सूचना नहीं होती तो आपको शब्दशः पुस्तकालय की एक-एक किताब देखनी होगी, है कि नहीं ? ऐसा इसलिए करना होगा क्योंकि पुस्तकालयों की किताबें मुख्य चरित्रों के नाम से व्यवस्थित नहीं की जातीं।

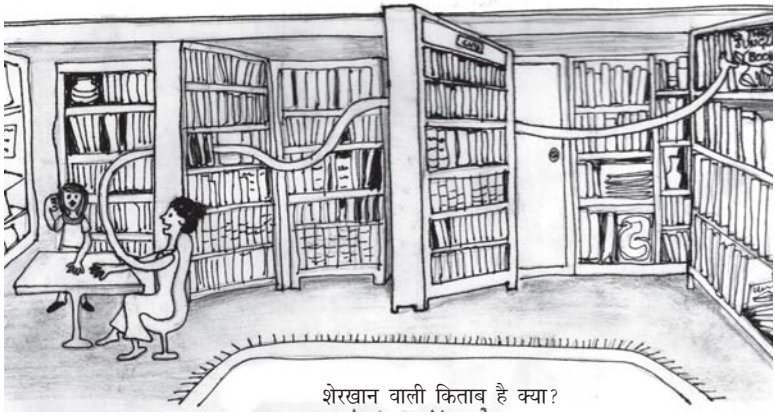

परन्तु लगता यह है कि मानव स्मृति हर संभव तरीके से व्यवस्थित होती है। अगर आपने *जंगल बुक* पढ़ी हो तो संभवतः आप इन सभी सवालों के जवाब तेज़ी से दे सकते हैं : 'किपलिंग की एक लोकप्रिय पुस्तक का नाम बताएँ, जिस पर फिल्म बन चुकी है; 'मोगली की कहानी का शीर्षक बताएँ', 'बघीरा पर लिखी गई किताब का नाम बताएँ', आदि-इत्यादि। लगता यह है कि पुस्तकों की हमारी स्मृति हर संभव तरह से व्यवस्थित

होती है, क्योंकि हम उनकी सूचना को बिना चूके और तेज़ी से निकाल लेते हैं (मानो आलों में रखी किताबों में से उसे निकाल रहे हों), फिर चाहे हमसे कैसा भी सवाल क्यों न पूछा जाए। यही बात हमारी व्यक्तिगत स्मृतियों के लिए भी सच है : 'जब तुम्हें बड़ी माता निकली थी तब तुमने कौन-सी किताब पढ़ी थी ?' का त्वरित जवाब भी, 'जंगल बुक' हो सकता है।

स्मृति व्यवस्था को लेकर वर्तमान में कुछ लोकप्रिय स्पष्टीकरण हैं, जिनमें से दो का संक्षिप्त वर्णन यहाँ करूँगी। पहला स्पष्टीकरण अर्थगत संजाल सिद्धान्त (सिमेंटिक नेटवर्क थियोरी) है। अवधारणाएँ (जैसे- कुर्सी या खरगोश या आनंद) एक-दूसरे से संबंधों से जुड़े होते हैं, और ये जुड़ाव कई तरह के हो सकते हैं। कुछ जुड़ाव उपसमूह पदानुक्रम (सबसेट हायरार्की) के होते हैं, तो कुछ अन्य कारण-प्रभाव के, तो दूसरे पूर्व-उपरान्त वाले संबंध होते हैं (नीचे दी गई आकृति देखें)।

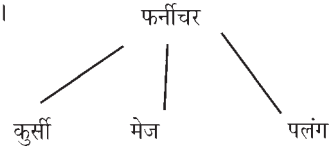

विषय की पहचान :

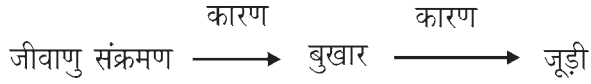

कारण तथा प्रभाव

जो अवधारणाएँ एक-दूसरे से अधिक घनिष्ठता से जुड़ी हों वे एक विषय क्षेत्र (डोमेन) बनाती हैं और इन क्षेत्रों के उदाहरण विविध हो सकते हैं 'नहाने' से लेकर 'रसायनशास्त्र' तथा 'फर्नीचर' तक। जिस सीमा तक वे परस्पर आच्छादित होते हैं, उस हद तक उनकी साझा अवधारणाएँ होती हैं, जैसे नहाने का टब, साबुन तथा वार्निश (नीचे दी गई आकृति देखें)। इस गड़बड़झाले को 'उलझे पदक्रम' (टैंगल्ड हायरार्की) कहा गया है, जो मुझे स्मृति का खूबसूरत वर्णन लगता है।

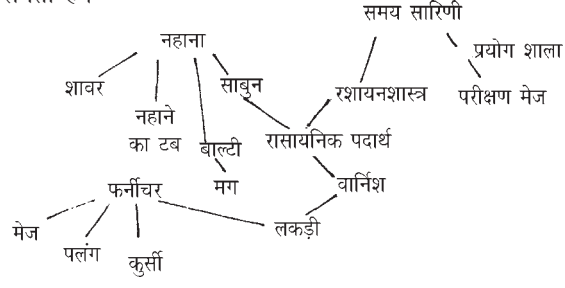

एक दूसरे सिद्धान्त के अनुसार निर्देशात्मक ज्ञान को अनुभव के आवर्ती पैटर्नों में देखा जा सकता है -- जो उन पाण्डुलिपियों, योजनाओं, नक्शों या स्पष्टीकरण के रूप में भण्डारित होते हैं जो नए अनुभवों की हमारी व्याख्या को निर्देशित करते हैं -- ये ही पियाजे की रूपरेखाएँ (स्कीमास्) हैं। रूपरेखाएँ अमूर्त होती हैं, क्योंकि वे कई विभिन्न अनुभवों के तले दबे पैटर्नों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अगर हमारे वातावरण में मौजूद किसी चीज़ से कोई रूपरेखा (स्कीमा) सक्रिय हो जाती है (उदाहरण के लिए मेरी 'भारतीय शिक्षा' संबंधी रूपरेखा राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद् के ज़िक्र से सक्रिय हो जाती है) तो समूची रूपरेखा एक ही पुलिंदें (पैकेज) के रूप में स्मृति से निकाली जा सकती है। और तब इस नए अनुभव की व्याख्या भी इसी रूपरेखा के संदर्भ में की जाती है।

हम इनमें से किसी भी सिद्धान्त को स्वीकारते हों, यह तो साफ है कि हम जिस भी तरह से पढ़ाएँ उससे इन जुड़ावों तथा विविध प्रकार के अंतर्संबंधों को प्रोत्साहन मिले। अगर स्मृति की नैसर्गिक प्रवृत्ति ही व्यवस्थित होना है, तो हमें इस गुण का उपयोग छात्रों के हित में करना चाहिए। जहाँ भी उपयुक्त हो हमें :

- पदक्रमों को प्रदर्शित करना (जैसे विभिन्न वर्गीकरण);
- सह-संबंधों को रेखांकित करना (विभिन्न परिघटनाओं में);
- कार्य-कारण संबंधों को तलाशना;
- केंद्रीय सिद्धान्तों तथा उनके उदाहरणों में अंतर स्पष्ट करना (उदाहरण के लिए सिद्धान्तों या नियमों में);
- समरूपों का (विभिन्न क्षेत्रों तथा एक ही क्षेत्र के अंदर) उपयोग करना।

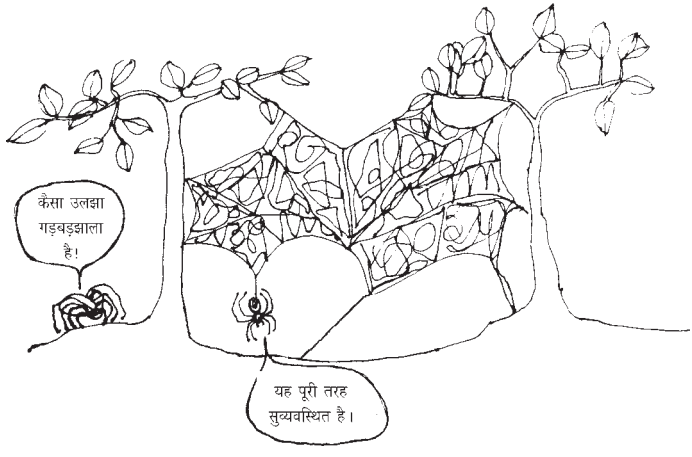

कार्यात्मक स्मृति

सभी दीर्घकालिक स्मृतियाँ *संभाव्य रूप* से हमें तब उपलब्ध होती हैं जब हमें उनकी ज़रूरत पड़े (या फिर नहीं उपलब्ध होती हैं और हमें कुण्ठित करती हैं, जैसा कभी न कभी हम सबके साथ हो चुका होगा!)। आप यह भी मानेंगे कि समस्त दीर्घकालिक स्मृति आपकी चेतना में हर समय नहीं रहती -- यह कुछ ऐसा होगा मानो हम एक विशाल पुस्तकालय की हरेक किताब का प्रत्येक शब्द एक ही साथ पढ़ रहे हों, जो असंभव है। सो जब आप किसी स्मृति के प्रति सचेत होते हैं, जब आप उसके बारे में सोचते हैं, आपके ज्ञान का वह हिस्सा निकाल लिया गया होता है। जिस 'स्थान' पर यह घटता है वह एक दूसरी स्मृति प्रणाली है, जो 'कार्यात्मक स्मृति' कहलाता है।[1] आप इस प्रकार की स्मृति की कल्पना अपनी मेज़ पर काम करने से कर सकते हैं। मेज़ पर दीर्घकालिक स्मृति की कुछ सूचना है और साथ ही आपकी इंद्रियों से आने वाली सूचना भी है, नई प्राप्त हो रही सूचना। आप अपनी मेज़ पर जो कुछ धरा है उस पर काम कर रहे हैं; पर चूंकि वह काफी छोटी है, आप किसी एक समय में थोड़ी-सी सूचना पर ही ध्यान दें पाते हैं। ऐसे में अगर कुछ नया आ जाता है -- दीर्घकालिक स्मृति से उभरा कोई नया विचार, या बाहर से आई कोई नई ध्वनि, तो आपका ध्यान टूट जाता है, क्योंकि यह नई सूचना आपकी मेज़ को ढक देती है और पुरानी सामग्री नीचे गिर जाती है। सामग्री को मेज़ पर बनाए रखने का एकमात्र तरीका है, उस पर काम जारी रखना, उस पर सोचते जाना, या उसका अभ्यास करते जाना। (इस अर्थ में कार्यात्मक स्मृति निश्चित रूप से एक मेज़ की तरह नहीं है। मेरी मेज़ पर तमाम ऐसी चीज़ें हैं जो महीनों से वहाँ धरी हुई हैं, और मैंने उन पर कोई काम नहीं किया है!) यों कार्यकारी स्मृति प्रणाली सीमित क्षमता व अवधि ा की होती हैं। सीमित इस अर्थ में कि दीर्घकालिक समृति के विपरीत, यह उस वक्त फिसल कर खो जाती है, जब आप उस पर ध्यान देना बंद कर देते हैं। परन्तु *यही वह* स्थान भी है जहाँ नया सीखना घटता है।

कार्यात्मक स्मृति की कल्पना एक ऐसे *गत्यात्मक स्थान* के रूप में करना सबसे बढ़िया रहता है, जिसके दो भाग भण्डारण तथा प्रसंस्करण हों। अगर आप अपनी मेज़ पर रखे काम को निपटाने में कुशल हैं तो आप उस पर अधिक सामग्री रख सकते हैं। उदाहरण

1. कार्यकारी स्मृति का हिप्पोकैम्पस से सबसे करीबी संबंध है। अध्याय एक में आपका परिचय मस्तिष्क की इस नन्ही-सी संरचना से हुआ था। आपको याद होगा (आपके अपने हिप्पोकैम्पस के प्रयासों के फलस्वरूप!) कि दिमाग का यह हिस्सा ही सभी निर्देशात्मक या सुस्पष्ट यादों को पहले-पहल दर्ज करने के लिए जिम्मेदार होता है। हमारे जीवनकाल के दौरान हमारे समस्त अनुभवों तथा सीखे गए को हिप्पोकैम्पस सावधानी से पंजीकृत करता है, जो उचित समय बाद स्मृतियों को नववल्कुट (नीओकॉर्टेक्स) के विभिन्न हिस्सों में भण्डारित कर देता है। यहाँ ये स्मृतियाँ लंबे समय तक भण्डारित रहती हैं, और अंततः हिप्पोकैम्पस से 'मिटा' दी जाती हैं।

के लिए अगर आपने कागजों की ढेरियों में रखें -- एक बिलों की एक सूचियों की, एक पत्रों की, -- तो आप ज्यादा आसानी और कुशलता से अधिक सामग्री के साथ काम कर सकते हैं। काफी कुछ इसी तर्ज पर कार्यात्मक स्मृति में भी सूचना व्यवस्थित होती है, अधिक सूचनाएँ भण्डारित की जा सकती हैं। यह व्यवस्था दीर्घकालिक स्मृति में उपलब्ध सूचना पर निर्भर करती है, एक सरल-सा उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। अगर आप आठ यादृच्छिक अंकों की सूची सुनें (जैसे कोई अपरिचित फोन नम्बर) और उसे तत्काल लिख न सकें, तो उसे आपको अपनी कार्यात्मक स्मृति में, बार-बार दोहरा कर (अभ्यास द्वारा) कायम रखना पड़ता है। यह आठ अंकों वाली संख्या आपकी कार्यात्मक स्मृति की सीमाओं पर दबाव डालती है, और अंक जितने अधिक हों, उन्हें याद रखना उतना ही असंभव नहीं, तो कम से कम कठिन होता जाता है। आपने इसी तरह से कोई नया मोबाइल फोन नम्बर याद रखने की कोशिश की होगी। परन्तु अगर इस नम्बर के पहले पाँच अंक आपकी सहेली के मोबाइल नम्बर के समान हों, तो आप दस अंकों की नई फोन संख्या को आसानी से कार्यात्मक स्मृति में रख सकेंगे। प्रथम पाँच अंक एक 'खंड' बन जाएंगे और यों एक एकल इकाई। किसी भी प्रकार का व्यवस्थापन कार्यात्मक स्मृति की क्षमता बढ़ाने में मददगार होता है, अतः छह असम्बद्ध अक्षरों का लड़ी को याद रखना उतना ही आसान हो जाता है जितना किसी छह असम्बद्ध शब्दों की लड़ को याद रखना।

इस प्रकार कार्यात्मक स्मृति की क्षमता, प्रक्रिया तथा भण्डारण दोनों का ही कार्य है। इसको किसी ऐसे कार्य द्वारा मापा जा सकता है जिसमें आपको सूचना के मदों को उस समय याद रखना पड़ता है जब आप याद रखने के साथ ही साथ कोई मानसिक काम कर रहे हों। इसका एक अच्छा उदाहरण है **वाक्य विस्तार कार्य**, जहाँ आप वाक्यों की एक सूची को सुनते हैं, यह फैसला करते हैं कि प्रत्येक सही या गलत है; और शृंखला के समाप्त होने पर आपको प्रत्येक वाक्य का आखिरी शब्द याद रखना पड़ता है। जैसे-जैसे शृंखला में शब्दों की संख्या बढ़ती जाती है, आपको स्वाभाविक रूप से अंतिम शब्द याद रखना मुश्किल लगने लगता है। जिस बिन्दु पर आप गलतियाँ करने लगें, आप अपनी कार्यात्मक स्मृति की क्षमता की हद तक पहुँच चुके होते हैं।

कार्यात्मक स्मृति तथा पढ़ाने-सीखने की प्रक्रिया

ज़ाहिर है कि शिक्षकों के रूप में हमारे लिए स्मृति बेहद महत्त्वपूर्ण है। अतः स्वाभाविक है कि हमारी यह जानने में रुचि हो कि दीर्घकालिक सूचना किस प्रकार व्यवस्थित की जाती है, उसे कैसे निकाला जाता है, और भूलना कैसे होता है। परन्तु कार्यात्मक स्मृति प्रणाली भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अगर यह स्मृति इतनी छोटी है और केवल कुछ ही सैकण्डों तक कायम रहती है, तो फिर यह महत्त्वपूर्ण भला क्यों है ? इसके कम से कम दो अच्छे कारण हैं : इनमें एक का रिश्ता कार्यात्मक स्मृति की कुशलता में व्यक्तिगत अंतरों से है, और दूसरे का संबंध स्वचालितता के लाभों से।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जो कुछ भी हम सीखते हैं उसे कार्यात्मक स्मृति प्रणाली से गुज़रना पड़ता है। सीखने के प्रत्येक मौके पर, प्रस्तुत की जा रही सूचना तथा प्रासंगिक पूर्व ज्ञान दोनों को ही कार्यात्मक स्मृति में मौजूद होना पड़ता है। हमें इन दोनों ही को संचालित करना पड़ता है, ताकि आखिरकार नया ज्ञान भी दीर्घकालिक स्मृति में जुड़ सके। परन्तु *अगर किसी बच्चे की कार्यात्मक स्मृति की क्षमता कमतर हो, तो यह पूरी प्रक्रिया ही क्षीण हो जाएगी।* ऐसे में मौजूदा ज्ञान से नए ज्ञान के सह-संबंध कम होंगे, अतः कम ही आत्मसात किया जा सकेगा, और इसलिए अगली बार पुनः याद करने के लिए भी कम ही उपलब्ध होगा। इससे एक समय के बाद सीखने को नुक्सान होगा। इस प्रकार कार्यात्मक स्मृति प्रणाली ही संभावित रूप से सीखने में अवरोध पैदा कर सकती है। यह बात तार्किक तो लगती है, पर क्या वास्तव में ऐसा होता है?

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ऐसा दरअसल होता है। किसी भी आयु विशेष में छात्रों की कार्यात्मक स्मृति की क्षमता में भारी अंतर होता है, और यह अंतर स्कूल में उनके अकादमिक कार्य प्रदर्शन से संबंधित होता है। जिन बच्चों की कार्यात्मक स्मृति क्षमता कमतर होती है उन्हें स्कूली कार्य करने में अधिक कठिनाई होती है। सूज़न गैदरकोल तथा उनके सहकर्मियों ने यू.के. में कार्यात्मक स्मृति तथा बच्चों के अकादमिक प्रदर्शन के बीच संबंध का गहराई से अध्ययन किया है, उन्होंने पाया कि :

- कार्यात्मक स्मृति की क्षमता आयु के साथ तब तक बढ़ती है, जब तक छात्र 12-15 वर्ष के हो जाते हैं;
- एक समान आयु के छात्रों में इसका पढ़ने, लिखने तथा गणितीय क्षमता के साथ गहरा सह-संबंध होता है।

गैदरकोल तो यहाँ तक कहती हैं कि जब किसी छात्र को ऐसी अकादमिक कठिनाइयाँ होती हैं, जो भावनात्मक या आचरण संबंधी समस्याओं के कारण न उपजी हों, तो हमेशा यही पाया जाएगा कि उसकी कार्यात्मक स्मृति की क्षमता उसकी आयु के औसत से काफी कम है। यह सुझाता है कि स्कूली प्रदर्शन में कार्यात्मक स्मृति की एक मज़बूत कारणात्मक (कॉज़ल) भूमिका है।

हाल में गैदरकोल तथा अन्य लोगों ने तीन, पाँच से छह वर्षीय बालकों का विस्तृत अध्ययन किया, जिन्हें स्कूली कार्य में परेशानी हो रही थी और जिनकी कार्यकारी स्मृति की क्षमता का माप कम था। इन बच्चों का, उनके नैसर्गिक कक्षा वातावरण में सावधानीपूर्वक अवलोकन किया गया। जब भी उन्हें किसी काम में कठिनाई होती, परिस्थिति का विश्लेषण कर यह देखा जाता कि कार्यात्मक स्मृति प्रणाली सीखने में किस प्रकार बाधक बन रही है। बच्चों को जो विशिष्ट परेशानियाँ हुईं उसके उदाहरण हैं :

- शिक्षक से निर्देश पाने के बाद अनुपालना करते समय वे यह भूल जाते हैं कि उन्हें आगे क्या-क्या करना है।
- बोर्ड से सूचना उतारते समय, वे अपनी 'जगह' भूल जाते और बीच के कुछ शब्द उनसे छूट जाते हैं।
- कहानी सुनते समय कुछ हिस्से उनसे इसलिए छूट जाते हैं क्योंकि वे किसी दूसरे हिस्से को समझने में लगे हैं, यों कहानी की उनकी समझ तथा दीर्घकालिक स्मृति, दोनों ही कमज़ोर रहती हैं।

बेशक ये बच्चे काफी छोटे थे पर आप देख सकते हैं कि समय गुज़रने के साथ सीखने की प्रक्रिया में उनकी स्थिति अधिक से अधिक पिछड़ती जाएगी। गैदरकोल के शोध के आधार पर कार्यात्मक स्मृति की कमी वाले छात्रों के लिए कुछ हस्तक्षेप संकलित किए गए हैं। इन सुझावों का सार-संक्षेप सरल रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है:

- बच्चों के कार्यात्मक स्मृति तंत्र पर अधिक बोझ के लक्षणों के प्रति सचेत रहें (इस भाग ने आपको इन लक्षणों का एक अनुमान तो दिया ही है)।
- दिए गए काम का बच्चों की कार्यात्मक स्मृति पर कितना बोझ पड़ेगा इसका आकलन करें।
- अगर यह बोझ अधिक है, तो काम को छोटे टुकड़ों में बांट दें, सभी निर्देश लिख दें, परिचित सामग्री का उपयोग करें और स्मृति की मदद के लिए उन्हें अभ्यास का उपयोग करने या कागज़-पेन्सिल का इस्तेमाल करने को प्रोत्साहित करें।

स्वचालितता : एक विशेष प्रयोग

कई वयस्कों को एक नई भाषा पढ़ना-लिखना सीखने का अनुभव हुआ होगा। अगर आपको भी हुआ हो तो, आप जानते होंगे कि प्रारंभ में प्रत्येक शब्द के हरेक अक्षर का 'कूटानुवाद' (डीकोड) करने में समय और प्रयास दोनों लगते हैं। जब आप हरेक अक्षर का कूटानुवाद करते हैं, उस वक्त आपको पहले पढ़ लिए गए अक्षरों को कार्यात्मक स्मृति में रखना पड़ता है, ताकि उन सबको जोड़कर आप पूरा शब्द पढ़ सकें। अक्सर तीसरे या

चौथे अक्षर तक पहुँचते-पहुँचते आपकी प्रसंस्कृत करने की पूरी क्षमता कूटानुवाद में लग जाती है और पहले के अक्षर कार्यात्मक स्मृति से 'बाहर गिर' जाते हैं। अब आपको उस शब्द को पुनः देखना पड़ता है, यह सब पढ़ने की प्रक्रिया को धीमा और कष्टदायक बनाता है।

परन्तु अभ्यास से, कूटानुवाद अधिकाधिक स्वचालित बनने लगता है (अर्थात् उसमें सायास लगने वाला प्रयास कम से कमतर होता जाता है)। वर्णमाला के अक्षरों की आपकी दीर्घकालिक स्मृति बेहतर होती है, और अक्षरों के कुछ मिश्रणों की पहचान सुधरती है -- यहाँ तक कि कुछ पूरे शब्द ही पहचान में आने लगते हैं। यों पढ़ने की प्रक्रिया तेज और अधिक प्रयासहीन हो जाती है -- कम से कम शब्दों के स्तर पर। अब कार्यात्मक स्मृति का उपयोग प्रत्येक वाक्य के पहले पढ़ लिए गए शब्दों को भंडारित करने के लिए उस वक्त किया जा सकता, जब आप अगले शब्द पढ़ रहे हों, ताकि आप सूचना को पढ़ते समय समेकित करते चलें और वाक्य का मतलब निकाल सकें। यहाँ भी अगर आपकी शब्दावली बढ़िया है, अर्थात् आपकी दीर्घकालिक स्मृति में कई शब्दों और मुहावरों के अर्थों का कूट दर्ज है, तो प्रत्येक शब्द/मुहावरे को तुलनात्मक रूप से काफी तेज़ी से प्रसंस्कृत किया जा सकता है। इस प्रकार कोई लंबा वाक्य, जिसमें बड़े-बड़े शब्द और कई मुहावरे व उपवाक्य हों, आसानी से समझा जा सकता है, क्योंकि अब हम एक बार में पूरे-पूरे शब्द या मुहावरों को पढ़ रहे होते हैं।

स्वचालितता का तात्पर्य प्रसंस्करण की प्रक्रिया में आई उस सहूलियत से है जो अभ्यास से आती है, जब सूचना के अधिक व बड़े 'खण्डों' को कार्यकारी स्मृति में एक निश्चित समय में प्रसंस्कृत किया जा सके। गणित की कक्षा में स्वचालितता के लाभ साफ नज़र आते हैं।

मान लें छात्र कोई शाब्दिक सवाल को हल कर रहा हो : जय के पास रु. 45 हैं, उसकी बहन के पास रु. 35। वे दोनों अपना पैसा एक ऐसी योजना में लगाते हैं जो उन्हें रु. 320 का लाभ देती है। वे इस लाभ को किस तरह बाँटेंगे?

ऐसे सवालों को मानसिक रूप से हल करना फायदेमंद रहता है, अगर वे बोलते हुए सोचें, तो उन्हें और आपको कार्यात्मक स्मृति का वास्तविक अहसास भी हो सकेगा। अगर उन्हें इस सवाल को हल करना आता है, वे 45:35 के अनुपात को छोटा करने की कोशिश कर सकते हैं। उन्हें यह याद रखना होगा कि $5 \times 9 = 45$ होता है, और उन्हें 9 की संख्या दिमाग में रखते हुए 35 को 5 से भाग देना है (जब तक वे जवाब में 7 तक पहुँचे, संभव है कि वे 9 को भूल जाएँ)। तब उन्हें इन दोनों को जोड़ कर 16 मिलेगा, और उन्हें 320 को 16 से भाग देना होगा। यह करते समय उन्हें याद रखना होगा कि 16 गुणा

2 = 32 होता है, और इस दौरान उन्हें 9 और 7 को भी दिमाग में रखना होगा (जब तक उन्हें उत्तर में 20 मिले वे 9 और/या 7 को भूल सकते हैं)। अब उन्हें 9 को 20 से गुणा कर 180 तक पहुँचना होगा (संभव है कि इस समय तक 7 भूला जा चुका हो), और तब 7 को 20 से गुणा कर 140 तक (संभव है कि इस समय तक 180 को भुला दिया गया हो और शायद, व्यक्ति का नाम भी जो जय था)। इस प्रक्रिया के दौरान उन्हें प्रत्येक चरण में अपनाई गई विधि को भी याद रखना पड़ेगा। सच तो यह है कि कोई छात्र यह जटिल काम कर भी सकता है, यह किसी चमत्कार से कम नहीं लगता!

अब स्वचालितता इस प्रक्रिया में कहाँ मदद कर सकती है ? उत्तर है प्रत्येक चरण में। अगर छात्र तत्काल और न्यूनतम सचेतन प्रसंस्करण के, किसी संख्या को 5 से भाग दे सकता है, छोटी संख्याओं को जोड़ सकता है, 16 से भाग दे सकता है और 2 से गुणा कर सकता है, तो यह संभावना कम है कि वह बीच में प्रासंगिक सूचना को भूल जाए। जब ये संक्रियाएँ बोझिल तथा सचेतन प्रक्रिया पर आश्रित होती हैं, केवल तब ही कार्यात्मक स्मृति पर बोझ बढ़ता है। उदाहरण के लिए अगर 45 को 9 से भाग देने के लिए 9 का पहाड़ा शुरू से बोलना पड़े या 5 बार 9 को जोड़ना पड़े, तो कार्यात्मक स्मृति की मेज़ पर कुछ भी दूसरा करने की जगह नहीं बचेगी और चीज़ें मेज़ से 'नीचे गिर जाएँगी'।[2]

छात्रों को संख्याओं संबंधी कुछ तथ्यों को कंठस्थ करने या इतना परिचित हो जाने को प्रोत्साहित करने का यह एक अच्छा कारण है, ताकि उन्हें बिना प्रयास स्मृति से निकाला जा सके। यही बात धारा-प्रवाह पढ़ने, शब्दावली से परिचय, तथा विभिन्न प्रक्रियाओं के उपयोग के विषय में भी सच है। भारत में हम संभवतः अभ्यास और रटाने के आधिक्य से पीड़ित हैं। पर होना यह चाहिए कि सीखने को कंठस्थ तथ्यों तक सीमित न रख कर उनका उपयोग *एक सुविधा के रूप में किया जाना चाहिए ताकि उच्चतर स्तर पर सोचना अधिक सरलता से संभव हो सके।* पाठ्यचर्या को इस प्रकार रचना चाहिए ताकि ध्यान मुख्यतः रोचक तथा चुनौतीपूर्ण सामग्री पर रहे, और ड्रिल या अभ्यास केवल आवश्यक सहायता भर हो।

अब तक हमने अपने स्मृति तंत्र के रोचक तथा बुद्धिमान उपयोग की चर्चा की है। परन्तु परीक्षाओं के लिए रटने के मुद्दे को संबोधित न करना, बात को अधूरी छोड़ना होगा, क्योंकि यह हमारे स्कूलों की बड़ी भारी सच्चाई है।

---

2. शायद इसीलिए हम अपने छात्रों से कहते हैं कि वे गणित में सभी 'चरणों को लिखें'। कागज़-पेंसिल कार्यात्मक स्मृति के बाह्य सहायक हैं, और अक्सर इससे की जा रही माँग को हल्का करते हैं। परन्तु तथ्यों और प्रक्रियाओं से घनिष्ठ परिचय का स्थान कुछ दूसरा नहीं ले सकता।

'मैं अध्ययन कर रही हूँ'

स्कूल में पढ़ने के दौरान, हम 'अध्ययन' (स्टडी) शब्द का प्रयोग करते थे, जिसका मतलब उस खास किस्म के मानसिक काम से था, जो ठेठ भारतीय स्कूलों में आगे बढ़ने के लिए ज़रूरी होता है। पलट कर देखने पर मुझे ऐसी तमाम चीज़ें याद आती हैं, जिन्हें 'अध्ययन' करना माना जाता था। एक काम था पुनरावृत्ति या अपनी नोटस् या पाठ्यपुस्तक को फिर से पढ़ना, सवालों को फिर से करना और उनके उत्तरों को जाँचना। इस अध्ययन का एक बड़ा हिस्सा रटने का हुआ करता था -- परिभाषाएँ, फॉर्मूले, कथन, प्रक्रियाएँ और कुछ मामलों में तो पूरे के पूरे अनुच्छेदों को रट लेना। सूचनाओं को रटने के लिए हम कई तरह के गुर काम में लेते थे, जिन्हें तकनीकी रूप से स्मृति सहायक विधियाँ (नेमॉनिक्स) कहा जाता है। स्मृति विज्ञान पर, या सूचियों तथा नामों को रट कर याद करने पर, पूरी की पूरी किताबें लिखी गई हैं। बेशक, छात्रों के रूप में हम अपनी ही स्मृति-सहायक विधियाँ ईजाद करते थे, जिनमें से कुछ बेहद कारगर रहती थीं! यह सब परीक्षाओं में बचे रहने में हमारी निश्चित रूप से मदद करता था। पर मैं अब यह पूछने पर बाध्य होती हूँ कि : परीक्षाओं में सफल होने में मिली मदद के सिवाय रटे हुए ज्ञान का क्या लाभ है?

अगर हम प्रक्रियात्मक ज्ञान के स्वचालित बन जाने को 'रटना' कहते हैं, तो मैं इसके लाभों की बात पहले ही कर चुकी हूँ। परन्तु यह दरअसल वास्तव में उतना *रटना* नहीं है, जितना किसी कौशल का *अभ्यास* करना है। रटने का मतलब है किसी बात को मौजूदा भण्डारित ज्ञान से बिना न्यूनतम संबंध बनाए ही दीर्घकालिक स्मृति में भण्डारित कर लेना। ठेठ भारतीय छात्र जो ढेरों जानकारियाँ 'कंठस्थ' करते हैं उनका खास उद्देश्य नहीं लगता -- फिर भी हम उन उद्देश्यों को सूचीबद्ध करने की चेष्ट करते हैं। अगर किसी को कविता पाठ करने, विभिन्न देशों की राजधानियों के नाम जानने, इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की तिथियों को जानने, या महत्त्वपूर्ण लोगों के नाम जानने में, रुचि है -- तो रटना आवश्यक है। फिर भी इस तरह के ज्ञान को, स्कूलों में छात्र जो कुछ सीखते हैं, उसका एक छोटा-सा हिस्सा ही होना चाहिए। तथ्य दरअसल जीवनशून्य-सी वस्तूएँ होती हैं; उन्हें तार्किक रूप से समझना या उनसे आगे और ज्ञान निकाल पाना

कठिन है। इसके विपरीत अवधारणाएँ, परिष्कृत औज़ार होती हैं, जिनकी मदद से दुनिया को समझना या कर्म करना संभव होता है। अगर छात्र किसी अवधारणा को 'रटने' की चेष्टा करता है, मतलब वह उसे बिना समझे स्मृति में बसाता है, तो उस अवधारणा का उसी क्षेत्र के पहले से मौजूद ज्ञान से कोई संबंध नहीं बन सकेगा। वह केवल स्कूली परिस्थितियों में ही काम करेगा (यानी गृहकार्य करने या परीक्षा देने में मददगार होगा)। वास्तविक जगत की परिस्थितियों में, हमारी पुरानी समझ ही काम आएगी, तब भी जब वह गलत हो। और हमारी जो भ्रांतियाँ हैं वे कभी सुधारी नहीं जा सकेंगी (इस बारे में हम अध्ययन दो में चर्चा कर चुके हैं)।

हमें यह भी पूछना होगा : जो कुछ हमने स्कूल में पढ़ा था, उसमें से हमें सालों बाद कितना याद रहता है ? कई लोग यह शिकायत करते हैं कि वे वह सब भूल चुके हैं जो वे किसी समय जानते थे। वे कहते हैं, 'स्कूल में मैंने जो कुछ सीखा उसका फायदा ही क्या था, मैं तो वैसे भी, वह सब भूल ही चुकी हूँ।' मनोवैज्ञानिक हैरी बाहरिक तथा उनके साथियों ने दीर्घकालिक स्मृति (पचास सालों के अंतराल के बाद) पर रोचक शाध की है। इस शोध ा में हाई स्कूल में प्राप्त किए गए ज्ञान -- उदाहरण के लिए बीजगणित, रेखागणित, कोई विदेशी भाषा का ज्ञान... तथा सहपाठियों के नाम व चेहरों की स्मृति को जाँचा गया था! उन्होंने पाया कि भूलने की दर उस स्थिति में आश्चर्यजनक रूप से कम थी, जब तक कि मूल उद्भासन (एक्स्पोज़र) की अवधि ही बहुत कम न रही हो। उन्होंने पाया कि बीच-बीच में पुनरावृत्ति किए बिना एक लंबे अर्से तक कुछ याद रख पाने का श्रेष्ठतम तरीका है, उस चीज़ को लम्बी अवधि में सीखना और पुनः सीखना। बाहरिक कहते हैं कि अगर सूचना का उद्भासन तथा उस ज्ञान की पुनरावृत्ति कई वर्षों के दौरान होती है, तो 'प्रदर्शन का स्तर बिना आगे अभ्यास के भी आधी शताब्दी तक स्थिर बना रहता है। परन्तु अगर यही अंतर्वस्तु कम अवधि में प्राप्त की जाती है तो प्रदर्शन तेज़ी से घटता जाता है।' इसका अर्थ हुआ कि अल्पकालिक पाठ्यक्रम चाहे वे कितने ही सघन क्यों न हों स्मृति के लिए उतने लाभदायक नहीं होते, जितने वे, जो छह माह या वर्ष भर लम्बे हों। बेशक अगर आप अल्पकालिक पाठ्यक्रम के बाद सीखे गए का नियमित उपयोग करते रहें, तो उस सामग्री की स्मृति मज़बूत बनी रहेगी।

एक दूसरे अर्थ में, स्कूल में सीखे गए कुछ अत्यावश्यक कौशल हम कभी नहीं भूलते, जैसे पढ़ना और लिखना, आकलन तथा अर्थग्रहण, समस्या समाधान, विश्लेषण तथा अनुमान लगाना जैसे उच्च स्तरीय कौशल। अगर बच्चों को इन कौशलों तथा इन जैसे अन्य कौशलों का उपयोग करने को प्रोत्साहित नहीं किया जाता, और उन्हें केवल ढ़ेर-सी अंतर्वस्तु ही दी जाती है, तो तय है कि बड़े होने पर वे इस सबको भूल जाएँगे, और हमें लगेगा कि समय बर्बाद ही हुआ है।

निष्कर्ष

हमारे पास एक अद्‌भुत रूप से पेचीदा याद रखने की मशीन है। उसका अधिक कल्पनाशील उपयोग न करना शर्मनाक होगा। लोगों को एक लोकप्रिय मान्यता को उद्धृत करने का शौक है कि 'हम अपने मस्तिष्क के मात्र 10 प्रतिशत का ही उपयोग करते हैं।' हालाँकि यह कथन मस्तिष्क के पूर्ण आकार या शक्ति के संदर्भ में सार्थक नहीं लगता, हम इस उक्ति का उपयोग इस ओर संकेत करने के लिए कर सकते हैं कि हम अपनी स्मृति की व्यवस्थात्मक, सह-संबंध बनाने व सीखने की शक्ति का कमतर उपयोग करते हैं। इस पर कुछ इस प्रकार चिंतन करें : क्या एक शिक्षक के रूप में मैं अपने छात्रों की स्वाभाविक स्मृति की क्षमताओं का श्रेष्ठतम उपयोग कर रही हूँ?

संदर्भ तथा पुस्तक सूची :

1. एकरमान, पी.एल., एम.ई.बीयर तथा एम.ओ. बॉयल, 2005। 'वर्किंग मेमरी एण्ड इन्टेलिजेन्स : द सेम और डिफरेन्ट कन्स्ट्रक्टस?' *साइकॉलजिकल बुलेटिन*, खण्ड-131, संख्या-1, 30-60

2. बाहरिक, एच.पी., तथा एल.के. हॉल, 1999। 'लाइफटाइम मेन्टेनेन्स ऑव हाई स्कूल मैथेमैटिक्स कन्टैन्ट', *जर्नल ऑव एक्स्पेरिमेंटल साइकॉलजी* : जनरल, खण्ड-120, संख्या-1, 20-33

3. ब्ज़ॉर्क, आर.ए., 1994। 'मेमरी एण्ड मेटामेमरी कन्सिडरेशन्स इन द ट्रेनिंग ऑव ह्यूमन बीइंग्स' जो जे.मेटकाल्फ तथा ए. शिमामूरा (संपादित), *मैटाकॉग्निशन : नोइंग अबाउट नोइंग* में छपा है। एमए: एमआईटी प्रेस।

4. ची, एम.टी.एच., तथा एस. ओहल्सन, 2005। कॉम्प्लैक्स डेक्लरेटिव लर्निंग। जो के.जे. होलीओक तथा आर.जी.मॉरिसन (संपादित) *केम्ब्रिज हैंडबुक ऑव थिंकिंग एण्ड रीज़निंग* में छपा है। न्यू यॉर्क : कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस।

5. गैदरकोल, एस.ई., तथा टी.पी. एलोवे, *अन्डरस्टैंडिंग वर्किंग मेमरी : अ क्लासरूम गाइड*। लेखक से अनुरोध पर प्राप्त s.e.gathercole@durham.ac.uk अथवा t.p.alloway@durham.ac.uk

6. तत्रैव, 2008। *वर्किंग मेमरी एण्ड क्लासरूम लर्निंग*। के. थूरमन तथा के. फिओरेलो (संपादित) *अप्लाइड कॉग्नेटिव रिसर्च इन के-3 क्लासरूमस्*। रूटलेज/टेलर एण्ड फ्रांसिस, न्यू यॉर्क।

7. गैदरकोल, एस.ई. तथा एस.जे.पिकरिंग, 2000। 'वर्किंग मेमरी डेफिसिट्स इन चिल्ड्रन विद लो अचीवमेंट इन द नैशनल करिक्यूलम एट 7 इयर्स ऑव एज'। *ब्रिटिश जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी*, 70, 177-94

8. मैक्कलेलैण्ड, जे.एल., बी.एल.नौटन तथा आर.सी.ओराइली, 1995। 'व्हाय देयर आर कॉम्पलिमेंट्री लर्निंग सिस्टम्स् इन द हिप्पोकैम्पस एण्ड नीओकॉर्टेक्स : इनसाइटस फ्रॉम द सक्सैसेस एण्ड फेलियर्स् ऑव कनैक्शनिस्ट मॉडल्स ऑव लर्निंग मेमरी'। *साइकॉलजिकल रिव्यू*, खण्ड-102, संख्या-3, 419-57

9. मूर्स, ए., तथा जे.डिहूवेर, 2006। 'ऑटोमैसिटी : अ थियोरिटिकल एण्ड कॉन्सैप्च्यूअल एनैलिसिस। *साइकॉलजिकल बुलेटिन*, खण्ड-132, संख्या-2, 297-326

10. नेल्सन, सी.ए., 1995। 'द ऑन्टोजेनी ऑव ह्यूमन मेमरी : कॉग्निटिव न्यूरोसाइन्स पर्सपैक्टिवै'।

डेवलपमेंटल साइकॉलजी, खण्ड-31, संख्या-5, 723-38

11. सैक्स, ओ., 1990। '*द मैन हू मिसटुक हिज़ वाइफ फॉर अ हैट एण्ड अदर क्लिनिकल टेल्स*। हार्पर पेरेनियल, न्यू यॉर्क।

12. सीग्लर, आर.एस., 2004। '*टर्निंग मेमरी डेवलपमेंट इनसाइड आउट*'। डेवलपमेंटल रिव्यू, 24, 469-75

13. सोल्सो, आर.एल., 2001। '*कॉग्निटिव साइकॉलजी*। पीयर्सन एज्युकेशन (सिंगापुर) प्राइवेट लिमिटेड, दिलली।

14. स्क्वायर, एल.आर., 1992। 'मेमरी एण्ड हिप्पोकैम्पस'। *साइकॉलजिकल रिव्यू*, खण्ड-99, संख्या-2, 195-231

15. टाउसे, जे.एन., जी.जे. हिच, तथा यू. हटन, 1998। 'अ री-इवैल्यूएशन ऑव वर्किंग मेमरी कैपेसिटी इन चिल्ड्रन।' *जर्नल ऑव मेमरी एण्ड लैंग्वेज*, 39, 195-217

❑❑❑

अध्याय चार

बाल विकास

- क्या बच्चे वयस्कों से बिल्कुल भिन्न तरह से सोचते हैं, या वे केवल वयस्कों से कम कुशल होते हैं और उनसे कम जानते हैं?
- क्या प्रारंभिक अनुभव अत्यावश्यक महत्त्व के होते हैं : क्या वे बालक के भावी विकास को बना या बिगाड़ सकते हैं? या फिर बच्चे लचीले होते हैं -- क्या बाद के अनुभव व प्रारंभिक अनुभवों की कमी की आपूर्ति कर सकते हैं?
- क्या आप इस बात से सहमत होंगे कि बच्चा पैदा होते समय एक कोरी स्लेट होता है, और उन अनुभवों से सीखता है जो उस स्लेट पर 'लिखे' जाते हैं (दूसरे शब्दों में हम जो हैं वैसा हमें सीखने ने ही बनाया है)? या फिर आप यह कहना पंसद करेंगे कि हम अपनी अधिकतर प्रवृत्तियाँ व क्षमताएँ विरासत में पाते हैं, ताकि हमारा वातावरण चाहे जैसा भी क्यों न हो, हम जो कुछ बनेंगे वह शुरुआत से ही तय होता है?
- अंततः, क्या आप मानते हैं कि बच्चे स्वाभाविक रूप से 'अच्छे' होते हैं और समाज की बुराइयों से परिचित होना उन्हें भ्रष्ट करता है ? या फिर आपको लगता है कि बच्चे नैसर्गिक रूप से 'असभ्य' होते हैं और उन्हें नैतिक इन्सान बनाने के लिए सामाजीकरण की आवश्यकता पड़ती है?

उपरोक्त चारों प्रश्न ही वह आधार बनाते हैं जिस पर बाल विकास के अधिकांश सिद्धान्त गढ़े गए हैं। इन्हें विभिन्न शीर्षकों, जैसे गुणात्मक/संख्यात्मक परिवर्तन, महत्त्वपूर्ण चरण, प्रकृति/पोषण, तथा नैतिक विकास के तहत रखा जा सकता है। मनोविज्ञान के कई प्रख्यात नामों को इन प्रश्नों के संदर्भ में उनकी मान्यताओं के आधार पर रखा जा सकता है। पियाजे का मानना था कि बच्चों और वयस्कों के सोचने के तरीकों में गुणात्मक अंतर है। फ्रॉयड मानते थे कि प्रारंभिक बाल्यावस्था के अनुभव व्यक्तित्व को स्थाई रूप से प्रभावित करते हैं। स्किनर का मानना था कि समस्त आचरण का स्पष्टीकरण अनुभव के कारण आए छोटे, वृद्धिपरक परिवर्तनों से मिल सकता है। रूसो का विश्वास था कि बच्चे 'उदात्त जंगलियों' (नोबल सैवेजेस्) के रूप में जन्मते हैं और अगर हम उन्हें भ्रष्ट न करें तो वे बड़े होकर एक श्रेष्ठ (परफेक्ट) समाज की रचना कर सकते हैं।

'अभी नहीं बिटिया, फिलहाल हम बाल-विकास पर चर्चा में व्यस्त हैं!'

आप सोच सकते हैं कि ऐसे बुनियादी सवालों के 'सत्य' को हम भला कैसे तलाश सकते हैं। कई वर्षों की छानबीन ने कुछ अस्थाई उत्तर उपलब्ध करवाए हैं। जैसी उम्मीद आप कर सकते हैं, ये उत्तर संकेत देते हैं कि अतिवादी स्थितियाँ अरक्षणीय हैं -- प्रत्येक मामले में हमें पता लग रहा है कि अतिवादी स्थितियाँ न तो पूर्णतः गलत होती हैं, न ही पूर्णतः सत्य। दरअसल हमें पता यह चल रहा है कि अगर इन प्रश्नों को अलग तरह से पूछा जाए तो बाल्यावस्था की एक अधिक रोचक छवि उभरती है। यह छवि सूक्ष्म व सशक्त है, श्वेत-श्याम तो बिल्कुल भी नहीं है, तथा शिक्षकों व शिक्षाविदों के रूप में हमारे लिए कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुझाती है।

यह अध्याय जन्म से वयस्कावस्था के दरमियान मस्तिष्क में आने वाले बदलावों के संक्षिप्त वर्णन से प्रारंभ होगा। जिसके बाद गुणात्मक परिवर्तन तथा महत्त्वपूर्ण चरणों पर चर्चा की जाएगी। यहाँ उठाए गए दो अन्य प्रश्न, प्रकृति/पोषण तथा नैतिक विकास इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके लिए अलग-अलग अध्याय हैं।

मस्तिष्क का विकास

मस्तिष्क में जो सबसे ज़ाहिर बदलाव आता है वह प्रथम वर्ष में उसमें आई वज़न वृद्धि है जो 400 ग्राम से बढ़कर 850 ग्राम तक हो जाता है, और तब तीन वर्ष की आयु में 1,100 ग्राम, तथा वयस्कावस्था में 1,450 ग्राम तक पहुँच जाता है। अर्थात् एक वर्ष के बच्चे के दिमाग का वज़न शरीर के कुल वज़न की तुलना में वयस्क के मस्तिष्क के आधे से भी अधिक का होता है, जो वयस्क के मस्तिष्क का एक बटा पाँच भाग होता है। जन्म के बाद इन्सानों के मस्तिष्क में हुई यह तीव्र वृद्धि चिम्पान्जियों तथा अन्य वानरों की वृद्धि से बिल्कुल विपरीत है। वानर मस्तिष्क की वृद्धि जन्मने के बाद जल्दी ही धीमी हो जाती है। इसका संबंध इस तथ्य से है कि अन्य वानरों की तुलना में हम अधिक अपरिपक्व तथा असहाय पैदा होते हैं और परिपक्वता तक पहुँचने में हमें ज़्यादा समय लगता है।

फिर भी मस्तिष्क के सभी क्षेत्र बाल्यावस्था में समान रूप से नहीं बढ़ते। जन्म के समय मस्तिष्क स्तंभ (ब्रेन स्टेम) तथा उसका मध्य भाग (मिडब्रेन) अपने आकार तथा व्यवस्था में काफी विकसित होता है। परन्तु प्रमस्तिष्कीय वल्कुट (सेरिब्रल कॉर्टेक्स) जितना वयस्कावस्था में परिपक्व होता है, उससे कहीं कम परिपक्व होता है। वल्कुट (कॉर्टेक्स) का अधिकांश भाग जन्म के समय 'अप्रतिबद्ध' (अनकमिटेड) होता है। अर्थात् इस समय उसका उपयोग सूचना को प्रसंस्कृत करने और आचरण को निर्देशित करने के लिए नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए अग्रपालीय वल्कुट (फ्रंटल कॉर्टेक्स) तथा पूर्व-अग्रपालीय वल्कुट (प्रीफ्रंटल कॉर्टेक्स), जो नियोजन, चेतना से जुड़े होते हैं तथा अनुचित आचरण को अवरुद्ध करते हैं, वे किशोरावस्था में काफी देर बाद ही पूरी तरह परिपक्व हो पाते हैं। इन तथ्यों के कारण ही हम विकासशील मस्तिष्क को 'सुनम्य' (प्लास्टिक) कहते हैं : जन्म के बाद भी मस्तिष्क की वृद्धि व उसके विकास का क्रम जारी रहता है, जो किशोरावस्था के दौरान भी चलता है।

जब हम कहते हैं कि मस्तिष्क बढ़ रहा है, तो इससे हमारा मतलब भला क्या होता है? मस्तिष्क की वृद्धि में दो घटक योगदान देते हैं : **तंत्रिका कोशिकाओं में जुड़ावों की संख्या** तथा **तंत्रिका कोशिकाओं का मज्जीकरण** (मायोलिनेशन ऑव न्यूरॉन्स)।

तंत्रिका-कोशिकाओं में संधियाँ

तकरीबन 15 अरब तंत्रिका कोशिकाएँ होती हैं (जो सभी जन्म के समय मौजूद होती हैं), इनमें से प्रत्येक लगभग 1000 अन्य कोशिकाओं से जुड़ सकती है। अर्थात् कोशिका से कोशिका के बीच कुल 150,000,000,000,000 सूत्र युग्म (स्नैप्सेस) होने की संभावना होती है। परन्तु सूचना का अर्थ इन सभी जुड़ावों का सक्रिय होना नहीं होता। जुड़ावों की चयनात्मकता ही सार्थक सूचना को कूटबद्ध करती है। किसी आयु विशेष में मस्तिष्क के

कुछ खास हिस्सों की तंत्र कोशिकाओं में परस्पर अत्यधिक संधियाँ या जुड़ाव होते हैं (इसे प्रक्रिया को स्नेप्टोजेनेसिस कहा जाता है)। कई सालों के दौरान अनुभव के अनुरूप इनमें से अधिकांश संधियों की छंटनी हो जाती है, या वे झड़ जाती हैं। जो सूत्र-युग्मन या संधियाँ अनुभव द्वारा सक्रिय होती हैं वे कायम रहती हैं, जबकि शेष क्रमशः समाप्त हो जाती हैं।

मस्तिष्क का इस प्रकार का लचीलेपन या नम्यता (प्लास्टिसिटी) को **अनुभव-प्रत्याशी** कहा जाता है -- बाल्यावस्था में बिना किसी प्रतिरूप के (अनपैटर्नड्) सूत्र युग्मों का अतिउत्पादन और उसके बाद अनुभवों द्वारा पुष्टि या अपुष्टि पर निर्भर उनकी भारी 'छंटनी'। परन्तु इसके साथ ही अनुभव-आश्रित नम्यता या लचीलापन भी होता है, जो किसी अनुभव की अनुक्रिया में एक नए सूत्र युग्म की रचना है। नए अनुभव के दस-पंद्रह सेकंड के बाद, मस्तिष्क के जिस क्षेत्र ने उस अनुभव को प्रसंस्कृत किया हो उसमें नए सूत्र युग्म बनते हैं। यहाँ भी जितनी आवश्यकता हो उससे अधिक सूत्र युग्म निर्मित होते हैं, और समय के साथ अप्रयुक्त सूत्र युग्मों की छंटनी होती है।

वातावरण की अनुक्रिया (रिस्पॉन्स) स्वरूप जो दो प्रकार के मस्तिष्क परिवर्तन होते हैं उन्हें एक स्थूल सादृश्य से समझा जा सकता है। तैरने का उदाहरण लें। बचपन में आप पानी में छपछपाए होंगे और उस पर तैरना, फ्री-स्टाइल में तैरना या हाथ-पैर से क्षेपण करना (डॉग पैडलिंग) करना सीखा होगा (अनुभव प्रत्याशी)। अगर बाद में आपको तैराकी प्रशिक्षिका तैरना सिखाती हैं, तो वे आपका तैरना दो तरह से बदल सकती हैं : आपको तैरने की नई शैलियाँ सिखा कर, जैसे बटरफ्लाय स्ट्रोक (अनुभव प्रत्याशी) *और* आपकी पहले सीखी गई कुछ तकनीकों को पुख्ता करने और साथ ही कुछ अन्य को त्याग देने में मदद कर।

तंत्रिका कोशिकाओं का मज्जीकरण (मायेलिनेशन)

मायलिन एक वसीय ऊतक (फैटी-टिश्यू) होता है जो स्नायु तन्तु (नर्व फाइबर) को ढकता है तथा उसे रोधी (इन्सुलेट) बनाता है, जिसके कारण उसमें विद्युत आवेग अधिक गति से प्रवाहित हो पाता है। जन्म के समय अधिकांश स्नायु तन्तुओं पर वसा ऊतक का आवरण नहीं होता। मस्तिष्क के विभिन्न भागों में मायेलिनेशन या मज्जीकरण की प्रक्रिया क्रमिक व लगातार बढ़ने वाली होती है, जिसमें कई वर्ष लगते हैं। इसके कारण वह संभव होता है जिसे हम संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का स्वाचालित बनना कहते हैं -- अर्थात् जब कोई कृत्य इतना अभ्यस्त हो जाए कि वह अचेतन रूप से व बिना प्रयास के किया जा सके। जैसे-जैसे बच्चे बड़े होने लगते हैं मज्जीकरण के कारण अधिकाधिक संज्ञानात्मक प्रक्रियाएँ स्वचालित बनती जाती हैं या प्रयासहीन हो जाती हैं। परन्तु क्योंकि मज्जीकरण धीमे-धीमे होने वाली प्रक्रिया है माना यह जाता है कि यह बढ़ते बालक की

मदद भी करती है, जैसा आप इस अध्याय में आगे देखेंगे।

अब हम उन चार प्रश्नों में से पहले की ओर मुड़ते हैं : क्या बच्चे वयस्कों से बिल्कुल ही अलग तरह से सोचते हैं, या वे सिर्फ वयस्कों से कम कुशल होते हैं और कम जानते हैं?

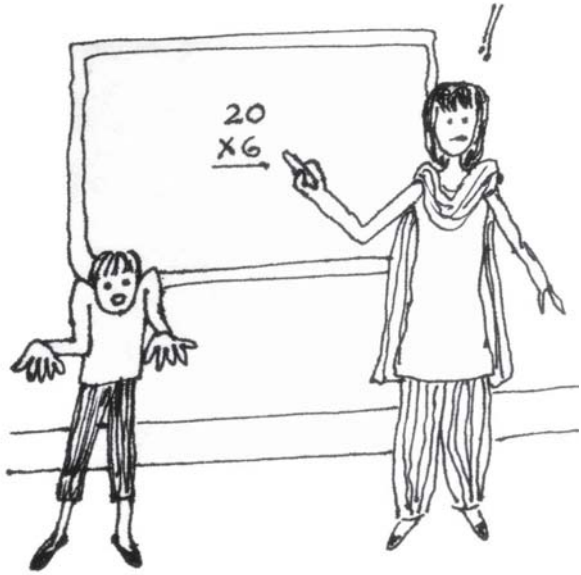

'मुझे माफ करें! मेरा मज्जीकरण अब तक पूरा नहीं हुआ है।'

गुणात्मक परिवर्तन दरअसल संचित संख्यात्मक परिवर्तन है

ज्याँ पियाज़े, जो प्रख्यात स्विस मनोवैज्ञानिक थे, ने हमें एक नायाब वैज्ञानिक उपहार दिया -- बाल विकास का एक युक्तियुक्त सिद्धान्त जो बालकों के संबंध में हमारे कई अवलोकनों का स्पष्टीकरण उपलब्ध करवाता हो। परन्तु उनका इससे भी बड़ा उपहार शायद यह है कि वे मनोवैज्ञानिकों के लिए यह अवसर भी छोड़ गए कि वे उनके स्पष्टीकरणों से असहमत हों अपने वैकल्पिक और युक्तियुक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त गढ़ें। पियाज़े ने विकास को विभिन्न चरणों की एक कड़ी के रूप में वर्णित किया था, जिसका प्रत्येक चरण पिछले से **गुणात्मक** रूप से स्पष्टतः भिन्न हो। चरणों का क्या अर्थ है? अगर हम ग़ौर से देखें तो पाएँगे कि बच्चों की क्षमताएँ कई तरह की परिस्थितियों में अचानक बदल जाती हैं, और यह अंतर केवल पहले से 'अधिक या बेहतर' के अर्थ में न होकर क्षमता की प्रकृति का अंतर प्रतीत होता है, तब हम इस बदलाव को चरण-सा विकास कह सकते हैं।

पियाज़े ने विकास के प्रत्येक चरण में बच्चों की संज्ञानात्मक क्षमताओं को कुछ केंद्रीय अवधारणाओं के संदर्भ में वर्णित किया। ये अवधारणाएँ -- उदाहरण के लिए, आत्मकेंद्रवाद, वस्तु स्थायित्व, संरक्षण आदि -- बच्चे की तर्कक्षमता को जो वह कतई कर ही नहीं सकता के रूप में तब तक प्रस्तुत करती हैं जब तक वह आगामी चरण में प्रवेश न कर ले। या, दूसरे शब्दों में, एक चरण में कोई बालिका कुछ खास प्रश्नों का उत्तर हमेशा ही गलत देगी, परन्तु अगले चरण में वह ठीक उन्हीं प्रश्नों का उत्तर हमेशा सही देगी। विकास को 'पहले नहीं -- तब कर पाने' के चरणों की शृंखला के रूप में वर्णित कर, पियाज़े का सिद्धान्त कई शैक्षणिक निहितार्थों को उत्पन्न करता है। जैसे अवधारणाओं का 'सिखाने योग्य होना' (टीचेबिलिटी), सीखने की तैयारी, तथा चरण-संक्रमण को प्रेरित करने के लिए उपयुक्त वातावरण की मौजूदगी।

तो पियाज़े के सिद्धान्त में ऐसा क्या है जिस पर सवाल उठाया जा सके ? मनोवैज्ञानिकों ने उनके काम के कई पक्षों पर सवाल उठाए हैं, पर मैंने उनमें से दो विचार चुने हैं, ताकि आप उन पर चिंतन करें।

- संभवतः चरण जैसे परिवर्तन हमें इसलिए नज़र आते हैं क्योंकि हम लंबी अवधियों के दौरान बच्चों का जो आचरण रहा उसकी तुलना करते हैं। ऐसे में क्या हम उन सतत होने वाले परिवर्तनों पर गौर करने से चूक जाते हैं, जो हमेशा होते रहते हैं?

मान लें कि बच्चों की क्षमताओं में लगातार बदलाव होते रहते हैं, अर्थात् एक से दूसरे दिन में। ये परिवर्तन प्रसंस्करण (प्रोसेसिंग) की गति, बच्चों में मौजूद पृष्ठभूमि ज्ञान की मात्रा, तर्क करने की नई रणनीतियों को सीखने, तथा मौजूदा रणनीतियों के उपयोग में कुशलता तथा सहुलियत से संबंधित हों। इन सभी में बालक प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, कुछ बेहतर जाता है। तो फिर एक लंबी अवधि के बाद, अर्थात् कुछ सालों बाद, धीमे-धीमे बढ़ने वाले परिवर्तन ऐसे आचरण की दिशा में ले जाएँगे, जो तुलना करने पर कुछ वर्ष पहले के आचरण से बिल्कुल भिन्न नज़र आएगा। छोटे परिवर्तनों की लम्बी शृंखला 'अचानक' बालिका को कुछ ऐसा करने में सक्षम बना देगी जो वह पहले कर ही नहीं पाती थी। या यह भी हो सकता है कि वह उस काम को इतनी अच्छी तरह करने लगी हो कि किसी दिन वयस्क अचानक उस अंतर पर गौर करें!

- जब बच्चे सवालों के 'सही' उत्तर नहीं देते, तो हम मान लेते हैं कि ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि उन्हें उत्तर मालूम ही नहीं हैं। परन्तु हो यह भी सकता है कि उन्हें दिक्कत दूसरी ही चीज़ों से हो रही हो, जैसे याद्दाश्त पर माँग बहुत अधिक हो, या दिए गए संकेत भ्रामक हों, या उसे भाषा की व्याख्या करने में समस्याएँ आ रही हों।

आपके द्वारा पूछे गए प्रश्न या दिए गए कार्य के प्रति बालक की अनुक्रिया जितनी उसकी क्षमताओं पर निर्भर होती है उतनी ही इस बात पर भी कि आपने वह सवाल किस तरह

पूछा है या किस तरह काम करने को कहा है। पियाज़े की 'आत्मकेंद्रितता' (ईगोसेंट्रिसिज़्म) की परीक्षा इसका अच्छा उदाहरण है। इस परीक्षा में बच्चे मेज़ पर बने त्रिआयामी पहाड़ों की एक जटिल व्यवस्था को उसके इर्दगिर्द चल कर देखते हैं। वे एक छोर पर बैठते हैं और उन्हें विभिन्न चित्रों से उस चित्र को चुनने को कहा जाता है, जो दूसरे छोर पर बैठे व्यक्ति को नज़र आएगा। शालापूर्व आयु के अधिकांश बच्चे इस काम को अच्छी तरह नहीं कर पाते -- वे उस चित्र को चुन लेते हैं, जो स्वयं वे जो देख रहे हों उसे ही दर्शाता है। पियाज़े ने इसे विकास के उस चरण में बालकों की मूलतः आत्मकेंद्रित प्रकृति का प्रमाण माना। यहाँ आत्मकेंद्रित होने का तात्पर्य दूसरों के दृष्टिकोण को देख पाने की अक्षमता है।

पर कल्पना करें कि यह काम निम्नोक्त प्रकार से सरल बना दिया जाए : किसी वयस्क के ठीक सामने बैठे बच्चे के पास एक ऐसा चित्र जिसमें एक तरफ एक घर हो और उसकी उल्टी तरफ एक पेड़ हो। कोई बच्ची उसे ऐसे सीधे पकड़ कर बैठे कि उसकी ओर पेड़ हो। क्या उसे यह अहसास होगा कि वयस्क केवल घर देख सकता है, पेड़ नहीं?

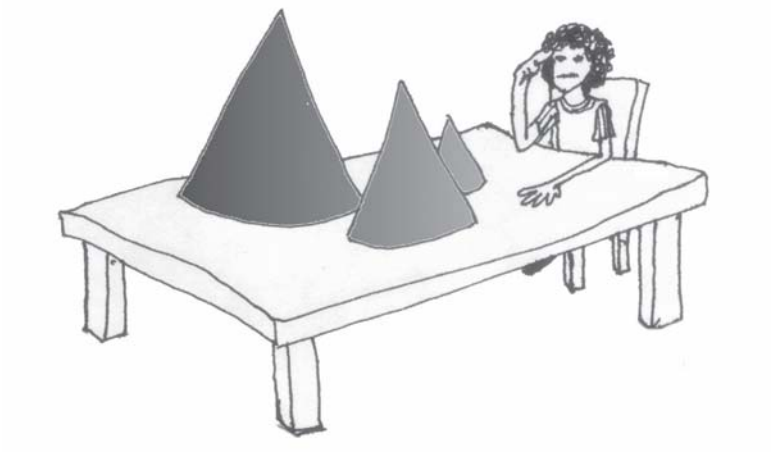

बेशक, उसे पता चलता है! शालापूर्व आयु के बच्चे यह काम बड़ी आसानी से कर सकते हैं। इसका मतलब हुआ कि वे समझते हैं कि जो कुछ वे स्वयं देख रहे हैं, दूसरे उससे भिन्न देखते हैं, अर्थात् वे पूर्णतः आत्मकेंद्रित नहीं होते। पियाज़े का तीन पहाड़ों वाला काम बच्चों की स्थानिक तार्किकता (स्पेशियल रीज़निंग), मानसिक कल्पना (मेंटल इमेजरी) तथा, संभवतः स्मृति पर भारी माँग करता है। यह मात्र उनके आत्मकेंद्रित चिंतन की परीक्षा नहीं करता। बालक की ये अन्य क्षमताएँ आयु के साथ धीमे-धीमे बढ़ती जाती हैं। पर हम जो कुछ देखते हैं उसे 'आत्मकेंद्रितता चालू-आत्मकेंद्रित बंद' किस्म का

विकास मानने की भूल करते हैं।

पियाज़े के सिद्धान्त की तुलना स्पर्धा में मौजूद अन्य विवरणों से करने की जो चेष्टाएँ की गईं, उनमें दो तरह के प्रमाण बार-बार प्राप्त हुए : छोटे बच्चे अक्सर बेहद कुशलता से तर्क करते हैं, और बड़े बच्चे (साथ ही वयस्क भी) अक्सर अकुशलता से तर्क करते हैं। हम बच्चों को 'किसी भी तरह कर-ही-नहीं-सकते' से 'हमेशा-कर-सकते हैं' की ओर बढ़ने के बजाय 'बिरले-करेंगे' से 'अक्सर-करेंगे' की ओर बढ़ा पाते हैं। इन निष्कर्षों का अच्छा स्पष्टीकरण पियाज़े के सिद्धान्त में नहीं मिलता। इस कारण विकास को समझने के बिल्कुल भिन्न तरीके उभरे हैं। ऐसा एक नज़रिया रॉबर्ट सीग्लर ने अपनाया, जिनके पास विकास का **सूचना प्रसंस्करण** (इन्फर्मेशन प्रोसेसिंग) सिद्धान्त है। सीग्लर तथा उनके जैसे अन्य विद्वान बालक तथा वयस्क के चिंतन में एक आवश्यक निरंतरता पर बल देते हैं। इसका अर्थ है कि हम बच्चों के संज्ञान (चाइल्डस् कॉग्निशन) को वयस्क संज्ञान (एडल्ट कॉग्निशन) के छोटे संस्करण के रूप में समझ सकते हैं। बाल-सुलभ चिंतन, मस्तिष्क की बेहतर प्रक्रियाओं, 'अधिक ज्ञान' तथा रोज़मर्रा के अनुभव से मिले अभ्यास के कारण वयस्कों जैसे चिंतन में बदल जाता है।

परन्तु तब विकसित ठीक क्या होता है? क्या संज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया को चरणों के सिवा किसी अन्य प्रकार से वर्णित भी किया जा सकता है? बेशक ऐसा करना संभव है, और वह भी भरोसेमंद तरीके से। जिस प्रकार की क्षमताएँ विकसित होती हैं, उनका सार-संक्षेप नीचे दिया जा रहा है।

बाल विकास का सतत दृष्टिकोण

मस्तिष्क की कल्पना एक सूचना प्रसंस्कृत करने वाली मशीन के रूप में करें। यह मशीन कई काम कर सकती है, इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त सूचनाओं तथा मस्तिष्क में भंडारित सूचनाओं दोनों के ही साथ। नीचे दी गई सूची में इन क्षमताओं की लंबी सूची है।

इन क्षमताओं का अध्ययन शिशुओं, चल पाने वाले नन्हे बच्चों, शालापूर्व आयु के बच्चों, बड़े बच्चों, किशोरों तथा वयस्कों में किया गया है। यह शोध दर्शाता है कि इनमें से कई सामान्य क्षमताएँ जीवन की काफी आरंभिक अवस्था से ही मौजूद होती हैं और आयु तथा अनुभव के साथ बच्चे इन संज्ञानात्मक क्षेत्रों में अनवरत तथा गुणात्मक रूप से बेहतर होते जाते हैं। आइए हम प्रत्येक क्षमता को अलग से तथा विस्तार से देखते हैं।

पहचान की स्मृति शैशव से ही श्रेष्ठ होती है, और **अनुस्मरण** (रीकॉल) स्मृति बढ़िया होती (एक अध्ययन में चौदह माह के शिशु, चार माह के अंतराल के बाद भी किसी खास कृत्य को पुनः याद कर पाए थे) और आयु के साथ बेहतर होती जाती है। शालापूर्व आयु के बच्चों में अक्षरशः, शाब्दिक स्मृति पर बल देने की वृत्ति होती है। वे बड़े बच्चे की तरह किसी स्थिति का सारांश आसानी से नहीं निकाल पाते। शायद इसलिए क्योंकि ऐसा कर

पाने के लिए दुनिया का बेहतर ज्ञान आवश्यक होता है, जो उनमें अब तक मौजूद नहीं होता। अतः उनकी स्मृति किसी घटना के शब्दशः अनुस्मरण की क्षमता पर निर्भर करती है। क्योंकि ऐसी स्मृति वैसे भी सारांश स्मृति (जिस्ट मेमरी) से अधिक क्षणिक होती, आश्चर्य नहीं कि छोटे बच्चों की अनुस्मरण स्मृति बड़े बच्चों से अधिक कमज़ोर हो।

मस्तिष्क

इतिवृत्त

सामान्य क्षमताएँ

- पहचानना
- अनुस्मरण
- कार्यात्मक स्मृति
- पूर्वाभ्यास (रिहर्सल)
- सूचना प्रसंस्करण की तेज़ गति
- चयनात्मक ध्यान (सिलेक्टिव अटेंशन)
- अवधारणा का गठन
- सूचना का सहसंबंध स्थापित करना
- सूचना का व्यवस्थापन
- सूचना का दीर्घकालिक भंडारण
- स्वयं की संज्ञानात्मक क्षमताओं तथा रणनीतियों का अधिसंज्ञान

कार्यात्मक स्मृति (जिसके प्रति हम वर्तमान में सचेत हों उसे हम वहाँ रखते है' जहाँ हम आने वाली ऐंद्रिक सूचना को अपनी दीर्घकालिक स्मृतियों से मिला नया ज्ञान रचते हैं) आयु के साथ अनवरत बढ़ती जाती है। एक ही समय पर जितने प्रतीकों के साथ काम किया जा सकता है, उसकी संख्या वयस्कों में सात जमा या बाकी दो, बताई जाती है, जबकि पाँच साल के बच्चों में यह तकरीबन तीन प्रतीकों की होती है। यह वृद्धि -- अधिक बड़े भण्डारण के कारण होती है या अधिक कुशल प्रसंस्करण के कारण? यह अब तक साफ-साफ स्थापित नहीं हो पाया है, परन्तु संभव है कि इसका कारण कुशल संस्करण हो। उदाहरण के लिए बड़े बच्चे, छोटे बच्चों की तुलना में शब्दों या संख्याओं का उच्चारण अधिक तेजी से कर पाते हैं। इसलिए वे कार्यकारी स्मृति में सामग्री का पूर्वाभ्यास भी तेज़ी से कर लेते हैं। तेज़ी से पूर्वाभ्यास करने का मतलब होता है कि अधिक सामग्री कायम रखी जा सकती है, अतः कार्यकारी स्मृति का आकार भी अधिक बड़ा लगने लगता है।

आयु के साथ सूचनाओं के **प्रसंस्करण की गति** में कई गुना (एक्स्पोनेन्शियल) वृद्धि होती है (नीचे दी गई आकृति इस वृद्धि के एक ठेठ वक्र को दर्शाता है)। मनोवैज्ञानिक रॉबर्ट केल ने विभिन्न कार्यों को करने के दौरान प्रसंस्करण की गति का अध्ययन किया। ये काम सामान्य प्रतिक्रिया समय से लेकर मानसिक गणित तक के थे। उन्होंने बताया कि वयस्क एक चार साल के बालक की तुलना में तीन गुना तेज़ी से, आठ साल के बच्चों की तुलना में दुगनी तेज़ी से और ग्यारह साल के बच्चों की तुलना में डेढ़ गुनी तेज़ी से प्रतिक्रिया करते हैं। चाहे केल ने कोई भी काम क्यों न दिया हो, ये अनुपात लगातार सच साबित होते गए। यह तथ्य सुझाता है कि संभवतः एक साझा ढाँचागत तंत्र आयु से संबंधित तेज़ प्रदर्शन के लिए जिम्मेदार है। संभव है कि इसका कारण स्नायु तंतुओं के गिर्द मायेलिन की परत चढ़ना हो।

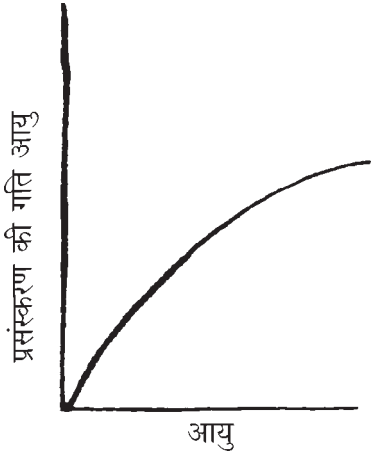

चयनात्मक ध्यान हमारे आसपास प्रतिपल मौजूद उद्दीपकों में से केवल प्रासंगिक उद्दीपकों पर ध्यान देने की क्षमता है। यह ऐसी रणनीति है जिसका उपयोग आयु के साथ बढ़ता है। उदाहरण के लिए अध्ययन दर्शाते हैं कि जब दो चित्रों की तुलना कर अंतर बताने को कहा जाए, तो आठ वर्षीय बच्चे छोटी उम्र के बच्चों की तुलना में अधिक व्यवस्थित व चयनात्मक रूप से ध्यान दे पाते हैं। किसी सवाल का सही जवाब देने या किसी काम को सही तरह से करने की क्षमता अप्रासंगिक पक्षों से 'ध्यान हटा पाने' (ट्यून आउट) और केवल कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर ध्यान केंद्रित कर पाने पर निर्भर करती है। अगर यह क्षमता आयु के साथ सुधरती है, तो यह लग सकता है कि बच्चे 'अचानक' एक नई तरह की तार्किकता में सक्षम बन गए हैं।

बच्चे शैशवकाल से ही **अवधारणाएँ** गढ़ते हैं। अवधारणा विभिन्न विचारों का ऐसा समूह होती है, जो परस्पर किसी प्रकार जुड़े हुए हों। तीन माह के शिशु भी रंग तथा आकार की अमूर्त अवधारणाएँ गढ़ सकते हैं तथा उनका उपयोग अपने कृत्यों को निर्देशित करने के लिए करते हैं (एक प्रयोग, जिसमें शिशुओं तथा सचल लटकनों द्वारा यह तथ्य दर्शाया गया था, उसका वर्णन अगले अध्याय में किया गया है)। प्रारंभिक अवधारणाएँ गुणों तथा घटनाओं में प्रायिक जुड़ावों (प्रोबेबलिस्टिक कनेक्शन्स) से बनती है। अर्थात् कुछ चीज़ें सामान्यतः साथ-साथ होती हैं : आप पूंछों वाले कुत्तों को अधिक देखेते हैं, बनिस्बत केवल कुत्तों या केवल पूंछों को। यह सम्मिलन एक अवधारणा बन सकता है : कुत्तों की

पूंछें होती हैं। बाद में बच्चे **चारित्रिक** विशेषताओं तथा **पारिभाषिक** विशेषताओं में भेद कर सकते हैं, और यों परिभाषा आधारित अवधारणाएँ भी बना सकते हैं : *सामान्यतः* कुत्तों की पूंछ होती है, पर उनका चेहरा *हमेशा* ही होता है। मनोवैज्ञानिक फ्रैंक कील जो छोटे बच्चों में अवधारणा निर्माण का अध्ययन करते हैं, का मनना है कि बच्चे जो कुछ भी देखते हैं, उस सबके कारण भी समझना चाहते हैं। कारण संबंधी स्पष्टीकरण उन्हें नन्हे (मिनी) सिद्धान्तों की दिशा में ले जाते हैं। कारण तथा प्रभाव के ये जुड़ाव बच्चों की प्रारंभिक अवधारणाएँ गढ़ते हैं। उदाहरण के लिए, एक छोटा बच्चा भी यह महसूस करता है कि नारंगी रंग के पहियों वाली गाड़ी और चौकोर पहियों वाली गाड़ी में एक बुनियादी अंतर है, फिर चाहे उसने दोनों ही पहले न देखी हों, कील का कार्य दर्शाता है कि बच्चे 'क्यों' वाले सवालों का जवाब काफी पहले दे पाते हैं, जिससे पता चलता है कि यह उनकी अवधारणाओं का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।

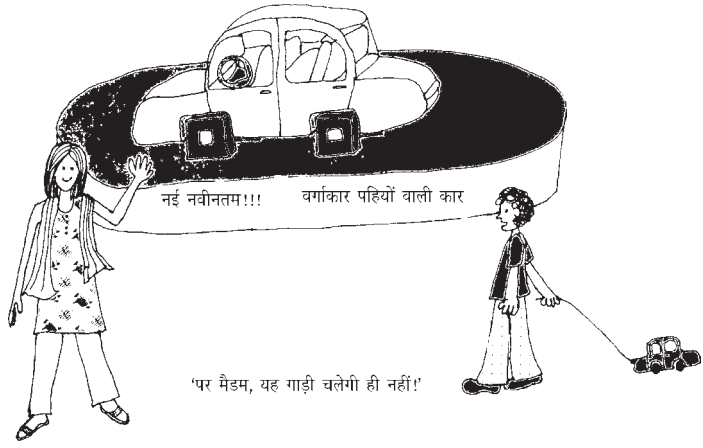

बहुत छोटे बच्चों की अवधारणाएँ तथा विचार कम होते हैं, साथ ही विचारों के बीच जुड़ाव भी कम होते हैं। परन्तु जैसे-जैसे वे विकसित होते हैं, सह-संबंध बैठाने और ज्ञान को व्यवस्थित करने में वे अधिक परिष्कृत भी होते जाते हैं। क्रमशः अधिक से अधिक पृथक तथ्यों को नई अवधारणाओं द्वारा जोड़ा जा सकता है, उनका 'स्पष्टीकरण' दिया जा सकता है। यों, समय के साथ, बच्चे विविध क्षेत्रों में प्रभावशाली मात्रा में दीर्घकालिक ज्ञान संकलित कर लेते हैं। **सूचना का दीर्घकालिक भण्डारण** केवल जीवन में कभी बाद में निकालने के लिए नहीं होता है (जैसे वार्षिक परीक्षा के समय उन्हें निकालना!)। नए अनुभवों से प्राप्त हुई सूचना को व्यवस्थित करने में भी पहले से मौजूद ज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जितना अधिक व्यक्ति जानता है, उतना ही अधिक वह जान सकता है।

हममें से प्रत्येक में अपनी संज्ञानात्मक क्षमताओं का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष, दोनों ही प्रकार का ज्ञान होता है। साथ ही हम उन रणनीतियों को भी जानते हैं जिनका प्रयोग हम किसी स्थिति विशेष में अपने समक्ष आए काम की माँगों के हिसाब से कर सकें। इसे **अधि ा-संज्ञानात्मक** ज्ञान (मैटाकॉग्निटव नॉलेज) कहा जाता है। हमारी प्रत्येक संज्ञानात्मक प्रक्रिया पर सोचा जा सकता है तथा उसका मूल्यांकन किया जा सकता है : हम पढ़ सकते हैं -- और अपनी समझ का प्रबोधन कर सकते हैं; कुछ सीख सकते हैं -- और यह अनुमान भी लगा सकते हैं कि उसका कितना हमें याद रहेगा; लिख सकते हैं -- और अपने लेखन की गुणवत्ता पर विचार कर सकते हैं। बच्चे इन सभी क्षेत्रों में उम्र के साथ बेहतर भी होते जाते हैं। तकरीबन दस साल की उम्र तक बच्चे यह जान लेते हैं और बता भी सकते हैं कि शब्दशः स्मरण रखने से कहीं अधिक आसान है सार-संक्षेप को याद रखना, कि दोहराने से स्मृति में सहायता मिलती है, और अनुस्मरण से अधिक आसान पहचानना होता है। बड़े बच्चे पढ़ते समय बेहतर समझ दर्शाते हैं, क्योंकि वे पाठ के विरोधाभासों को पहचानने में बेहतर होते हैं, पाठ में महत्त्वपूर्ण क्या है यह पहचान पाते हैं, और उनमें यह संभावना अधिक होती है कि जो कुछ समझ न आए उसे फिर से पढ़ लें।

अब यह स्वीकारा जाने लगा है कि पहले हम जो सोचते थे उससे काफी कम आयु में बच्चे के पास संज्ञानात्मक क्षमताएँ होती हैं। संभवतः वे उन्हें इसलिए दर्शा नहीं पाते क्योंकि सूचनाओं के प्रसंस्करण की गति उनमें धीमी होती है, और शायद प्रारंभिक आयु में ये क्षमताएँ अधिक कार्यात्मक तथा अव्यक्त होती है (छोटे बच्चे उन पर कम चिंतन करते हैं और उनका शाब्दिक वर्णन भी कम कर पाते हैं)। मस्तिष्क को सूचना को प्रसंस्कृत करने वाले यंत्र के रूप में देखने से हम संज्ञानात्मक कार्यों की पहचान, और बाल्यावस्था के दौरान उसके क्रमिक विकास का अध्ययन कर पाते हैं। यह विकास के परंपरागत चरणबद्ध सिद्धान्त का एक प्रभावशाली विकल्प सामने रखता है। इस प्रकार का सिद्धान्त शिक्षकों के लिए भी अधिक उपयोगी है, क्योंकि इससे हमें यह समझने में मदद मिलती है कि बच्चों को भिन्न-भिन्न आयु में क्या कठिन लगता है। और शायद तब हम एक या दूसरी तरह की माँग कम कर सकते हैं ताकि जटिल परिस्थितियों के अधि ाक कुशल प्रसंस्करण में बच्चों को मदद मिल सके।

आप स्वयं भी ऐसी सहायता कर पाने के तरीके देख सकेंगे -- मैं उदाहरण के बतौर तीन उपाय सुझा रही हूँ।

1. छोटे बच्चे की कार्यात्मक स्मृति पर माँग घटाने के लिए काम को छोटे भागों में बाँटें और निर्देशों को लिख दें। उन्हें चीज़ों को लिखने पर प्रोत्साहित करें, ताकि उन्हें कार्यात्मक स्मृति में अधिक सामग्री न रखनी पड़े -- इससे अन्य प्रक्रियाओं के लिए स्थान बचेगा।

2. छोटे बच्चों को किसी स्थिति विशेष में किस पर ध्यान देना है और किसकी उपेक्षा करनी है कि विषय में दिशानिर्देश दें। कोशिश करें कि सामग्री में से ध्यान बंटाने वाले अप्रासंगिक उद्दीपन हटा दिए जाएँ।

3. नई सामग्री को उससे जोड़ें जिसे बच्चा पहले से जानता हो। साथ ही जहाँ तक संभव हो नए विचार सिखाने के लिए परिचित संदर्भों का उपयोग करें।

उपरोक्त सुझाव सीखने में *मददगार* हो सकते हैं, परन्तु मदद करने और सीखने की *गति बढ़ाने* में एक बारीक-सा अंतर है। विकास की निरंतरता संबंधी दृष्टिकोण हममें यह लोभ जगा सकते हैं कि हम बच्चों से सघन अभ्यास करवा रोज़मर्रा के अनुभव में सामने आने वाली चीज़ों को सीखने की उनकी गति बढ़ा सकते हैं। परन्तु क्या ऐसा करना अच्छा विचार है? क्या वृद्धि की गति के साथ छेड़छाड़ की जा सकती है, और क्या ऐसा करना चाहिए? इस प्रश्न पर 'प्रारंभिक बाल्यावस्था शिक्षण' के व्यापक शीर्षक के तहत गरमागरम बहस हुई है। इसे हम अगले भाग में उठाएँगे।

बढ़ने में जितना समय लगे, लगाओ

गिव यॉर चाइल्ड अ सुपीरियर माइन्ड (अपने बच्चे को श्रेष्ठ मस्तिष्क दो) तथा *डोन्ट पुश यॉर प्रीस्कूलर* (अपने शालापूर्व आयु के बच्चे को धकेलो मत), ये 1980 के दशक में लिखी गई दो पुस्तकों के शीर्षक हैं। आप इनमें से किसे उठाएँगे? ये पुस्तक के विकास में संख्यात्मकता बनाम गुणात्मकता के विचार पर आधारित हैं। अगर बच्चे (संज्ञानात्मक रूप से) वह सब कर सकते हैं जो वयस्क कर सकते हैं, केवल कम अच्छी तरह, तो शायद उन्हें जल्द से जल्द स्वयं को बेहतर बनाने की दिशा में धकेला जा सकता है। परन्तु अगर इसके विपरीत विकास गुणात्मक रूप से भिन्न-भिन्न चरणों में बढ़ता है, अगर वह परिपक्वता की घड़ी के अनुरूप चलता है, तो फिर 'शालापूर्व आयु के अपने बालक को धकेलना' निरर्थक ही है। यह समय की बर्बादी हो सकता है, और तो और इसके अनचाहे दुष्प्रभाव भी हो सकते हैं।

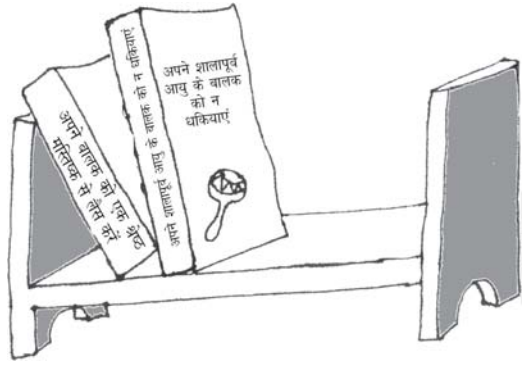

1989 में मेरिऑन हायसन तथा अन्य ने एक अध्ययन आयोजित किया जिसने ठीक यही संकेत दिया। बच्चों के दो समूहों को दो भिन्न प्रकार के किंडरगार्टन-पूर्व कार्यक्रमों से गुज़ारा गया। इनमें से एक कार्यक्रम अकादमिक था (जहाँ उन्हें वर्णमाला तथा अंक सिखाए गए), तथा दूसरा गैर-अकादमिक था (जहाँ बच्चों की पहल पर गतिविधियाँ की जाती थीं)। वर्ष भर बाद दोनों कक्षाओं की तुलना विविध मापों के आधार पर की गई। ज़ाहिर था कि अकादमिक शालापूर्व बच्चे अक्षरों तथा अंकों को पहचानने में बेहतर थे (उन्हें यह सिखाया गया था)। सामान्य बुद्धिमत्ता तथा सामाजिक दक्षता संबंधी परीक्षाओं में दोनों समूह बराबर थे। अगले वर्ष किंडरगार्टन कक्षा (शिशु कक्षा) के अंत तक, जिस दौरान दोनों समूह के बच्चे एक समान कार्यक्रम से गुज़रे, पाया गया कि अकादमिक किंडरगार्टन-पूर्व कार्यक्रम से गुज़रे बच्चों के जो लाभ थे, वे गायब हो गए। दूसरे समूह की तुलना में शाला के प्रति उनका नज़रिया अधिक नकारात्मक बना और उनके मन में परीक्षओं के प्रति आशंका भी अधिक पाई गई।[1]

ऐसे ही कुछ अन्य अध्ययन भी किए गए, उनके भी नतीजे हायसन के समान ही थे। इससे जो सीख हमें मिलती है वह यह है कि शालापूर्व आयु के बच्चों को धकेल कर उनके संज्ञानात्मक परिणामों को अल्पकालिक रूप से हम बढ़ा तो सकते हैं, पर इसका दीर्घकालिक नतीजा 'वांछनीय मनोवृत्ति' की कीमत चुकाने का हो सकता है। 'वांछनीय मनोवृत्ति' का आशय पढ़ने और लिखने के प्रति प्रेम से है। जब बालक को दोहराव तथा अभ्यास के ऐसे दौर से गुज़ारा जाता है जिसमें उसे आनंद न मिले, तो इस प्रेम का लुप्त हो जाना समझ भी आता है। यों सावधानी से की गई शोध की समीक्षा दिखाती है कि विकास की गति को बढ़ना न तो संभव है, न बालक के लिए अच्छा है, फिर चाहे विकास के प्रति हमारा नज़रिया गुणात्मक हो या संख्यात्मक।

दोनों ही नज़रियों के तहत, इस बात पर सभी सहमत हैं कि बच्चे **संज्ञानात्मक रूप से अपरिपक्व** होते हैं। विकासात्मक मनोवैज्ञानिक डेविड ब्जॉर्कलुंड मानते हैं कि यह अपरिपक्वता स्वाभाविक विकास (नॉर्मल डेवलपमेंट) में महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न करती है। बचपन बढ़ने और परिपक्व बनने का एक आवश्यक दौर है। इन्सानों ने संस्कृति तथा समाज को इस सीमा तक विकसित कर दिया है कि बच्चों को बाद में जीवन में बचे रहने के लिए उसे आत्मसात करने और समस्त ज्ञान तथा कौशलों को सीखने के लिए वयस्कों

1. इस अध्ययन ने केवल मध्य व उच्च मध्य आय वर्ग वाले बच्चों को देखा था। यह मानने के अच्छे कारण हैं कि इस शोध के नतीजे वंचित परिवारों से आए बच्चों पर लागू नहीं होंगे। निम्न आय वर्ग के बच्चों के लिए कई प्रारंभिक हस्तक्षेप कार्यक्रम सफल रहे हैं। इसका कारण यह है कि उनके सामान्य वातावरण में पर्याप्त बौद्धिक उद्दीपन नहीं होता। ऐसी स्थिति में शालापूर्व कार्यक्रम वह उपलब्ध करवाता है, जिसकी घरेलू वातावरण में कमी हो। यह बात अत्यावश्यक चरण (क्रिटिकल पीरियर्डस्) के अगले भाग में पुनः उठती है।

पर एक लम्बी अवधि तक निर्भर रहने की ज़रूरत पड़ती है। हमारे निकटतम वानर रिश्तेदारों की तुलना में मनुष्य के बच्चे अधिक वर्ष तुलनात्मक अपरिपक्वता में गुज़ारते हैं। यह अपरिपक्वता शारीरिक, यौनिक तथा संज्ञानात्मक होती है। ब्जॉर्कलुंड ने इन तीनों में से अंतिम पर ध्यान दिया है।

उनके अनुसार, हम बच्चों की संज्ञानात्मक अपरिपक्वता को एक प्रकार की *कमी* के रूप में देख सकते हैं। ऐसी कमी जिसे अनुभव तथा शिक्षण द्वारा सुधारने की ज़रूरत हो। पर इसे एक दूसरी तरह से भी देखा जा सकता है : संज्ञानात्मक अपरिपक्वता बाल विकास में आवश्यक कार्य संपादित कर सकती है। हो सकता है कि बाल्यावस्था की कुछ *अक्षमताओं* को दरअसल गुणात्मक रूप से भिन्न *क्षमताओं* के रूप में देखना बेहतर हो। ऐसी क्षमताओं के रूप में जो अनुभवों को व्यवस्थित करने में और, अतः बाल्यावस्था में सीखने में उपयोगी हों। इसका एक सरल-सा उदहरण है यह तथ्य कि शिशुओं की दृष्टि 20/20 की नहीं होती और प्रारंभिक कुछ महीनों तक काफी निकटदर्शी (मायोपिक) रहती है। इससे तब तक उस सूचना की मात्रा में कमी आती है, जिससे उन्हें निपटना हो, जब तक वे इस दुनिया की कुछ समझ न विकसित कर लें। साथ ही, क्योंकि वे सबसे अच्छी तरह उन्हीं चीज़ों को देख सकते हैं जो उनसे तकरीबन एक फीट की दूरी पर हों, वे स्तनपान करते समय अपनी माँ के साथ दृष्टि संपर्क बना सकते हैं। इसलिए नन्हे शिशु बेहतर देख पाएँ, इसके लिए उन्हें चश्मे बनवा कर पहनाने का कोई अर्थ नहीं होगा।

क्या यह संभव है कि अपरिपक्वता के अन्य लक्षण भी इसी तरह से विकास के लिए 'अनुकूल' हों? अगर ऐसा है तो शिक्षा के लिए इसके महत्त्वपूर्ण निहितार्थ हैं। हम कई बार छोटे बच्चों के सोचने के तरीकों को समस्यात्मक, सुधारे तथा ठीक किए जाने योग्य मान बैठते हैं। जबकि संभव है कि बालक के विकास की 'दिशा के साथ बढ़ने' में ही बुद्धिमानी हो। उदाहरण के लिए ब्जॉर्कलुंड *उपयोगी* अपरिपक्वता के कई क्षेत्रों की पहचान करते हैं, मैं नीचे दो का सार-संक्षेप प्रस्तुत करूँगी : अधिसंज्ञान तथा, प्रसंस्करण की गति।

अधिसंज्ञान से तात्पर्य स्वयं अपनी संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के ज्ञान से है। छोटे बच्चे अपनी संज्ञानात्मक क्षमताओं का अनुमान बढ़ा-चढ़ा कर लगाने के लिए विख्यात हैं, जिसकी पुष्टि कई अध्ययनों से हुई है। उदाहरण के लिए स्मृति संबंधी अध्ययनों ने

दर्शाया है कि पाँच साल के बच्चे बाद में याद रखी जाने वाली सामग्री को रटने में बहुत कम समय लगाते हैं, पर वे कितना याद रख पाएँगे इसकी उनकी भविष्यवाणी अतिशयोक्तिपूर्ण होती है। जब वे साफ-साफ यह देख भी लेते हैं कि उनका अनुमान गलत था, फिर भी वे अपनी याद रख पाने की क्षमता की अवास्तविक भविष्यवाणियाँ करते चलते हैं। अमूमन बच्चे अपने कौशलों तथा भावी प्रदर्शन को बढ़ा-चढ़ा कर आँकते हैं (एक खास उम्र के पहले वे आसानी से यह कबूल नहीं करते कि वे दरअसल जानते नहीं हैं)।

खुशफहमी या 'अनुचित आशावाद' की यह प्रवृत्ति हमें एक समस्या लग सकती है। दरअसल बड़े बच्चों तथा वयस्कों में कमज़ोर अधिसंज्ञान तमाम गतिविधियों में उनके प्रदर्शन को नकारात्मक रूप से प्रभावित भी करता है। परन्तु छोटे बच्चों में यही खुशफहमी, कठिन कामों के लिए उन्हें प्रेरणा देने और उनमें जुटे रहने की शक्ति देने का महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी काम भी करता है। उदाहरण के लिए ब्ज़ॉर्कलुंड ने पाया कि तीन से पाँच साल के बच्चों ने अपनी नकल करने की क्षमता को बढ़ा-चढ़ा कर आंका, और जटिल कामों की नकल करने की चेष्टा की, जो उनकी क्षमता के परे थे। जैसे तीन गेंदों को एक-साथ उछालना! इसका नतीजा यह हुआ कि उन्होंने इस कठिन कौशल को सीखने, उसका अभ्यास करने की चेष्टा की, जबकि कोई वयस्क जो 'अपनी सीमाओं को जानता हो' काफी पहले ही हाथ खड़े कर देता। ब्जॉर्कलुंड इस ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि छोटे बच्चों में अपनी भूल अनुक्रियाओं को दबाने की प्रवृत्ति भी नहीं होती। इस प्रवृत्ति का संबंध पूर्व-अग्रपालीय वल्कुट (प्रीफ्रंटल कॉरटेक्स) के स्नायुतंत्र की अपरिपक्वता से है, जो तर्कसम्मत, योजनाबद्ध कृत्यों का स्थान होता है। हम सब जानते हैं कि छोटे बच्चों की तुलना में बड़े बच्चे और वयस्क सार्वजनिक रूप से गलतियाँ करने में कहीं ज़्यादा झिझकते हैं। परन्तु छोटे बच्चों की भूल अनुक्रिया वयस्कों से महत्त्वपूर्ण भूल-सुधार तथा प्रतिपुष्टि (फीडबैक) को उकसाती है। अगर वे अधिक 'परिपक्व' होते और केवल वे उत्तर ही देते जिनके सही होने पर उन्हें विश्वास होता, तो हम उन्हें सुधारने वाली सूचनाएँ भी कम दे पाते और वे उतना अधिक सीख भी नहीं पाते। इस सिद्धान्त का अच्छा उदाहरण है एक दो वर्षीय बालिका जो भाषा सीख रही हो -- वह बेझिझक अपने नए शब्दों व वाक्यों का उपयोग करती है, बिना इस चिंता के कि वे सही हैं या नहीं ('मैं वहाँ जाई थी...')। और जब भी वह यह गलती करती है वयस्क उसकी बात को सही कर दोहराते हैं ('तो तुम वहाँ गई थी, ऐसा क्या ?)।

प्रसंस्करण की गति के विषय में यह ज्ञात है कि उसमें चार से लेकर तकरीबन बीस वर्ष की आयु तक कई गुना (एक्सपोनेन्शियल) वृद्धि होती है, जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है। उसके ही साथ, मस्तिष्क के लचीलेपन (प्लास्टिसिटी), या नई चीज़ें सीखने की क्षमता, कम होती जाती है। क्या यह भी बाल विकास में एक आवश्यक भूमिका निभाता है?

ब्जॉर्कलुंड निश्चित रूप से यह मानते हैं। किसी छोटी बच्ची के लिए संज्ञानात्मक गतिविधि का काफी हिस्सा श्रमसाध्य और धीमा भी होता है। पर जैसे-जैसे वह बढ़ती है, अधिकाधिक संज्ञानात्मक गतिविधियाँ स्वचालित और तेज़ होती जाती हैं। यह अच्छा है -- पर कुशलता पर इसका विपरीत असर भी पड़ता है। जो अनुक्रिया त्वरित और स्वचालित होती है, उन्हें दबाना या बदलना कठिन होता है, जिसका मतलब है कि ये अनुक्रियाएँ लगभग तयशुदा हो जाती हैं। परन्तु एक अपरिपक्व स्नायु तंत्र संज्ञानात्मक लचीलेपन की अनुमति देता है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, तंत्रिका कोशिकाओं पर वसा ऊतकों की परत का चढ़ना (मायेलिनेशन) प्रसंस्कृत करने की प्रक्रिया को गति तथा स्वचालितता प्रदान करता है। और इस प्रकार छोटे बच्चे में अधूरे मज्जाच्छादन का मतलब यह होता है कि बाद में आने वाले वातावरणों से संज्ञानात्मक अनुकूलन के लिए उसकी तैयारी बेहतर रहती है।

एल्बर्ट आइन्साइन का एक सुंदर व सटीक उद्धरण है :

> *मैं कभी-कभी स्वयं से पूछता हूँ कि सापेक्षता का सिद्धान्त विकसित करने वाला मैं भला कैसे बना। मुझे लगता है कि इसका कारण यह है कि एक सामान्य वयस्क स्थान तथा समय की समस्याओं पर सोचना कभी बंद ही नहीं करता। इन चीज़ों के बारे में उसने एक बच्चे के रूप में भी विचार किया था। परन्तु मेरी बौद्धिक विकास विलंबित (रिटार्डेड) था, नतीजतन स्थान और समय पर मैंने तब सोचना शुरू किया जब मैं वयस्क हो चुका था। स्वाभाविक ही था कि जितना किसी सामान्य क्षमताओं वाले बालक के लिए संभव होता मैं इस समस्या में उससे कहीं अधिक गहराई तक जा सका।*

इन विचारों से करीब से जुड़ा है चार प्रश्नों में से अगला प्रश्न। क्या प्रारंभिक अनुभव बेहद महत्त्वपूर्ण होते हैं; क्या वे बालक की भावी वृद्धि को बना या बिगाड़ सकते हैं; या फिर बच्चे लचीले होते हैं; क्या बाद के अनुभव प्रारंभिक अनुभवों की कमी को पूरा कर सकते हैं?

विकास में अत्यावश्यक चरण

हाल में मैंने संज्ञानात्मक विकास तथा सीखने के अत्यावश्यक चरणों पर एक सेमिनार की घोषणा देखी। मुझे महमूस हुआ कि कुछ माता-पिता इस विषय को शंकित दृष्टि से देख सकते हैं। अत्यावश्यक चरणों के विचार में एक तरह की अपरिवर्तनीयता होती है। सही समय पर बच्चों को अगर हम सही चीज़ों से परिचित न करवाएँ तो क्या होगा? क्या इसका मतलब होगा कि बच्चा बाद में उसे कभी भी ठीक से नहीं सीख सकेगा? कई माता-पिता इसी प्रकार की अस्पष्ट-सी भावना से काम करते हैं -- वे अपने बच्चों के दिन अनेकों अनुभवों से भर डालते हैं ताकि बाद में उन्हें पछताना न पड़े।

परन्तु स्थिति की वास्तविकता क्या है? हम दोनों ही पक्षों के तर्क सुनते हैं : *बूढ़े कुत्ते को*

नए गुर नहीं सिखाए जा सकते, पर साथ ही *सीखने के लिए कभी बहुत देर नहीं होती।* पहली बात जो निश्चयपूर्वक कही जा सकती है, वह यह है कि 'अत्यावश्यक' (क्रिटिकल) शब्द हमेशा उपयुक्त नहीं होता। 'संवेदनशील चरण' कहना बेहतर है, कम से कम तब, जब हम संज्ञानात्मक तथा भावनात्मक क्षेत्रों में मानव विकास को देख रहे हों। अत्यावश्यक शब्द सबकुछ -- या -- कुछ भी नहीं की स्थिति सुझाता है। उदाहरण के लिए चूज़े अपने जीवन के प्रथम दिनों में हर गतिशील वस्तु के पीछे-पीछे चलेंगे, फिर चाहे वह वस्तु दरअसल उनकी माँ न भी हो। परन्तु अगर यह उद्भासन पहले कुछ दिनों में नदारद होता है, तो यह आचरण सीखा ही नहीं जाता। कुलिंगा पाखी (ज़ेब्रा फिंच) को अपने विकास के एक खास बिंदु पर एक खास तरह का गान सुनना पड़ता है ताकि वे उसे सीख और याद कर लें, अन्यथा वे उसे कभी सीख ही नहीं पाते। मानव के ऐंद्रिक विकास में भी

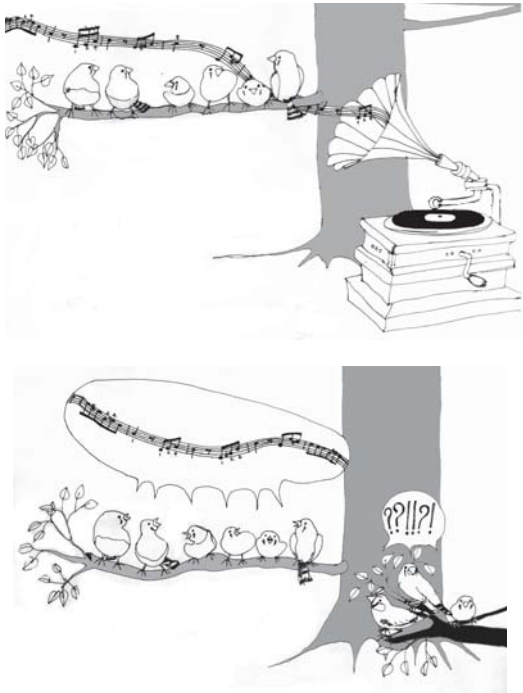

कुछ अत्यावश्यक चरण होते हैं। उदाहरण के लिए जीवन के प्रारंभिक महीनों में सामान्य दृश्य अनुभव अत्यावश्यक होता है ताकि मस्तिष्क का जो भाग दृश्य सूचनाओं को प्रसंस्कृत करता है, वह ठीक से विकसित हो जाए।

परन्तु मानव के भावनात्मक तथा संज्ञानात्मक विकास में स्थिति कुछ भिन्न होती है। प्रारंभिक बाल्यावस्था भावनात्मक विकास के लिए एक अत्यावश्यक चरण होने के बजाए संवेदनशील काल होता है। अनाथालयों से जो बच्चे साल भर के होने के पहले गोद ले लिए जाते हैं, वे बाद में गोद लिए गए बच्चों की तुलना में भावनात्मक रूप से बेहतर अनुकूलित हो पाते हैं। परन्तु बाद में भी अगर वे एक स्नेहमय व परवाह करने वाले वातावरण में गोद लिए जाएँ, तो प्रारंभिक प्रवंचना की काफी हद तक पूर्ति हो सकती है। जहाँ तक संज्ञानात्मक विकास का प्रश्न है, यह अस्पष्ट है कि इसमें किसी प्रारंभिक अत्यावश्यक चरण का अस्तित्व है भी या नहीं। हम भाषा को देख सकते हैं, जो ऐसी क्षमता है जिसके विकास के लिए हम किसी अत्यावश्यक चरण की संभावना की कल्पना कर सकते हैं। कुछ मामलों में जहाँ बच्चे अपने प्रारंभिक जीवन में बेहद कंगाल वातावरण में पले-बढ़े हों, भाषा तथा सामाजिक कौशल सीखने की *घटी हुई* क्षमता अवश्य दिखाई देती है -- फिर भी यह शून्य क्षमता नहीं थी।[2] इसी तरह हम जानते हैं कि बचपन में नई भाषा सीखना अधिक आसान होता है, पर वयस्क होने पर भी नई भाषा सीखना निश्चित रूप से संभव है। सीखना और याद करना वयस्कावस्था के दौरान भी जारी रहता है, और अपने जीवनकाल में व्यक्ति के लिए नए कौशल सीखना संभव होता है।

मनोवैज्ञानिक चार्ल्स नेल्सन ने आजीवन सीखने में अनुभव की भूमिका पर विस्तार से लिखा है। वे अत्यावश्यक चरणों के बारे में दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु रखते हैं। पहला यह कि प्रारंभिक वातावरण अगर नकारात्मक हो तो इसका दीर्घकालिक परिणाम हो सकता है। उदाहरण के लिए, अगर कोई बच्चा सतत दबावग्रस्त रहे, तो वयस्कावस्था में उसके हिप्पोकैम्पस का आयतन घटता है। अब क्योंकि हिप्पोकैम्पस सीखने तथा स्मृति के लिए आवश्यक है, ये दोनों ही क्षतिग्रस्त हो सकते हैं। पर कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि बाद में जीवन में जो दबाव आते हैं वे हमें निरापद या सही-सलामत छोड़ देते हैं। जो वयस्क भारी दबाव से गुज़रते हैं, वे दुश्चिंता, अवसाद तथा तमाम अन्य समस्याओं से ग्रस्त हो जाते हैं। अतः, नेल्सन कहते हैं कि तनाव तथा वातावरण संबंधी अन्य घटक एक विकासशील मस्तिष्क पर जैसा असर डालते हैं, उससे भिन्न असर वे एक विकसित मस्तिष्क पर भी डालते हैं।

नेल्सन का दूसरा बिन्दु यह है कि मनोविज्ञान ने जिन 'सकारात्मक' प्रारंभिक वातावरणों का अध्ययन किया है वे अमूमन सिर्फ 'सामान्य' वातावरण ही रहे हैं। अर्थात् शोध ने यह दर्शाया है कि जब तक किसी बढ़ते बच्चे को औसत मात्रा में उद्दीपन प्राप्त होते रहें, उसका संज्ञानात्मक विकास सामान्य रूप से बढ़ता रहेगा। बच्चों को विलक्षण वातावरण

2. कई ऐसे आश्चर्यजनक मामले हैं जिनके शिशु जंगल में सालों तक खोए रहे हों। इनमें यह माना गया कि उनकी परवरिश भेड़ियों ने की होगी, क्योंकि जब वे पाए गए उनका व्यवहार 'जंगली' था। उन्हें सभ्य बनाने की जब चेष्टा की गई, वैज्ञानिकों ने उनके विकास विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया।

उपलब्ध करवाने का प्रभाव क्या होगा, और क्या इसके वैसे विलक्षण परिणाम भी होंगे जो बाद के जीवन में प्राप्त करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो इसके बारे में खास जानकारी नहीं है।

इस दूसरे बिन्दु को रेखांकित करना सार्थक होगा : **अत्यावश्यक या संवेदनशील चरण की धारणा सामान्य वातावरण में सामान्य क्षमताओं के विकास से जुड़ी हुई है।** अगर छोटे बच्चों को (मानव या अन्य पशुओं के बच्चों को) सामान्य वातावरण के घटकों से वंचित कर दिया जाए, तो हमें कुछ बुनियादी क्षमताओं में कमी की अपेक्षा भी करनी होगी। इस बात को विशेष वातावरण में विशेष प्रतिभाओं के विकास से जोड़कर नहीं देखना चाहिए। खासतौर से भारत में, अपने बच्चों के विषय में लोगों के दो तरह के सरोकार होते हैं (उनमें जो ऐसे सरोकार रखने का सामर्थ्य रखते हों)। इनमें एक ऐसे प्रश्नों से संबंधित होता है, 'अगर हम अपनी छह वर्षीय बिटिया को शास्त्रीय संगीत से परिचित नहीं करवाते तो जब वह अठारह साल की हो जाएगी, तब तक क्या बहुत देर हो चुकी होगी?, दूसरे का संबंध इस प्रकार के प्रश्नों से है, 'अगर हम अपने छह वर्षीय बेटे को इस खास कार्यक्रम में शामिल करें तो क्या वह प्रतिभावान (जीनियस) बन जाएगा?'

इस प्रकार के प्रश्न को प्रत्यक्ष रूप से संबोधित करने वाला मनोवैज्ञानिक शोध बहुत कम है। शुरुआती संवर्धन कार्यक्रम (जैसे अमरीका में शालापूर्व बच्चों का हेड-स्टार्ट कार्यक्रम) बच्चों के लिए प्रभावशाली फायदे दर्शाते हैं, परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि ये बच्चे पहले ही वंचित बच्चे थे। अर्थात् अगर बात साफ-साफ कहें तो इन कार्यक्रमों ने वंचित वातावरण को सुधारने का काम किया था, ना कि एक सामान्य वातावरण को समृद्ध बनाने का। इसलिए विशेष उपलब्धियों तथा वातावरणों संबंधी किसी प्रश्न का उत्तर हमें सामान्य सूझबूझ से देना पड़ सकता है, जिसकी पुष्टि वैज्ञानिक शोध से नहीं की जा सकती!

निष्कर्ष

यह स्पष्ट है कि नितांत वंचित बचपन के परिणामों को बाद के वर्षों में आसानी से बदला नहीं जासकता। फिर भी शोध हमें आश्वासन देती है कि कई स्तरों पर :

- विविध प्रकार के स्वीकार्य वातावरणों में, विकास सामान्य रूप में बढ़ता है।
- हालाँकि जीवन के पहले कुछ वर्ष मस्तिष्क की सुनम्यता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था की समूची अवधि एक संवेदनशील चरण होता है।
- मनुष्य संचलन तथा संज्ञान के क्षेत्र में आजीवन नई चीजें सीख व याद कर सकता

है। मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि अगर उसे चुनौती और उद्दीपन मिलते रहें तो वह इन क्षेत्रों में आजीवन सीख सकता है।

नेल्सन एक ऐसी बात कहते हैं, जिसे हम अक्सर नज़रअंदाज़ कर देते हैं, वह यह कि प्रसवपूर्व महीनों तथा जीवन के प्रथम वर्षों में मस्तिष्क का जो विकास होता है वह **जैविक खतरों** की दृष्टि से बेहद संवेदनशील है। वे कहते हैं 'यह तर्क करने का एक अधिक मज़बूत वैज्ञानिक आधार यह हो सकता है कि मस्तिष्क के आरंभिक विकास में जैविक खतरों से संरक्षण द्वारा सहायता मिलती हो (उदाहरण के लिए माता का समुचित स्वास्थ्य तथा पोषण, प्रसव के बाद संतोषजनक पोषण, वातावरण में व्याप्त विषाणु तथा खतरनाक द्रव्यों से बचाव, विषाणुओं से सुरक्षा तथा प्रसव के पहले माता पर अनावश्यक दबाव का न होना), बनिस्बत इस तथ्य के कि बच्चे की देखभाल करने वाले अपने शिशु से कितनी नियमितता से बातचीत करते या खेलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि मस्तिष्क विकास के प्रयासों को खतरे के घेरे में आने वाली आबादी में लोक स्वास्थ्य के उपक्रमों, खासतौर से गर्भवती स्त्रियों तथा छोटे बच्चों के कार्यक्रमों पर, कम से कम उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना उन जन सूचना प्रसार अभियानों पर, जो शिशुओं तथा नन्हे बच्चों के लिए माता-पिता द्वारा बेहतर सामाजिक उद्दीपन को प्रोत्साहित करते हों -- हालाँकि दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं' खासकर। भारत में, हमारे लिए इन शब्दों का भारी महत्त्व है।

अगले दो अध्यायों में बाल विकास के दो अन्य प्रश्नों पर विचार किया जाएगा, प्रकृति-परवरिश विवाद तथा नैतिक विकास। ये विवादास्पद विषय हैं और मनोवैज्ञानिकों में इन पर गरमागरम बहस होती रही है।

संदर्भ तथा पुस्तक सूची :

1. बैंक्स, आर., 2001। 'द अर्ली चाइल्डहुड एज्युकेशन करिक्युलम डिबेट : डाइरेक्ट इस्ट्रक्शन वर्सेस चाइल्ड इनिशिएटेड लर्निंग'। *क्लियरिंगहाउस ऑन अर्ली एज्युकेशन एण्ड पेरेंटिंग.* http://ceep.crc.uiuc.edu
2. ब्लॉर्कलुंड, डी.एफ., तथा बी.एल.ग्रीन, 1992। 'द एडैप्टिव नेचर ऑव कॉग्निटिव इम्मैच्योरिटी'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-47, संख्या-1, 46-54
3. ब्ल़ॉर्कलुंड, डी.एफ., 1997। 'द रोल ऑव इम्मेच्योरिटी इन ह्यूमन डेवलपमेंट'। *साइकोलॉजिकल बुलेटिन, खण्ड-122, संख्या-2, 153-69*
4. ब्ल़ॉर्कलुंड, डी.एफ., 1997। 'इन सर्च ऑव अ मेटाथियोरी फॉर कॉग्निटिव डेवलपमेंट (ऑर पियाजे इज़ डेड एण्ड आई डोन्ट फील सो गुड मायसेल्फ)।' *चाइल्ड डेवलपमेंट,* खण्ड-68, संख्या-1, 144-48
5. बॉर्नस्टाइन, एम.एच., 1989। 'सेन्सिटिव पीरियडस् इन डेवलपमेंट : स्ट्रक्चरल कैरेक्टरिसिटिक्स एण्ड कॉज़ल इन्टरप्रेटेशन्स'। *साइकोलॉजिकल बुलेटिन,* खण्ड-105, संख्या-2, 179-97
6. ब्रूनर, जे.एस., 1972। 'नेचर एण्ड यूसेस ऑव इम्मेच्योरिटी, *अमेरिकन साइकोलॉजिस्ट,* अगस्त,

1972, 687-708

7. कोल, एम.सी., तथा एस.आर.कोल, 1993। '*द डेवलपमेंट ऑव चिल्ड्रन*'। साईंटिफिक अमेरिकन बुक्स।
8. हिर्ष-पासेक, के., एम.हायसन तथा एल. रेस्कोर्ला, 1990। 'एकेडमिक एन्वायर्मेंट इन प्रीस्कूल : डु दे प्रेशर ऑर चैलेन्ज यंग चिल्ड्रन?' अर्ली एज्युकेशन एण्ड डेवलपमेंट' खण्ड-1, संख्या-6, 401-423
9. केल, आर., 1991। 'डेवल्पमेंटल चेंज इन स्पीड ऑव प्रोसेसिंग ड्यूरिंग चाइल्ड हुड एण्ड अडोलसेंस।' साइकोलॉजिकल बुलेटिन, खण्ड-27, संख्या-2, 259-66
10. केल, आर., 1991। 'प्रोसेसिंग टाइम डिक्लाइन्स एक्स्पोनेन्शियली ड्यूरिंग चाइल्डहुड एण्ड एडोलसेंस।' डेवलपमेंटल साइकॉलजी खण्ड-27, संख्या-2, 259-66
11. कील, एफ.सी., डब्ल्यू.सी.स्मिथ, डी.जे.सिमन्स, तथा डी.टी. लेविन, 1998। 'टू डॉग्मास ऑव कन्सेप्च्यूल एम्पेरिसिज़्म : इम्पलिकेशन्स फॉर हायब्रिड मॉडल्स ऑव द स्ट्रक्चर ऑव नॉलेज'। *कॉग्निशन*, 65, 103-35
12. नेल्सन, सी.ए., 1995। 'द ऑन्टोजैनी ऑव ह्यूमन मेमरी : अ कॉग्निटिव न्यूरोसाइन्स पर्सपैक्टिव।' *डेवलपमेंट साइकॉलजी*, खण्ड-31, संख्या-5, 723-38
13. नेल्सन सी.ए., 1999। 'चेन्ज एण्ड कन्टिन्युइटी इन न्यूरोबिहेवियरल डेवलपमेंट : लैसन्स फ्रॉम द स्टडी ऑव न्यूरोबायॉलजी एण्ड न्यूरल प्लास्टिसिटी।' *इन्फैंट बिहेवियर एण्ड डेवलपमेंट*, खण्ड-22, संख्या-4
14. नेल्सन, सी.ए., 2000, 'न्यूरल प्लास्टिसिटी एण्ड ह्यूमन डेवलपमेंट : द रोल ऑव अर्ली एक्सपीरियेन्स इन स्कल्पटिंग मेमरी सिस्टम।' *डेवलपमेंटल साइन्स*, 3:2, 115-36
15. एनआईसीएचडी अर्ली, चाइल्ड केयर रिसर्च नेटवर्क, 2005। 'प्रिडिक्टिंग इन्डिविजुवल डिफरेन्सेस इन अटेंशन, मेमरी एण्ड प्लैनिंग इन फर्स्ट ग्रेडर्स फ्रॉम एक्सपीरिएन्सेस एट होम, चाइल्ड केयर एण्ड स्कूल।' *डेवलपमेंटल साइकॉलजी*, खण्ड-41, संख्या-1, 99-144
16. पियाज़े, जे., 1970, *साइन्स ऑव एज्युकेशन एण्ड द साइकॉलजी ऑव द चाइल्ड*। ओरियॉन प्रेस, न्यू यॉर्क।
17. सीग्लर, आर.एस., 1998। *चिल्ड्रन्स थिंकिंग*, प्रेन्टाइस हॉल, न्यू जर्सी।
18. सीग्लर, आर.एस., 2005 '*चिल्ड्रन्स लर्निंग*। अमैरिकन साइकोलॉजिस्ट, 60, 769-78
19. थॉमस, बी., 1992। 'टू अर्ली टु फेल ?' प्रेशर्स एण्ड बेनेफिट्स ऑव प्रीस्कूल एज्युकेशन।' *मेसेंजर*, खण्ड-1, संख्या-2, पृ.-6
20. थॉमसन, आर.ए. तथा सी.ए. नेल्सन, 2001। 'डेवलपमेंटल साइन्स एण्ड द मीडिया : अर्ली ब्रेन डेवलपमेंट।' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-56, संख्या-1, 5-15
21. वॉकर, एस.पी., टी.डी. वॉक्स, जे.एम. गार्डनर, बी.लॉज़ॉफ, जी वास्सरमान, ई. पॉलिट, जे.ए. कार्टर, तथा द इन्टरनैशनल चाइल्ड डेवलपमेंट स्टीयरिंग ग्रुप, 2007। 'चाइल्ड डेवलपमेंट : रिस्क फैक्टर्स फॉर एडवर्स आउटकम्स इन डैवलपिंग कन्ट्रीस। *लैन्सेट*, 369, 145-57

❑❑❑

अध्याय पाँच

प्रकृति तथा परवरिश

लोग मानव की प्रवृत्तियों अथवा क्षमताओं को प्रकृति या पालन-पोषण के अर्थ में समझना पसंद करते हैं। हम यह कहना पसंद करते हैं : वह बेहद प्रतिभाशाली है -- पिता से ही पाई है प्रतिभा। या : वह कितनी मददगार है -- उसकी परवरिश सही हुई होगी। हमने पिछले अध्याय में जो प्रश्न उठाया था वह इसी द्विभाजन को संभावनाओं के वर्णक्रम के दो छोरों में रूप में प्रस्तुत करता है : क्या आप सहमत होंगे कि बच्चा एक कोरी स्लेट के रूप में जन्मता है और उन अनुभवों से सीखता है जो इस सलेट पर 'लिखे' जाते हैं (दूसरे शब्दों में जो कुछ हम सीखते हैं, वही हमें जो हम हैं वह बनाता है? या, आप यह कहना चाहेंगे कि हमारी अधिकांश प्रवृत्तियाँ और क्षमताएँ हमें विरासत में मिलती हैं, अतः हमारा वातावरण चाहे जैसा भी क्यों न हो, हम भविष्य में क्या बनेंगे यह प्रारंभ से ही निश्चित होता है ? हम सब जानते हैं कि सच्चाई दरअसल इन दोनों -- 'सब कुछ आनुवांशिक गुणसूत्रों (जीन्स) से निर्धारित होता है', और 'सब कुछ वातावरण द्वारा निर्धारित होता है' के बीच ठहरती है।

यह समझने पर कि प्रकृति तथा परवरिश दोनों ही लगभग सभी मानवीय विशेषताओं में भूमिका अदा करते हैं, कद से लेकर बुद्धिमत्ता, तथा मनोरोगों तक में, आप यह सोच

सकते हैं कि इसमें कितना प्रकृति के कारण है और कितना परवरिश करने वाले वातावरण के कारण। या आप यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है -- प्रकृति या परवरिश?

परन्तु प्रकृति बनाम परवरिश संबंधी प्रश्नों में बुनियादी त्रुटि तब पैदा होती है, जब उन्हें किसी व्यक्ति पर लागू किया जाता है। एक सरल-सा सादृश्य यह बिन्दु स्पष्ट करने में सहायक हो सकता है। मान लें आपके पास एक आयताकार क्षेत्र हो तो आप यह नहीं पूछते कि उसका कितना भाग उसकी लंबाई के कारण है और कितना चौड़ाई के कारण। क्षेत्र उसकी लंबाई तथा चौड़ाई का उत्पाद है, उन दोनों में कोई भी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। या फिर अगर आप किसी दुकान से कपड़ा खरीदते हैं और उससे एक कमीज़ सिलवा लेते हैं, तो आप यह नहीं पूछते कि कमीज़ कितने कपड़े से बनी है और कितनी उसकी सिलवाई से। सच्चाई तो यह है कि बिना सिला कपड़ा कमीज नहीं होगा, और केवल सिलाई -- खैर वह भी कमीज़ नहीं हो सकती।

इसी प्रकार, प्रकृति बनाम परवरिश संबंधी प्रश्न किसी एक व्यक्ति पर लागू नहीं किया जा सकता। हम यह नहीं कह सकते कि एक बच्ची की खेलकूद की क्षमता 75 प्रतिशत उसके गुणसूत्रों के कारण तथा 25 प्रतिशत उसके वातावरण के कारण है। हम यह भी नहीं कहेंगे कि उसकी खेलकूद या व्यायाम की क्षमता 25 प्रतिशत कमतर होती, अगर उसे 'वातावरण नहीं मिलता। प्रकृति बनाम परवरिश वाले प्रश्न केवल आनुवांशिक तथा/या वातावरण में भिन्नता वाले लोगों के समूह के बारे में ही पूछे जा सकते हैं : **लोगों में जो अंतर होते हैं वे किस हद तक प्रकृति या परवरिश में अंतर के कारण हैं ?** इस प्रश्न पर ढेरों शोध हुए हैं और विभिन्न मानवीय चारित्रिक विशेषताओं पर उत्तर तलाशे गए हैं। उदाहरण के लिए शोध दर्शाता है कि शब्दावली का आकार काफी हद तक 'वंशानुगत होता है' है।

अगर कुछ 'वंशानुगत' होता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम उसके साथ जन्मते हैं। हम कोई तैयारशुदा शब्दावली के साथ पैदा नहीं होते! हम अपने सभी शब्द अपने वातावरण से ही सीखते हैं, *परन्तु हम अपनी आनुवांशिक बनावट के अनुरूप अधिक या कम शब्द सीख सकते हैं।* ऐसे लोगों के अध्ययन जो एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हद तक आनुवांशिक रूप से संबंधित हों (समरूप जुड़वाँ, सहोदर, माता-पिता व बच्चे), दर्शाते हैं कि शब्दावली के आकार में जो अंतर दिखाई देता है वह काफी हद तक आनुवांशिक अंतरों के कारण होता है। इस कथन को हम कुछ उदाहरणों द्वारा अधिक आसानी से समझ सकेंगे। सामान्य जुड़वाँ बच्चों की तुलना में समरूप जुड़वाँ बच्चों की शब्दावली के आधार में सह-संबंध अधिक होता है -- बेशक, यह प्रकृति का ही योगदान है। परन्तु गैर-जुड़वाँ भाई-बहनों के जोड़े की तुलना में जुड़वाँ बच्चों की शब्दावली के आकार का सह-संबंध अधिक होता है!

इस तथ्य का महत्त्व यह है कि हालाँकि जुड़वाँ बच्चों और गैर-जुड़वाँ सहोदरों में साझे गुणसूत्रों की मात्रा समान होती है (50 प्रतिशत), फिर भी जुड़वाँ बच्चे, गैर-जुड़वाँ सहोदरों की तुलना में, जिनमें कुछ वर्षों का अंतराल होता है, अधिक समान वातावरण साझा करते हैं। इस प्रकार यह दूसरा निष्कर्ष हमें वातावरण के प्रभाव के प्रति सचेत करता है। अध्ययन यह भी दर्शाते हैं कि गोद लिए गए बच्चों की शब्दावली का आकार अपनी जैविक माता तथा दत्तक माता की शब्दावली के आकार से समान रूप से संबंधित होता है। यहाँ भी हमें प्रकृति तथा परवरिश दोनों के प्रभाव का प्रमाण मिलता है।

हालाँकि यह भी कुछ ज्यादा ही सरल छवि है। होता यह है कि मानव आचरण पर आनुवांशिक तथा वातावरण संबंधी प्रभाव स्वतंत्र रूप से काम नहीं करते -- अधिकांशतः वे सह-संबंधित होते हैं। एक सरल उदाहरण के रूप में शोध ने पाया है कि **समरूप जुड़वाँ बच्चों की परवरिश, जुड़वाँ बच्चों की तुलना में अधिक समान रूप से होती है और जैविक सहोदरों की परवरिश दत्तक सहोदरों की तुलना में अधिक समान रूप से होती है।** दूसरे शब्दों में आनुवांशिक समानता अपने साथ वातावरण संबंधी समानता लाती है, और जब-जब जुड़वाँ बच्चों की तुलना में समरूप जुड़वाँ बच्चों में सह-संबंध ऊँचे होते हैं, या दत्तक बच्चों की तुलना में सहोदर बच्चों में ऊँचे होते हैं, तो ऐसा *आनुवांशिक तथा वातावरण संबंधी दोनों ही* कारणों से होता हैं। अतः हमें अहसास होता है कि प्रकृति तथा परवरिश के मसले को व्यक्तियों के एक समूह में भी आसानी से सुलझाया नहीं जा सकता। अतः प्रकृति बनाम पालन-पोषण के प्रश्न का संतोषजनक उत्तर लोगों के समूह के संदर्भ में भी नहीं दिया जा सकता।

गोद लिए सहोदर

सहोदर

भ्रातृ जुड़वाँ

समरूप जड़वाँ

जननिक साम्य तथा पर्यावरणीय साम्य बाएं से दाएं बढ़ते हैं और शब्दावली आकार सहसंबंध भी

गोद लिए सहोदर, सहोदर, सामान्य जुड़वाँ, समरूप जुड़वाँ

बाएँ से दाएँ बढ़ने पर आनुवांशिक तथा वातावरण की समानता बढ़ती है -- साथ ही शब्दावली के आकार का सहसंबंध भी।

पर निराश न हों; दो प्रकार के सार्थक प्रश्न हम प्रकृति तथा परवरिश के विषय में पूछ सकते हैं। एक प्रश्न तो सार्विकता के स्तर का है (मानव प्रजाति को समग्रता में देखने पर), दूसरा व्यक्तिगत अंतरों के स्तर का है (जो लोगों में होते हैं)। इन दोनों को बारी-बारी से देखेंगे। क्योंकि यह पुस्तक शिक्षकों के लिए है, और हमारी रुचि सोचने और सीखने में है, मैं संज्ञानात्मक क्षमताओं पर ध्यान केंद्रित करूँगी।

सार्विकता का प्रश्न

हमारी आनुवांशिक पूर्ववृत्तियाँ क्या हैं और वे वातावरण द्वारा किस प्रकार नियंत्रित होती हैं ? यह प्रश्न यह मानकर चलता है कि हम इस दुनिया में जब जन्म लेते हैं, तो हमारे मस्तिष्क में बहुत कुछ पहले से ही सूत्रबद्ध या 'वायर्ड' होता है -- ये हमारी आनुवांशिक पूर्ववृत्तियाँ हैं। यह इस संभावना को नकारता है कि हम जन्म के समय कोरी स्लेट होते हैं। तथापि, **पूर्ववृत्ति** तथा **नियमन** जैसे शब्द हमें बताते हैं कि वातावरण दरअसल एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है : वह हमारे गुणसूत्रों की अभिव्यक्ति को निर्धारित करता है।

प्रकृति हमारी संज्ञानात्मक क्षमताओं में किस प्रकार योगदान करती है

क्रमविकास की दृष्टि से, प्रत्येक जीव ऐसी आनुवांशिक पूर्ववृत्तियाँ के साथ जन्मता है जो उसे सफलतापूर्वक बचे रहने तथा प्रजनन में मदद करें। नवजात मानव भी अपवाद नहीं हैं -- उदाहरण के लिए वे अपने सहजबोध से स्तनपान करते हैं, चीज़ों को थामते हैं, और सचल वस्तुओं का आँखों से देखते हुए पीछा करते हैं। परन्तु यह बात भी सच है कि कई पशुओं के शिशु असहाय तथा अपरिपक्व पैदा होते हैं। आप पहले पढ़ चुके हैं कि मस्तिष्क की वृद्धि, किशोरावस्था तक चलने वाले विकास तथा वृद्धि की प्रक्रिया को भी प्रतिबिम्बित करती है। क्यों? अपरिपक्वता की इस अवधि का, चाहे वह छोटी हो (जैस कछुओं में) या लंबी हो (जैसे मनुष्य में), उद्देश्य भला क्या है? इस प्रश्न का एक जवाब तो यह है कि गुणसूत्र नवजात शिशु को मोटे तौर पर एक 'सामान्य वातावरण' के लिए तैयार करते हैं। इसके परे वातावरण की कई खास तथा अनूठी विशेषताएँ होती हैं, जो प्रत्याशित नहीं होतीं। इनसे अनुकूलित होने के लिए प्राणी को *सीखना* पड़ता है। इसका मतलब है कि जन्मते समय जीव को *सीखने में सक्षम* होना होता है : सीखने और याद रखने के लिए मस्तिष्क में परिष्कृत क्षमताएँ होनी चाहिएँ, और ये क्षमताएँ हमें गुणसूत्र ही देते हैं।

आप इसे दो एकांतिक स्थितियों के बीच समझौते के रूप में देख सकते हैं। या तो प्रकृति हमें बचाव के लिए जो कुछ आवश्यक हो प्रदान करती है (सहजवृत्तियों के रूप में) जिसका अर्थ होगा कि हम तेज़ी से परिपक्व हो जाएँ -- पर इसका नुकसान यह हो सकता है कि हम वातावरण की बदलती माँगों के समक्ष अपनी अनुक्रिया में गैर-लचीले होंगे। दूसरी ओर अगर प्रकृति हमारे लिए बहुत कम पूर्व-निर्धारित करती है तो हम इतने लचीले होंगे कि, विभिन्न प्रकार के वातावरणों में सीख कर अनुकूलित हो सकें। पर इसका अर्थ होगा अपरिपक्वता की लंबी अवधि। क्योंकि मानव संस्कृतियाँ तथा वातावरण बेहद परिवर्तनशील तथा जटिल होते हैं, स्पष्ट है कि दोनों छोरों पर स्थित हों, तो सीखने की दिशा में होने के कारण हमें लाभ होता है। हमारी जन्मजात प्रवृत्तियाँ अपने आप में हमें प्रारंभिक कुछ महीनों से आगे नहीं ले सकेंगी! मनुष्य अपने वातावरण के विशिष्ट तथा अनूठे पक्षों से अनुकूलित हो सके इसके लिए व्यापक तथा गहन रूप से सीखने की लंबी अवधि तक की ज़रूरत होती है। यही बात दूसरी तरह से कहें तो मनुष्य की अपरिपक्वता की लंबी अवधि वातावरण से अनुकूलित होने में सीखने के महत्त्व का संकेत देती है।

मनोवैज्ञानिक शोध के दो तथ्य चिंतन की इस धारा से सहमत हैं : (1) प्रारंभ से ही शिशु बेहद सक्रिय सीखने वाले होते हैं, दरअसल तब भी जब वे गर्भ में हों, और (2) मस्तिष्क की वृद्धि किशोरावस्था में भी काफी आगे तक जारी रहती है, जो बाल्यावस्था के दौरान लंबी अवधि तक लचीलेपन तथा अनुकूलित होते हुए सीखने (एडैप्टिव लर्निंग) की छूट देती है।

अब प्रकृति-परवरिश प्रश्न काफी भिन्न लगने लगा है। ज़ाहिर है कि हम कई क्षमताओं के साथ पैदा होते हैं (देखने, सुनने, सूंघने, मुंह, आँखें आदि की गति पर नियंत्रण...)। उतनी ही साफ यह बात भी है कि हम कुछ खास क्षमताओं के साथ जन्मते हैं, जो हमें सीखने में तथा इस दुनिया के साथ अंतःक्रिया द्वारा उसको समझने में सक्षम बनाती हैं। क्या हम इन क्षमताओं को भी स्पष्ट कर सकते हैं ? मनुष्यों को लेकर हुई शोध की भारी मात्रा ने हमें सीखने के जन्मजात तंत्रों की प्रभावशाली सूची बनाने दी हैं। नीचे इन्हें, उदाहरणों के साथ सूचीबद्ध किया गया है :

- हमारे गुणसूत्र हमें सीखने वाले जीव एक तो इस प्रकार बनाते हैं कि शिशुओं को जन्म से ही **नए उद्दीपन पसंद आते हैं।** वे अपरिचित वस्तु पर, कुछ नए पर, अधिक ध्यान देते हैं। साथ ही शिशु **जटिल उद्दीपन पसंद करते हैं** -- उदाहरण के लिए वे सादे उद्दीपन के बदले नमूनों वाले (पैटर्न्ड) उद्दीपन पसंद करते हैं। ज़ाहिर है कि ये पसंदें हमें अपने वातावरण के विषय में सीखने की ओर उन्मुख करती हैं।
- शिशु इस प्रकार तैयार (प्रोग्राम्ड) होते हैं कि उनका अनुकूलन शास्त्रीय तरीके से हो, अर्थात् वे उद्दीपन के सहसंबंध के नियमों के अनुरूप काम करें। एक अध्ययन में, कुछ ही घंटों पहले जन्मे शिशुओं को कपाल पर सहलाने के फौरन बाद चीनी के घोल की बूंदें दी गईं। उन्होंने मीठे पानी को चूसा, जो एक स्वाभाविक तथा सहज अनुक्रिया थी। परन्तु कुछ बार यह दोहराने के बाद शिशु केवल सहलाने पर ही चूसने लगे! सच तो यह है कि बाद में जब उन्हें सहलाने के बाद मीठा पानी नहीं मिला तो वे दुखी हुए और रोने लगे। यह सुझाता है कि शिशु बहुत ही प्रारंभ से ही **घटनाओं के बीच संबंध** जोड़ सकते हैं, और इस तरह का सीखना दुनिया के विषय में अपेक्षाएँ रखने तथा पूर्व-अनुमान लगाने देता है।
- इन्सान **सक्रिय रूप से अनुकूलित** होने के लिए भी तैयार (प्रोग्राम्ड) होता है, वह पुर्नबलन तथा दण्ड के नियमों के अनुसार काम करता है। उदाहरण के लिए शिशु स्वाभाविक रूप से अपने सिर, हाथ-पैर तथा शरीर से सक्रिय होते हैं। हम किसी भी स्वाभाविक संचालन को चुन लें, जैसे सिर घुमाना और ऐसा करने पर उसे हर बार चुसनी दे पुरस्कृत करें। हम पाएँगे कि जल्दी ही शिशु की सिर घुमाने की बारंबारिता बढ़ गई है। सक्रिय रूप से अनुकूलित होने की क्षमता यह सुनिश्चित करती है कि शिशु केवल उन ही आचरणों का अभ्यास करेंगे और उसे सीखेंगे जो अनुकूल नतीजों तक ले जाएँ, जैसे भोजन या सुख। इस आसान से तरीके से वे दूध पीने जैसे प्रारंभिक आचरण तथा बाद के अधिक जटिल आचरणों, जैसे भाषा तथा नाराजगी जताना आदि, में पारंगत होते हैं।
- मनुष्य दूसरों की नकल करने के लिए भी तैयार (प्रोग्राम्ड) होता है -- जो अनुकूलित

हुए बिना नए आचरणों को सीखने का एक तरीका है। एक अध्ययन में नौ माह के शिशुओं ने एक वयस्क को एक कब्ज़ेदार बोर्ड को उसके आधार की दिशा में केवल *एक बार* नीचे दबाते देखा, और इसके 24 घंटों बाद स्वयं उस काम की नकल की (यह दरअसल **विलंबित नकल** थी : जो सीखने का तात्कालिक नकल से भी अधिक सशक्त औज़ार है)।

- शिशु कुछ ऐसे तैयार होते हैं, कि वे अपने द्वारा बनाए गए सह-संबंधों को प्रारंभिक परिस्थिति की विशिष्टताओं के परे जा उन्हें **सामान्यीकृत** कर सकें। एक अध्ययन में तीन माह की आयु के शिशुओं के पैर एक '+' आकार के लटकने वाले खिलौने से बांध दिए गए। वे जल्दी ही अपनी लात अधिक से अधिक हिलाने लगे, शायद इसलिए क्योंकि इससे खिलौना मज़ेदार तरीके से हिलता था। इन शिशुओं को पंद्रह मिनट के तीन सत्र एक ही आकार के खिलौनों से दिए गए, जो केवल रंग में भिन्न थे,

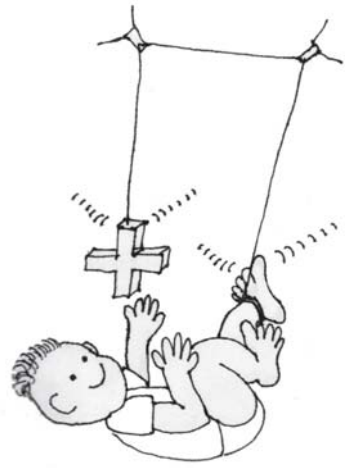

अंततः वे तीनों ही सत्रों में तेज गति से ताल मारते पाए गए। चौथा सत्र परीक्षा का था। इस बार आधे शिशुओं को वही '+' आकार का खिलौना नए रंग में दिया गया, जबकि शेष को पिछले रंगों में 'B' आकार का खिलौना दिया गया। और हुआ क्या? जिन शिशुओं ने भिन्न रंग का '+' आकार का खिलौना देखा वे तत्काल तेज़ गति से लात मारने लगे; जिन शिशुओं ने 'B' आकार को देखा उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने ऐसा आचरण किया मानो उन्होंने आकार तथा रंग की **अवधारणाओं** को सीख लिया हो।

इस प्रकार के प्रयोग अमूर्तिकरण, श्रेणीकरण तथा अवधारणा बनाने की क्षमता की शुरुआत का संकेत देते हैं। ये क्षमताएँ जटिल तथा परिष्कृत होती हैं, पर अपने बुनियादी रूप में वे जीवन में काफी प्रारंभ से मौजूद होती हैं।

- 'सीखने की प्रोग्रामिंग' जिसके विषय में बहुत कुछ लिखा गया है और इसका सबसे सुंदर उदाहरण जिस प्रकार शिशु भाषा सीखते हैं उसका है। शिशुओं में कई जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं जो उन्हें भाषा संपन्न वातावरण में अनुक्रिया करने की ओर झुकाती हैं और वे चमत्कारिक तेज़ी से भाषा सीखते हैं। कुछ ही महीने के

शिशु भी वाद्य यंत्रों की ध्वनि के बजाए लोगों की आवाजें पसंद करते हैं; वे कई तरह का ध्वनि इकाइयों (फोनेम या स्वनिम) में अंतर कर पाते हैं। जैसे बा/पा तथा रा/ला; वे दुनिया की किसी भी भाषा के व्यंजन और स्वरों की ध्वनियाँ निकाल पाते हैं (कूजना, बड़बड़ाना); बोले गए की सार्थक इकाइयों में पदव्याख्या कर सकते हैं; इन सार्थक इकाइयों के क्रम पर ध्यान दे पाते हैं : और अपनी बारी आने पर संप्रेषण करते हैं! इस लंबी सूची का सार यह है कि मनोवैज्ञानिकों के अनुसार किसी सूचना प्रसंस्करण-प्रणाली के लिए भाषा जैसे जटिल चीज़ को इतनी अच्छी तरह से इतने कम समय में सीखना असंभव ही होता है, अगर कुछ बुनियादी मान्यताएँ पहले ही तैयार (प्रोग्राम्ड) नहीं होतीं।

सीखने की जो क्षमता मानव को प्रदत्त है उसे एक प्रकार के औज़ारों के किट के रूप में देखा जा सकता है जो वातावरण का अधिकतम लाभ उठाने में हमारी मदद करता है। और यह बात हमें कथा के परवरिश पक्ष की ओर ले जाती है।

हमारी संज्ञानात्मक क्षमतओं में परवरिश का योगदान

हम जिन उपकरणों के साथ जन्मते हैं वे अपने आप में खास मूल्यवान नहीं होते। ऊपर जिन जन्मजात क्षमताओं का वर्णन किया गया है, उनमें से प्रत्येक वातावरण के पक्षों से संबंध बना कर काम करती है, अतः हमारे सीखने को अधिक परिष्कृत भी बनाती है। इस अर्थ में वातावरण की भूमिका स्पष्ट है। फिर भी यह प्रश्न रोचक है कि क्या हमारा सीखना, *वातावरण किसी भी प्रकार का* क्यों न हो, *उससे प्रभावित हुए बिना,* उसी प्रकार बढ़ेगा या नहीं। जब वातावरण समृद्ध होता है (अनुभव तथा उद्भासन दोनों में) तो क्या सीखना भी अधिक श्रेष्ठ होगा ? और जब वातावरण विपन्न हो (जब बच्चे कई प्रकार से वंचित हों) तो क्या सीखने को भी नुकसान पहुँचेगा ?

इन प्रश्नों पर हम जो कुछ सोचते हैं वह काफी कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम वातावरण को किस प्रकार परिभाषित करते हैं। आप किसे एक संपन्न वातावरण मानते हैं, और तब प्रवंचना भला क्या है? मैं शुरुआत एक परिभाषा देकर करती हूँ। हम वातावरणों को मोटे तौर पर **विपन्न, सामान्य** या **समृद्ध** में विभाजित करते हैं। एक **सामान्य** वातावरण का अर्थ होगा कि उसमें कम से कम इस सूची में दी गई बातें मौजूद हों :

- पर्याप्त भौतिक सहयोग (भोजन तथा सुरक्षा),
- सामाजीकरण का पर्याप्त उद्भासन, से परिचय
- वाचिक भाषा का पर्याप्त उद्भासन, से परिचय
- पर्याप्त मात्रा में वस्तुओं (प्राकृतिक या मनुष्य द्वारा रची) की उपलब्धता तथा उन्हें संचालित करने के अवसर।

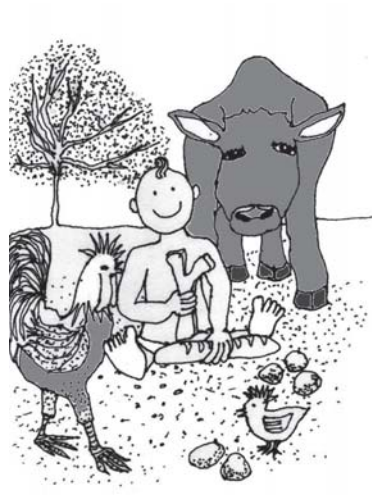

यह परिभाषा कई अलग-अलग तरह के वातावरणों पर लागू की जा सकती है। ऐसी न्यूनतम सूची बनाने का कारण यह है कि शिशुओं का झुकाव प्राकृतिक वातावरण में रोज़मर्रा के अनुभवों से बहुत कुछ सीखने के प्रति होता है। 'प्राकृतिक वातावरण' का अर्थ समझने के लिए ज़रा यह सोचें कि बच्चे बैठना, रेंगना, खड़े होना, चलना, बोलना और हाथों से चीजों का संचालन करना कैसे सीखते हैं। इन सभी चीज़ों को बच्चों को प्रत्यक्ष रूप से *सिखाने* की ज़रूरत किसी को नहीं पड़ती; सामान्य और स्वस्थ बच्चे के लिए किसी विशेष सामग्री या सहायक सामग्री की भी दरकार नहीं होती; आवश्यकता केवल एक **'सामान्य'** वातावरण की होती है। मनोवैज्ञानिक डेविड गिअरी के अनुसार ऐसे वातावरण में मानव शिशु का झुकाव पहले से ही **'जैविक रूप से प्राथमिक क्षमताओं'** को विकसित करने का होता है। ऐसी क्षमताओं के उदाहरण हैं बोलना तथा समझना, त्रिआयामी स्थान की अव्यक्त समझ (उदाहरण, दो बिन्दुओं के बीच, न्यूनतम दूरी एक सीधी रेखा होती है), संख्याओं के छोटे समुच्चय (चार मदों तक) को गिनना। दुनिया भर के सामान्य वातावरण, हालाँकि वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं, वे सभी उन बच्चों की परवरिश करते हैं, जो इन क्षमताओं के साथ बड़े होते हैं।

परन्तु बच्चे के आनुवांशिक झुकावों का तब क्या होगा जब वह एक **संपन्न** वातावरण में हो, उदाहरण के लिए स्कूल में ? उद्विकासीय मनोविज्ञान की दृष्टि से, कोई भी साधारण स्कूल एक संपन्न वातावरण ही होगा, चाहे वह हमारे मत में तुलनात्मक रूप से खाली-खाली व प्रेरणाशून्य ही क्यों न हो। बच्ची का आनुवांशिक रुझान स्कूल जैसे वातावरण की प्रत्याशा नहीं करते, जहाँ वयस्कों द्वारा उसे सायास कई चीज़ें सिखाने का प्रयत्न किया जाए। दूसरे शब्दों में क्या वह स्कूल में जैविक रूप से प्राथमिक क्षमताएँ और उनके भी परे कुछ हासिल

करेगी? जाहिए है कि वह ऐसा करेगी। प्रत्यक्ष निर्देशों द्वारा बच्ची वह भी हासिल कर सकेगी, जिसे गिअरी **जैविक रूप से गौण क्षमताएँ** कहते हैं। इसके उदाहरण हैं शब्दों का विसंकेतन (डीकोडिंग, अर्थात् पढ़ना और लिखना), त्रिआयामी ज्यामिति की औपचारिक समझ, संख्या शब्दों, और बड़े कूट समझना (चार से अधिक मदों) को गिनना... यह सूची अनंत है और उसमें वह सब शामिल है जो कक्षा एक से बारहवीं कक्षा की स्कूली पाठ्यचर्या में होता है। स्कूल जैसा समृद्ध वातावरण हमारी जन्मजात संज्ञानात्मक क्षमताओं को लेता है और बड़ी तथा भारी मात्रा में ज्ञान सीखने में हमारी मदद करता है।

हमें इस बिन्दु पर कुछ और समय बिताना चाहिए, क्योंकि इस क्षेत्र में कुछ उम्दा शोध हुए हैं जो इस प्रश्न पर आधारित हैं : हम संज्ञानात्मक क्षमताओं के जिन औज़ारों के साथ जन्मते हैं, उसका नियमन स्कूली वातावरण किस प्रकार करता है ? क्या स्कूली शिक्षण मस्तिष्क के काम करने के तरीके को बुनियादी रूप से सुधारता है? विभिन्न देशों में हुई शोध ने पाया है कि स्कूली शिक्षण अल्पकालिक स्मृति का, अधिसंज्ञनात्मक कौशलों (मैटाकॉग्नेटिव स्किल्स) का, तथा कुछ क्षेत्रों में ज्ञान का संवर्धन करता है। ऐसे भी अध्ययन हुए हैं जो दर्शाते हैं कि शिक्षण से बुद्धि लब्धि (आई.क्यू) में वृद्धि होती है[1]।

परन्तु विकास मनोवैज्ञानिक माइकल कोल तथा उनके सहकर्मियों ने दुनिया के विभिन्न भागों में स्कूली शिक्षा प्राप्त तथा स्कूल नहीं गए बच्चों और वयस्कों, दोनों का अध्ययन किया है। और उनका निष्कर्ष है कि स्कूली शिक्षण बच्चों के सोचने के तरीके पर 'गहरा तथा उस पर कोई सामान्य असर नहीं डालता'। बल्कि होता दरअसल यह है कि **स्कूल जैसे कार्यों में बच्चे कैसा प्रदर्शन करते हैं**, उसे स्कूली शिक्षण बदल देता है। कोल के कार्य के कुछ रोचक उदाहरण हैं:

- लाइबेरिया के वाई लोगों के एक समूह से पूछा गया कि वे फैसला करें कि कई वाक्यांश (जो उनकी ही भाषा में बोले गए थे) सही हैं, या नहीं। कोल ने पाया कि इस काम में शिक्षित तथा अशिक्षित वाई बराबर रूप से अच्छा प्रदर्शन कर पाए; परन्तु केवल शिक्षित वाई ही यह साफ कर पाए कि कोई वाक्यांश व्याकरण की दृष्टि से गलत *क्यों* था। *क्यों* को स्पष्ट करना स्कूल का ठेठ काम है, जो स्कूल के बाहर कतई अनावश्यक भी है क्योंकि वहाँ इतना जानना कि व्याकरण अशुद्ध है, और तब उसे ठीक करने की क्षमता होना भर काफी होता है।
- ग्रामीण गुआटेमाला के अशिक्षित माया बच्चों के एक अध्ययन में पाया गया कि उसी आयु के शिक्षित अमरीकी बच्चों की तुलना में असंबद्ध शब्दों की सूची को

1. हम यह मान कर नहीं चल सकते कि स्कूली शिक्षण अपने आप में बुद्धिमत्ता को बढ़ाता है -- परन्तु इस विषय पर अधिक जानने के लिए अध्याय सात देखें। बहरहाल कई मनोवैज्ञानिक सहमत होंगे कि आई.क्यू. परीक्षाओं में अमूर्त, स्कूल-जैसे कामों की भरमार होती है, अतः आश्चर्य नहीं कि स्कूली शिक्षण इन परीक्षाओं में प्रदर्शन को बेहतर बनाता है।

पुनः याद करने के काम में उनका प्रदर्शन खराब था। परन्तु जब स्मृति कार्य को थोड़ा-सा बदल दिया गया, तब अशिक्षित माया बच्चों का प्रदर्शन उनके हमउम्र शिक्षित अमरीकी बच्चों के समान ही अच्छा रहा। बार्बरा रोगॉफ तथा कैथरीन वॉडल ने 80 सूक्ष्म आकार की वस्तुएँ (पशु, लोग, फर्नीचर आदि) इकट्ठी कर एक मेज पर रख दीं। उन्होंने इनमें से 20 को चुना और उन्हें माया ग्राम के परिचित परिदृश्य में रखा। तब कुछ मिनटों बाद बच्चों से पूछा गया कि वे उन 20 वस्तुओं को पुनः उसी तरह रखें, जैसे वे रखी गई थीं। इस काम में शिक्षित अमरीकी बच्चे बेहतर प्रदर्शन नहीं कर पाए। अर्थात् याद रख पाने की क्षमता शिक्षण से अप्रभावित रहती है, परन्तु सूचियों को याद करने का नया कौशल, जो स्कूल में उपयोगी रहता है, प्रशिक्षण से सीखा जा सकता है।

- तीसरा उदाहरण अवधारणात्मक वर्गीकरण से आता है। शिक्षित बच्चे और वयस्क अमूमन शब्दों की सूची को वर्गिक समूहों में, जैसे 'पशु', 'पेड़-पौधे', तथा 'भोजन' आदि में बाँटते हैं। परन्तु कोल तथा उनके सहकर्मियों ने पाया कि अफ्रीका में जिन लोगों ने स्कूली शिक्षण नहीं पाया था, वे शब्दों को कार्यात्मकता या उपयोग के हिसाब से बाँटते हैं, जैसे 'खाद्य' तथा 'अखाद्य'। जब उनसे कहा गया कि वे चीज़ों को उस प्रकार वर्गीकृत करें 'जैसे बेवकूफ लोग करते हैं', तो उन्होंने दर्शाया कि वे भी शब्दों को वर्गिक रूप से छांटने की भी क्षमता रखते हैं। स्कूली शिक्षण अवधारणा के प्रकारों तथा श्रेणीकरण को प्रभावित करता है, परन्तु स्वयं उसकी क्षमता को नहीं।

कोल ने ठेठ स्कूली वातावरण का वर्णन काफी सटीक किया है :

'... भेड़ों की देखभाल, छोटे भाई-बहनों की देखभाल, या बाज़ार में बेची जाने वाली दरियों को बुनने का काम जिन बच्चों को सौंपा जाता है उनके विपरीत स्कूल जाने वाले बच्चे करते हुए सीखने के बजाए कहीं ज्यादा समय बोल तथा सुनकर-सीखने में बिताते हैं... स्कूल में बोली जाने वाली बातों के लिए न केवल अमूर्त अवधारणाओं पर दखल की आवश्यकता होती है, उसकी आवश्यकता यह भी होती है कि इस दखल का उपयोग वास्तविक जगत के उन संदर्भों से परे किया जाए, जिन पर वे दरअसल लागू होते हैं। उदाहरण के लिए जीव विज्ञान का वह पाठ जो पौधों के विकास पर सूरज की किरणों के असर की बात करता हो, वह

2. कोल सामान्य स्तर पर परंपरागत स्कूली वातावरण की बात कर रहे हैं। बेशक स्कूली शिक्षण की गुणवत्ता तथा पढ़ाने में दुनिया भर में भारी अंतर हैं, और भारत में भी शिक्षा के प्रति कई रोचक वैकल्पिक नज़रिए हैं। अध्याय दो जो सीखने पर है, ने यह दर्शाया था कि पढ़ाने के ऐसे तरीके भी हैं जो बेहतर सीखने को प्रोत्साहित करते हैं। यह निष्कर्ष कि अमूमन स्कूल मस्तिष्क की प्रक्रियाओं को बुनियादी रूप से नहीं बदलते, इसका अर्थ यह नहीं निकालना चाहिए कि अच्छी शिक्षा बच्चे को कुछ भी नहीं सिखाती!

एक बिना खिड़की वाले, कमरे में भी पढ़ाया जा सकता है, जिसमें कोई पौधे न हों। नतीजतन बच्चों को शब्दों के मिश्रण में सूक्ष्म अंतरों को पहचान कर अर्थ को रचना सीखना पड़ता है।[8]

-- माइकेल तथा शीला आर.कोल. 'द डेवलपमेंट ऑव चिल्ड्रन'

हम पल भर को ज़रा पीछे हट कर छवि को कुछ दूरी से देखते हैं। मनुष्य कई उपयोगी आनुवांशिक रुझानों के साथ पैदा होता है जो उसे उसके वातावरण से 'सीखने को तैयार' बनाते हैं। यह सीखना उसकी 'प्रकृति' द्वारा निर्देशित होता है। लगता है कि स्कूल जैसा संपन्न वातावरण कुछ विशेष प्रकार की समस्याओं को हल करने के बच्चे के तरीके को बदल डालता है -- पढ़ने, लिखने तथा कलन (कैल्क्यूलेशन) की क्षमताओं में बालक को प्रशिक्षित करने के साथ, स्कूल उसे ढेर-सी जानकारी देता है और इस ज्ञान को औपचारिक रूप से व्यवस्थित करने को प्रोत्साहित करता है। परन्तु उसका मस्तिष्क जिस प्रकार काम करता है, स्कूल उसे बुनियादी रूप से नहीं बदलता। वास्तविक जगत में, सामान्य बुद्धि वाली परिस्थितियों में, स्कूली शिक्षा प्राप्त बच्चे, बेहतर चिंतक नहीं होते, फिर चाहे वे स्कूली दुनिया के कामों में बेहतर प्रदर्शन क्यों न करें।

तो फिर स्कूल को लेकर इतनी माथापच्ची भला क्यों ? इसलिए क्योंकि हम अमूमन स्कूल को एक संपन्न वातावरण के रूप में देखते ही नहीं हैं। बल्कि इसके ठीक विपरीत हमें यह लगता है कि जिस बच्चे की स्कूल तक पहुँच नहीं है, वह एक **विपन्न** वातावरण में हैं। आज का समाज, जो जटिल तथा तकनीकी रूप से विकसित है, सफल होने के लिए हमसे हमारी जैविक प्राथमिक क्षमताओं से कहीं अधिक की माँग करता है (कुछ तो यह तर्क भी कर सकते हैं कि केवल सफल होने के लिए नहीं, बल्कि खुद को बचाए रखने के लिए भी)। हम अपने शिकारी-एकत्रक पूर्वजों से बहुत दूर तक आ पहुँचे हैं। अतः

हालाँकि क्रमविकास की दृष्टि से स्कूल एक समृद्ध वातावरण है, समाज की दृष्टि से स्कूल एक सामान्य वातावरण ही है। आज, हममें से अधिकांश को शिद्दत से यह लगता है कि स्कूल के बिना, बालक वंचित है। जब हम प्रकृति तथा परवरिश के बिन्दु पर विचार करें, तो हमें यह बिन्दु मस्तिष्क में रखना चाहिए कि -- हमारे मस्तिष्क का उद्विकास हम आज जिस वातावरण में खुद को पाते हैं उससे नितांत भिन्न वातावरण की समस्याओं को सुलझाने के लिए हुआ था। आज वास्तविक जगत की कई, संभवतः अधिकांश परिस्थितियाँ, ऐसी अमूर्त समस्याओं से भरी हैं, जिन्हें हमें सुलझाना पड़ता है और स्कूली शिक्षा इन आवश्यक कौशलों में हमें प्रशिक्षित करती है।

बेशक सिक्के का दूसरा पहलू एक वास्तविक विपन्न वातावरण है। ऐसे वातावरण में जीने वाले बच्चों के कई विवरण उपलब्ध हैं -- जिनमें भेड़ियों द्वारा पोषित बच्चों से लेकर बुरी तरह चलाए जाने वाली संस्थाओं के अनाथ बच्चे तक शामिल हैं। ये वातावरण इस अर्थ में विपन्न होते हैं कि वे बच्चों को अनुभवों की न्यूनतम सूची तक उपलब्ध नहीं करवाते, जिसके बारे में आपने चंद पन्नों पहले पढ़ा था। इस क्षेत्र में हुआ शोध विकास के अत्यावश्यक चरणों के प्रश्न को देखता है, जिसे हम पिछले अध्याय में संबोधित कर चुके हैं।

'सार्विक बिन्दुओं' की चर्चा का सार-संक्षेप यह है। मनुष्यों के पास सीखने के जन्मजात तंत्रों का प्रभावशाली समूह है, और ये तंत्र, तमाम तरह के सामान्य वातावरणों से मिलकर परिष्कृत सीखने की ओर ले जाते हैं। परन्तु वातावरण में सार्थक बदलाव ठीक इन्हीं आनुवांशिक रुझानों को भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति की ओर ले जा सकते हैं। उदाहरण के लिए अगर वातावरण विपन्न हो तो संभव है कि बच्चे अगर कुछ सीखें भी तो बहुत कम सीख सकेंगे, जबकि एक समृद्ध वातावरण में, जैसे स्कूल में, वे भारी मात्रा में सीख पाते हैं। इस प्रकार वातावरण में हमारे आनुवांशिक रुझानों को नियामित करने की काफी शक्ति होती है।

व्यक्तिगत अंतरों का सवाल

आनुवांशिक स्तर पर जो व्यक्तिगत अंतर होते हैं क्या उन्हें वातावरण द्वारा बदला जा सकता है ?

यह प्रश्न इस बुनियादी धारणा को मान कर चलता है कि अधिकांश मानवीय विशेषताओं में वैविध्य मानक है। पिछले अध्याय में हमने देखा था कि सभी शिशु कुछ रुझानों के साथ पैदा होते हैं, पर सच यह भी है कि शिशु भी रुझानों के मामले में *एक-दूसरे से भिन्न होते हैं*। उदाहरण के लिए नवीनता को पसंद करने की बात को ही लें। कुछ शिशुओं को किसी दोहराए गए उद्दीपन की 'आदत' जल्दी पड़ जाती है, अतः वे किसी नए उद्दीपन के प्रति जल्दी आकर्षित होते हैं। कुछ शिशु अन्य शिशुओं की तुलना में अधिक तेज़ी से

सक्रिय रूप से अनुकूलित (ऑपरेन्टली कंडिशन्ड) होते हैं। कम उम्र में स्वभावगत विशेषताओं में मिलने वाले अंतरों, जैसे चिड़चिड़ापन, जल्दी ही व्यथित होने की वृत्ति, शांत होने की क्षमता, ध्यान बंटना तथा नियंत्रण का विरोध करना, पर बहुत शोध हो चुका है।[3] नवजात शिशु भी स्पष्ट स्वभावगत अंतर दर्शाते हैं और माना यह जाता है कि ये अंतर तंत्रिका प्रणाली पर आधारित हैं।

मनोवैज्ञानिकों के दिमाग में जो दूसरा प्रश्न उठता है वह यह है कि क्या ये जन्मजात अंतर एक अर्से तक *टिके* रहते हैं, क्या वे भविष्य में भी अंतरों की ओर ले जाते हैं, और उनका प्रभाव भविष्य में कितनी दूर तक जाता है। क्या एक चिड़चिड़ा शिशु एक बदमिजाज़ छात्र बनता है ? क्या जल्दी व्यथित होने वाला शिशु एक चिंताग्रस्त छात्र बनता है ? यह जाँचने के लिए आपको छात्रों के समूहों का कई सालों तक अवलोकन करना पड़ता है, और शुरुआती तथा बाद में आए अंतरों को मापना होता है। कई अध्ययनों ने ऐसा किया है। उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक जॉन बेटस् तथा सहर्मियों ने छह माह के शिशुओं के एक बड़े समूह का दस वर्ष की आयु तक अनुसरण किया। पहले दो सालों तक उन्होंने वह नापा जिसे शिशुओं में 'नियंत्रण का विरोध' कहते हैं। इसमें ऐसे आचरण शामिल थे जैसे किसी चीज़ से खेलने से मना करने के बावजूद खेलना जारी रखना। ठीक इन्हीं बच्चों का मूल्यांकन तब भी किया गया जब वे दस साल के हो गए, जब बेटस् ने उनके शिक्षकों से कहा कि वे इन बच्चों के *बाह्यीकृत* आचरण (एक्स्टर्नलाइजिंग बिहेवियर या दूसरे शब्दों में अवज्ञाकारी या आक्रामक आचरण) का मूल्यांकन करें। बेटस् ने पाया कि जिन बच्चों को दस वर्ष की आयु में शिक्षकों ने 'हठी' पाया था, उन्होंने शिशुओं के रूप में 'नियंत्रण के प्रति विरोध' भी दर्शाया था।

इस तरह की निरंतरता काफी चिंताजनक लगती है। अगर कोई बच्चा कुछ खास तरह के आचरण की प्रवृत्तियों के साथ पैदा होता है तो क्या बाद में कुछ खास परिणाम अपरिहार्य हो जाते हैं ? किसी चीज़ का अपरिहार्य होना अमूमन हमें निराश करता है और हम कोशिश ही 'त्याग' देते हैं। ऐसे में अगर हम किसी ऐसे शिशु को देखें जो नियंत्रण का भारी विरोध करता हो, तो हम कह सकते हैं 'यह तो स्कूल में बड़ी ही हठी बच्ची बनेगी और इस बारे में आप कुछ भी नहीं कर सकते'। परन्तु सौभाग्य से इस बात का प्रमाण है कि ऐसे मामलों में वातावरण से फर्क पड़ता है। उपरोक्त जाँच के हिस्से के रूप में बेटस् तथा उनके सहकर्मियों ने बच्चों का अध्ययन तब भी किया जब वे पाँच साल के थे। उन्होंने उस समय उनकी माताओं के प्रतिबंधक नियंत्रण के स्तर को नापा, जैसे निषेधों को और बच्चों के असुविधाजनक या नुक्सानदेह आचरण की प्रतिक्रिया में

3. आचरण संबंधी प्रवृत्तियों में ये व्यक्तिगत अंतर हैं जो जीवन में बहुत प्रारंभ में ही देखे जा सकते हैं और जो विभिन्न परिस्थितियों में तुलनात्मक रूप से स्थायी होते हैं।

डाँट-फटकार को। उनके नतीजों ने गुणसूत्रों तथा पर्यावरण के बीच स्पष्ट अंतःक्रियाओं का संकेत दिया। उदाहरण के लिए जब बच्चों ने शिशुओं के रूप में नियंत्रण का विरोध दर्शाया था, पर पाँच साल की उम्र में उन्होंने प्रातिबंधक नियंत्रण का अनुभव पाया था, तब दस साल की उम्र में उनके बाह्यीकृत आचरण का स्तर घटा हुआ पाया गया। पर जो शिशु *नियंत्रण का विरोध नहीं करते थे*, पर पाँच वर्ष की आयु में जिन्होंने प्रतिबंधक नियंत्रण का अनुभव किया, वे दस वर्ष की उम्र में *अधिक* हठी पाए गए!

इन प्रभावों को भला क्या स्पष्ट कर सकता है ? आनुवांशिक तथा वातावरण संबंधी प्रभाव कई संभाव्य तरीकों से साथ-साथ घट सकते हैं। एक संभावना यह है कि शैशव में हठी आचरण माता-पिता के खिलंदड़पन को कम कर उन्हें अधिक कठोर या अवपीड़क बनाता है (अर्थात् वे सख्ती से अनुशासन करते हैं, और यह पलट कर बाद में स्कूल में बालक के आचरण को प्रभावित करता है। इस परिघटना के तमाम प्रमाण हैं और इसके लिए जो तकनीकी शब्द है वह *प्रतिक्रियाशील सह-प्रसरण* (रिएक्टिव कोवेरिएन्स) है। एक दूसरी संभावना है कि किसी खास तरह के स्वभाव वाले बच्चे अपने वातावरणों को स्वयं ऐसा आकार दें कि वे वातावरण स्वतः ही कुछ परिणामों तक पहुँचाएँ। उदाहरण के लिए जब कोई डरपोक या संकोची बच्चा सामाजिक परिस्थितियों से कन्नी काटता है, फलस्वरूप उसे सामाजिक कौशलों को सीखने के कम अवसर मिलते हैं, नतीजतन वह पहले से भी अधिक संकोची व शर्मीला बनता है, जितना वह तब होता जब उसका वातावरण अलग तरह का होता। इसे *क्रियाशील सह-प्रसरण* (एक्टिव कोवेरिएन्स) कहा जाता है। स्वाभाविक है कि यह हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि वातावरण में समुचित बदलाव लाने से जन्मजात भिन्नताओं को कुछ इस प्रकार बदला जा सकता है कि वे बेहतर हो जाएँ। कई अध्ययनों में माता-पिता को उनके बच्चों के चिड़चिड़ेपन तथा व्यथा के प्रति बेहतर अनुक्रिया करने का प्रशिक्षण देने की असरकारिता को देखा गया है। इन अध्ययनों के नतीजे दर्शाते हैं कि इसका बच्चों के अन्वेषी खेल, सामाजिक कौशलों, स्कूल में समायोजन (एडजस्टमेंट) तथा अकादमिक उपलब्धियों में फायदा होता है।

निष्कर्ष

प्रकृति व परवरिश के मुद्दे की व्यापक छानबीन से साफ है कि जिस सवाल से हमने शुरुआत की थी उसमें कई पेचीदगियाँ हैं। हमारा निष्कर्ष यह है कि स्लेट बिल्कुल कोरी नहीं होती, पर साथ ही हम जिन क्षमताओं के साथ पैदा होते हैं, उनके विकास में वातावरण भी एक सशक्त भूमिका निभाता है। हम यह भी देखते हैं कि प्रकृति और पोषण एक-दूसरे से आवर्ती रूप में अंतःक्रिया करते हैं, परस्पर सुंदर तरीके से गुंथे हुए होते हैं।

इस अध्याय की चर्चा का स्वर काफी तटस्थ तथा भावहीन रहा है, पर यह वास्तविक जीवन में प्रकृति तथा परवरिश के विवाद से भिन्न है। शीर्षस्थ मनोवैज्ञानिक, जो अपने-अपने क्षेत्रों में विलक्षण विश्लेषणकर्ता हैं वे प्रकृति-परवरिश खाई के दोनों विपरीत छोरों से युद्ध करते रहे हैं। और इस युद्ध के कारण नगण्य नहीं हैं। यह एक ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रश्न है जिसका गंभीर व महत्त्वपूर्ण निहितार्थ इस बात पर होता है कि हम अपने समाज की रचना किस प्रकार करते हैं। अगर हम यह मानते हैं कि हमारी आनुवांशिकता ही भविष्य में हम क्या बनेंगे यह तय करती है, तो फिर क्या हम जो वंचित लोग हैं उनके वातावरण को सुधारने में निवेश करेंगे ? कई लोगों को भय है कि जब मनोवैज्ञानिक जन्मजात क्षमताओं तथा प्रवृत्तियों पर प्रतिवेदन करते हैं, तो या तो वे भ्रमित हैं, या फिर गैर-ज़िम्मेदार। इसलिए क्योंकि उनके नतीजे इस विश्वास की ओर ले जा सकते हैं कि **जीवविज्ञान ही नियति** है।

जीवविज्ञान-ही-नियति-है विश्वास के दो अर्थ हो सकते हैं :

- मनुष्य के जीवन में कई तरह के परिणाम तयशुदा या अपरिहार्य होते हैं।
- जो ताकत इन परिणामों को तय करती है, वह हमारा जीवविज्ञान या हमारी आनुवांशिक खासियतें होती हैं, न कि हमारा वातावरण।

यह दावा कुछ ज़्यादा ही दृढ़ लगता है। हममें से ज़्यादातर लोग यह मानते हैं कि परिणाम तयशुदा नहीं होते और उन्हें हमारे प्रयासों द्वारा हमेशा बदला जा सकता है। हममें से कई यह भी मानते हैं कि वातावरण भी परिणामों को पूरी तरह से निर्धारित नहीं कर सकता। तो क्या कोई सच में यह मानता भी है कि जीवविज्ञान नियति है ? दुर्भाग्य से दुनिया भर में और मानव के समस्त इतिहास में इस मान्यता के तमाम उदाहरण मौजूद हैं जिनमें किसी समूह विशेष के साथ इसलिए भेदभाव किया गया, क्योंकि उन्हें 'जैविक रूप से घटिया' माना जाता था। सामाजिक समस्याओं जैसे गरीबी का स्पष्टीकरण भी अवसरों के बजाए क्षमताओं के आधार पर दिए जाते हैं। अर्थात् एक राजनीतिक नज़रिया यह भी है कि जिन लोगों के पास कुछ खास क्षमताएँ होती हैं, वे जीवन में सफल होंगे, और जिनमें वे नामौजूद हों वे गरीब रहेंगे। पर दूसरा दृष्टिकोण यह है कि अगर अच्छी शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा नौकरी के अवसर मिलें तो, कोई भी सफल हो सकता है।

ये कठिन मुद्दे बार-बार उभरेंगे। अगला अध्याय हमें यह पूछने को उकसाता है कि अगर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारे अनैतिक व्यवहार के कुछ पक्ष जन्मजात हैं, तो क्या हमें कुछ अपराधों को क्षमा करना होगा ? नैतिक तथा व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी के सवाल प्रकृति-परवरिश के विभाजन से जुड़े हैं। अध्याय आठ में जब हम बुद्धिमत्ता के विषय पर सोचेंगे तब हमें पुनः इसी सवाल का सामना करना पड़ेगा।

संदर्भ व पुस्तक सूची

1. एसबरी, के., टी.डी. वाक्स, तथा आर. प्लॉमिन, 2005। 'एन्वायरन्मेंटल मॉडररेटर्स ऑव जेनेटिक इन्फ्लुएन्स ऑन वर्बल एण्ड नॉनवर्बल एबिलिटिस इन अर्ली चाइल्डहुड'। *इन्टेलिजेन्स,* 33, 643-61.
2. बेटस्, जे.ई., जी.एस पेतित, के.ए.डॉज; तथा बी.रिज; 1998। 'इन्टरएक्शन ऑव टेंपरामेंटल रेसिस्टेंस टु कंट्रोल एण्ड रेस्ट्रिक्टिव पेरेंटिंग इन द डेवलपमेंट ऑव एक्स्टरनलाइजिंग बिहेवियर'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-34, संख्या-5, 982-95
3. ब्रुनर, जे.एस., तथा एम.सी.कोल, 1971। 'कल्चरल डिफरेंसेस् एण्ड इन्फरेंसेस् अबाउट साइकोलॉजिकल प्रोससेसेस्'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* 26, 867-76
4. कोल एम.सी., तथा एस.आर.कोल, 1993। *द डेवलपमेंट ऑव चिल्ड्रन*। साइन्टिफिक अमेरिकन बुक्स।
5. कॉलिन्स, डब्लू.ए., ई.ई. मैककोबी, एल.स्टाइनबर्ग, ई.एम. हैदरिंग्टन तथा एम.एच. बॉर्नस्टाइन, 2000। 'कंटेंपपरी रिसर्च ऑन पेरेंटिंग : द केस फॉर नेचर एण्ड नर्चर'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-55, संख्या-2, 218-32
6. पिंकर, एस., 2002। '*द ब्लैंक स्लेट : द मॉडर्न डिनायल ऑव ह्यूमन नेचर*'।
7. रोगॉफ बी., तथा पी. शावाजे, 1995। 'व्हॉटस् बिकम ऑव रिसर्च ऑन द कल्चरल बेसिस ऑव कॉग्निटिव डेवलपमेंट ?' *एमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-50, संख्या-10, 859-77
8. वॉक्स, टी.डी., 2006। 'कॉन्ट्रिब्यूशन्स् ऑव टेंपरामेंट टू बफरिंग एण्ड सेंसिटाइजेशन प्रोसेसेस् इन चिल्ड्रन्स् डेवलपमेंट'। बी. लेस्टर, ए. मास्टेन तथा बी. मैकईवन (संपादित) *रेज़िलिएन्स इन चिल्ड्रन* में शामिल। एनल्स ऑव द न्यू यॉर्क एकैडमी ऑव साइन्स, खण्ड-1094, 28-29
9. वॉकर, एस.पी., टी.डी. वॉक्स, जे.एम. गार्डनर, बी.लॉज़ॉफ, जी.ए.वासरमान, ई.पॉलिट, जे.ए. कार्टर तथा द इन्टरनैशनल चाइल्ड डेवलपमेंट स्टीयरिंग ग्रुप, 2007। 'चाइल्ड डेवलपमेंट : रिस्क फैक्टर्स फॉर एडवर्स आउटकम्स् इन डेवलपिंग कन्ट्रीज'। *लैन्सेट,* 369, 145-57

❑❑❑

अध्याय छह

नैतिक विकास

तकरीबन चालीस वर्ष पूर्व, दुनिया भर के अखबारों ने एक सौम्य व अहिंसक कबीले को खोज निकालने की घोषणा की जो सभ्यता से अछूता, फीलिपीन्स के बरसाती जंगलों के एक खूबसूरत इलाके में निवास करता था। पत्तों से बने वस्त्रों में अपना दैनिक काम करते टसाडे कबीले के लोगों के चित्र प्रकाशित हुए और जल्दी ही यह खबर फैल गई कि उनकी शब्दावली में 'युद्ध' या 'हथियार' के लिए शब्द तक नहीं थे। इस कथा ने कई लोगों की इस गहरे पैठी धारणा को पुष्ट किया कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से अच्छा होता है। लगभग दस साल बाद 'पता चला' कि इस कबीले की कथा कुछ चालबाज़ों की ईजाद है, जिन्होंने इस घटना से लाभ कमाया था। टसाडे लोग वास्तविक थे भी या नहीं, यह आज तक निश्चित नहीं हो पाया है। परन्तु रोचक यह है कि दुनिया ने इस कथा को कैसे सच मान लिया! यह दर्शाता है कि अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक ज्याँ-जैकस रूसो द्वारा लोकप्रिय बनाए गए 'उदात्त जंगली' (नोबल सैवेज) के विचार में हम कितना विश्वास करते हैं। रूसो मानते थे कि 'मानव हृदय में किसी भी प्रकार की मूल विकृति नहीं होती'

अगर जंगली लोग श्रेष्ठ हो सकते हैं तो नन्हे बच्चे, जो वयस्क समाज के प्रभाव से लगभग अछूते होते हैं; वे भी उतने ही श्रेष्ठ होने चाहिएँ। और ठीक यही बात हमें नैतिक विकास में शिक्षा की भूमिका के हृदयस्थल तक ले जाती है।

क्या आप मानते हैं कि बच्चे स्वाभाविक रूप से 'अच्छे' होते हैं और समाज की 'बुराइयाँ' उन्हें भ्रष्ट करती हैं ? या आपको लगता है कि बच्चे स्वाभाविक रूप से असभ्य होते हैं और उन्हें नैतिक इन्सान बनाने के लिए सामाजीकरण आवश्यक होता है? शिक्षकों के रूप में हम उन परिस्थितियों से, जिनमें छात्रों का आचरण जुड़ा हो, कैसे निपटते हैं, वही यह भी तय करता है कि हम रेखा के किस ओर हैं। क्या हम मानते हैं, कि इन्सान की बुनियादी प्रकृति को सभ्यता और समाज *बेहतर बनाते* हैं, या फिर यह कि वे उसे *भ्रष्ट करते* हैं। बहरहाल दोनों ही स्थितियों में हम अपने छात्रों के सामने जो लक्ष्य रखते हैं वे केवल अकादमिक लक्ष्य भर नहीं होते। हम चाहते हैं कि वे सच बोलें, एक-दूसरे से साझेदारी करें, सहयोग करें, मदद करें, दयालु हों, सम्मान करें, साहसी बनें... और साथ ही झूठ *न बोलें*, एक-दूसरे को चोट न पहुँचाएँ, स्वार्थी, आलसी, बदतमीज़ या डरपोक न बनें। अब, संभव है कि इन वांछनीय गुणों के बीज छोटे बच्चों में पहले से मौजूद हों। कुछ शिक्षक मानते हैं कि उनका काम ही मुख्यतः बच्चे की स्वाभाविक उदारता, कोमलता और ईमानदारी को *नष्ट नहीं करना* है।

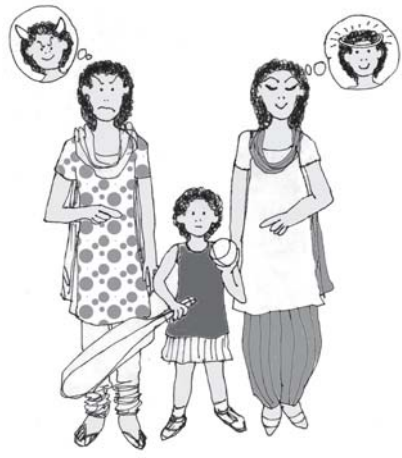

परन्तु कुछ शिक्षकों की धारणा यह होती है कि उनके काम का यह भी एक हिस्सा है कि वे छात्रों को चीज़ें साझा करना, परस्पर सहयोग करना और आक्रामक आचरण से बचना

सिखाएँ और उनमें 'सही विचार स्थापित करें', क्योंकि यह सब स्वाभाविक रूप से नहीं होता। इस तरह बालक के लिए स्कूल ही वह सबसे सशक्त सामाजीकरण की ताकत बन जाता है। दरअसल सामाजीकरण की प्रक्रिया स्कूल के काफी पहले ही प्रारंभ हो जाती है। बच्चे अनुशासनात्मक भिड़न्तों से अपनी पहली वर्षगांठ के पहले ही काफी सूचना पा लेते हैं; उन्हें चेताया जाता है, फुसलाया जाता है, धमकाया व दण्डित किया जाता है, उन्हें आज्ञा दी जाती है और निषेध भी किया जाता है। करीब चार साल की उम्र तक बच्चों से उम्मीद की जाती है कि वे सुरक्षा, संपत्ति का सम्मान, दूसरों का सम्मान, पारिवारिक तथा सामाजिक मानकों से संबंधित कई तरह के अनुरोधों तथा माँगों की अनुपालना करने लगेंगे। जब वे छह साल के हो जाते हैं, तो वे औपचारिक शिक्षा प्रारंभ करते हैं। ज़्यादातर भारतीय स्कूलों में चाहे वे धार्मिक हों या धर्म-निरपेक्ष, बच्चों को सभ्य आचरण तथा नैतिकता की शिक्षा देने पर भी समय लगाया जाता है। ऐसे नैतिक पाठ सभी कक्षाओं के लिए नियमित रूप से दिए जाते हैं, संभवतः सप्ताह में एक बार।

दुर्भाग्य से सामाजीकरण तथा अनुशासन की सालों-साल चलने वाली इस प्रक्रिया के नतीजे ठीक वैसे नहीं होते जो दरअसल हमारे लक्ष्य थे। समस्या शायद यह है कि ये नैतिक पाठ अमूर्त तथा मौखिक होते हैं; कहावत यह है कि मूल्य उदाहरण के माध्यम से ही पकड़े जा सकते हैं; निर्देशों द्वारा पढ़ाए नहीं जा सकते। बहरहाल हम चाहे कोई-सा भी नज़रिया क्यों न अपनाएँ, हम तब तक प्रभावी नहीं हो सकते, जब तक हम नैतिक विकास की वास्तविक पेचीदगियों को समझ न लें। नैतिक विकास इस कदर पेचीदा क्यों है इसके कम से कम चार अच्छे कारण हैं :

- नैतिकता (जो सार्वजनीन हो सकती है), तथा परिपाटियों (जो अपने परिवार या समाज तक सीमित होते हैं) में अंतर होता है। बच्चे इस अंतर को कैसे समझते हैं? अर्थात् वे यह कैसे जान पाते हैं कि **कुछ चीजें क्यों 'सही' हैं**, और कुछ अन्य **गलत?**
- हालाँकि सामाजीकरण की प्रक्रिया काफी जल्दी प्रारंभ होती है, **वयस्कों के नियम कोरी स्लेटों पर नहीं लिखे जाते**। शोध सुझाता है कि बच्चों में संभवतः स्पर्धा, सहकार, सहवेदना तथा परोकारी, आक्रामक या भयभीत होने की जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं।
- वयस्क जो भी सामाजिक मानदण्ड देते हैं उन्हें बच्चे वैसे ही स्वीकार नहीं लेते। नैतिक विकास का मतलब आचरण के नियमों को महज आत्मसात कर लेना नहीं है। उसी तरह जैसे संज्ञानात्मक विकास का मतलब केवल ज्ञान को आत्मसात करना भर नहीं होता। यहाँ भी **नियमों को आत्मसात करना एक रचनात्मक प्रक्रिया** होती है।

- नैतिक ज्ञान होने मात्र से हमेशा नैतिक आचरण सुनिश्चित नहीं हो जाता। वह क्या है जो किसी व्यक्ति से 'अपने सिद्धान्तों के अनुरूप काम करवाता है'? अक्सर **हम जो कहते हैं और जो करते हैं इसमें असंगति होती है**, और यह असंगति जितनी नैतिकता में होती है उतनी किसी अन्य क्षेत्र में नहीं होती।

इस अध्याय में उपरोक्त चारों बिन्दुओं की विस्तार से जाँच पड़ताल की जाएगी तथा मनोवैज्ञानिक शोध के उदाहरण प्रस्तुत किए जाएँगे। शुरुआत हम नैतिकता-परिपाटी के बीच भेद से करेंगे तथा मनोवैज्ञानिक इतिहास में कुछ अंतःसांस्कृतिक शोध (क्रॉस कल्चरल रीसर्च) को भी देखेंगे।

यह 'सही' क्यों है?

क्या आपको याद है जब आखिरी बार आपने किसी छात्र को किसी दूसरे छात्र को धमकाने पर टोका था? अगर आपने उसे टोकने का कोई कारण दिया हो तो याद करने की कोशिश करें कि आपने उसे क्या यह कहा था। 'इस स्कूल में हम धौंसगिरी सहन नहीं करते' या 'उस दूसरे इन्सान को कितना बुरा लगेगा'। या फिर अगर आपने किसी छात्र को बड़ों के साथ शिष्ट बरताव करने को कहा तो आपका बताया गया कारण क्या 'शिष्ट रहना, अच्छा आचरण है' था, या फिर 'इससे दूसरे को प्रसन्नता होती है।' जब भी कोई छात्र कुछ ऐसा करता है जिसका आप अनुमोदन नहीं करते, तो संभावना यह है कि आप उस वक्त कम से कम इन तीन बुनियादी बातों को संप्रेषित करे :

- बंद करो!
- बंद करो, या फिर तुम्हें इस या उस तरह की सज़ा मिलेगी।
- बंद करो, क्योंकि फलाँ-फलाँ अच्छे कारणों के चलते ऐसा करना नहीं चाहिए।

शिक्षकों के रूप में अगर हम ऊपर दी गई सूची के पहले निर्देश से आगे नहीं बढ़ते, तो मनोवैज्ञानिक शोध के अनुसार हमारा हस्तक्षेप खास प्रभावी नहीं होगा। दूसरी प्रतिक्रिया सीधे व्यवहारवादी विचारधारा (बिहेवियरल स्कूल) की उपज है। (बॉक्स-1, इन तरीकों के उपयोग के खतरों का वर्णन करता है)। तीसरी प्रतिक्रिया का निश्चित रूप से अनुमोदन किया जाता है -- जब हम छात्रों से विभिन्न आचरणों के कारण और परिणामों की चर्चा करते हैं, तो वे बहुत कुछ सीखते हैं। कारण न देने से कहीं अधिक प्रभावी होता है कारण बताना, परन्तु स्थिति और भी पेचीदा होती है। ऊपर दिए गए उदाहरणों में दो प्रकार के कारणों को स्पष्ट किया गया था : प्रथागत और नैतिक। अर्थात् हम बच्चे को यह बता सकते हैं कि कुछ व्यवहार इसलिए 'सही/गलत' हैं, क्योंकि परिवार, स्कूल, समाज या धार्मिक **परिपाटी** ऐसा कहती है। या हम किसी बच्ची को यह बता सकते हैं कि कोई आचरण इसलिए 'सही/गलत' है क्योंकि उसमें कुछ खोना, उसका अन्यायपूर्ण

या नुक्सानदेह होना अंतर्निहित होता है -- यानी उसके **नैतिक** कारण हैं। क्या एक प्रकार का कारण दूसरे से अधिक प्रभावी होता है?

दरअसल यह स्थिति पर निर्भर करता है। सभी तरह के उल्लंघन नैतिक नहीं होते। मान लें कि किसी छात्र को धमकाने या उस पर धौंस जमाने के बदले किसी छात्र ने कक्षा में अपनी टोपी न उतारी हो। ऐसे में मेरी नज़र में कक्षा में टोपी उतारने का कोई अंतर्निहित नैतिक कारण नहीं है। इसी प्रकार की तमाम अन्य परिपाटियाँ भी होती हैं जिनका कोई स्पष्ट नैतिक करण नहीं है। इन परिपाटियों को तोड़ने को नैतिक उल्लंघन नहीं कहा जा सकता। शोध ने दिखाया है कि बच्चे और किशोर काफी कम उम्र में नैतिक तथा प्रथागत नियमों में अंतर कर सकते हैं, और करते भी हैं। उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक लैरी नुची ने विभिन्न नियमों की छात्रों की समझ तथा उनके शिक्षकों की प्रतिक्रियाओं की छानबीन की थी। उनके निष्कर्षों को मोटे तौर में समेटें तो कह सकते हैं कि उन्होंने पाया कि शिक्षक तब अधिक प्रभावी होते हैं, जब वे *नैतिक उल्लंघन* के प्रथागत के बदले नैतिक या समानुभूतिपरक कारण देते हैं। उदाहरण के लिए जब शिक्षिका ने 'अगर वह तुम्हें मारती तो कैसा लगता?' कहने के बदले 'मारपिटाई को लेकर हमारे यहाँ नियम हैं', कहा तो छात्रों की प्रतिक्रिया कम अनुकूल रही। प्रतीत यह होता है कि जब बात मारपीट जैसे मसले की हो (या ऐसा कुछ करने की जिसमें दूसरे को क्षति पहुँचती हो) बच्चे किसी परिपाटी या नियम के बजाए किसी तद्नुभूतिपरक कारण पर अधिक अनुक्रिया करते हैं।

बॉक्स-1

रोकिये इसे या गलत...

आचरण को बदलने के सबसे आसान तरीके मनोविज्ञान के **व्यवहारवादी विचारधारा** से आए हैं, जो यह अनुमोदन करती है कि अलग-अलग रूप में **दण्ड या पुरस्कार** अवांछित आचरण को हटाता है और वांछनीय आचरण को पुष्ट करता है। परन्तु जो त्वरित-और-गंदे तरीके हैं उनके प्रति व्यक्ति को हमेशा शंकालू होना चाहिए! मान लें कि किसी छात्र को कक्षा में कुछ माँगते या देते समय शिष्टता बरतना सिखाने के लिए आप उसे अभद्र होने पर हर बार सज़ा देते हैं। इसके निम्नोक्त अनचाहे असर हो सकते हैं :

- आपके सामने रहते वह अभद्र आचरण नहीं करता, ताकि सज़ा न मिले, पर अन्यथा वह ठीक वही करता है।
- वह अभद्र आचरण रोक देता है, पर उसका स्थान लेने के लिए कोई सकारात्मक आचरण उसके पास नहीं होता।
- अगर सज़ा के रूप में उसे कक्षा को साफ करने को कहा जाता है तो वह यह सीखता है कि सफाई का काम एक सज़ा है।

- वह सीखता है कि लोगों से जो वह चाहता है उसे करवाने का तरीका, सज़ा देना है।
- आपके प्रति उसकी प्रतिक्रिया क्रोध और भय की होती है।
- वह आपको तथा/या कक्षा को क्रोध व भय की भावना से जोड़ना सीखता है और दोनों में से किसी का भी सामना करते ही उसमें स्वतः ही ये भावनाएँ जगती हैं।

पिछले कई वर्षों से, कई मनोवैज्ञानिक, खुद व्यवहारवादियों समेत, यह कहने लगे हैं कि मानवीय आचरण को नियंत्रित करने का बेहतर तरीका सज़ा देना नहीं है। उनमें से कुछ सुझाते हैं कि हमें अच्छे आचरण पर सकारात्मक पुनर्बलन (पॉजिटिव रीइन्फोर्समेंट) जैसे, प्रशंसा, विशेषाधिकार या अन्य पुरस्कारों का उपयोग करना चाहिए। हममें से अधिकांश यह मानते हैं कि पुरस्कार छात्रों को प्रोत्साहित करते हैं, या कम से कम नुकसानदेह नहीं होते। अतः जब भी छात्र विनम्रता या औदार्य दिखाता है, हम उसकी तारीफ करते हैं या कोई पुरस्कार देते हैं। परन्तु इसका भी सूक्ष्म अनचाहे असर हो सकता है। छात्र वांछनीय आचरण बढ़ा सकता है, परन्तु केवल उन स्थितियों में जब उसके अच्छे आचरण को पहचाना जाए, या केवल तब ही जब पुरस्कृत करने वाले वयस्क आस-पास हों।

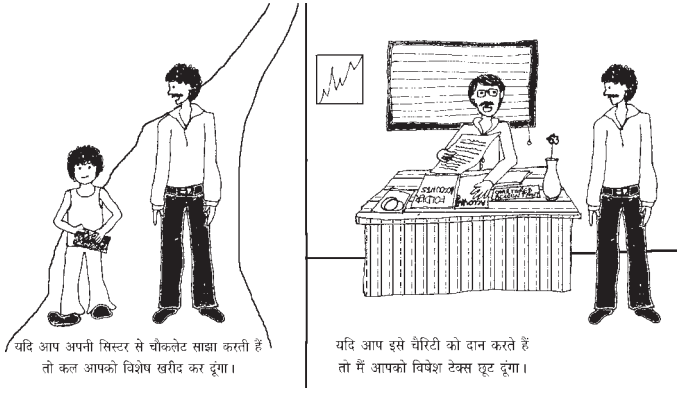

और तब आचरण '**अति-औचित्यपूर्ण**' (ओवरजस्टिफाईड) बन जाता है। अर्थात् उसे केवल पुरस्कार के लिए करने योग्य समझ लिया जाता है। पुरस्कृत करने का संभाव्य रूप से सबसे नुक्सानदेह परिणाम यही है। अमूमन पुरस्कार ऐसे आचरण के लिए दिया जाता है जो स्वतःस्फूर्त तरीके से न होता हो, या जब हममें कुछ 'अच्छा' घटने का इंतज़ार करने का धीरज न हो। आप इस अध्याय में आगे देखेंगे कि छोटे बच्चे स्वतःस्फूर्त रूप से औदार्य या अन्य लोगों के प्रति संवेदनशीलता दर्शाते हैं। उदारता या संवेदनशीलता के कृत्यों को पुरस्कृत करना यह संदेश देता है कि 'आपको ऐसा करने के लिए पुरस्कृत किया जाना चाहिए क्योंकि अन्यथा आप ऐसा करेंगे ही नहीं'।

बहरहाल, इस सबका अर्थ यह सुझाना नहीं है कि हमें अपने छात्रों के औदार्य, ईमानदारी या संवेदनशीलता की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए या उसे कबूलना नहीं चाहिए। पुरस्कार के नकारात्मक प्रभाव तब होते हैं जब पुरस्कार से गतिविधि असंबद्ध हो। इसका सरल-सा उदाहरण है जब अधिक किताबें पढ़ने के लिए प्रमाण-पत्र दिए जाने लगें, बनिस्बत एक स्वाभाविक नतीजे के जैसे : किताब पढ़ लेने पर आप एक और किताब पढ़ने के लिए उधार ले जा सकते हैं। सकारात्मक पुनर्बलन तब सबसे अच्छी तरह काम करता है जब वह प्रशंसा, प्रोत्साहन और सूचनात्मक पुनर्निवेश के रूप में दिया जाए।

कोई तुम्हें मारता तो कैसा लगता?

एक अन्य मनोवैज्ञानिक नैन्सी आइसनबर्ग, को भी कुछ ऐसे ही नतीजे तब मिले जब उन्होंने और उनके सहकर्मियों ने दस-वर्षीय बच्चों में उदारता का अध्ययन किया। बच्चों को प्रयोगशाला में एक खेल खेलने के लिए कुछ पैसे दिए गए, और तब उन्हें युनिसेफ का एक इश्तहार दिखाया गया जिसमें गरीब बच्चों के लिए दान माँगा गया था। उन्हें कहा गया कि अगर वे चाहें तो कुछ पैसे गरीब बच्चों के साथ बाँट सकते हैं, पर ऐसा करना ज़रूरी नहीं है। इसके बाद उन्हें एक छोटी फिल्म दिखाई गई, जिसमें एक वयस्क वही खेल खेलता है, फिल्म के अंत में वह वयस्क बोलते हुए, युनिसेफ को पैसे दान देने के बारे में सोचने लगता है। कुछ बच्चों को लगा कि फिल्म के वयस्क ने कहा कि गरीब बच्चों को 'खुशी और उत्तेजना होगी अगर वे खाना और खिलौने खरीद सकें। क्योंकि आखिरकार गरीब बच्चों के पास लगभग कुछ भी नहीं होता'। कुछ दूसरे बच्चों को लगा कि फिल्म के वयस्क ने कहा था, 'गरीब लड़कों और लड़कियों के लिए दान देना सच में अच्छी बात है... बाँटना सही है'। आइसनबर्ग ने पाया कि जिन बच्चों ने उपरोक्त

फिल्म देखी जिसमें पैसे साझा करने के लिए समानुभूतिपरक कारण बताए गए थे, उन्होंने अधिक पैसे दान में दिए।

मनोवैज्ञानिक शोध ने यह भी दर्शाया कि बच्चे और किशोर परिपाटियों को, नैतिकता से कम महत्त्वपूर्ण मानते हैं, ऐसे नियम जिनके साथ समझौता किया जा सकता है। परन्तु यह शोध अधिकांशतः कार्य पश्चिमी देशों के बच्चों के साथ किया गया है जिनके नैतिकता तथा परिपाटियों संबंधी दृष्टिकोण कमोबेश एक समान हैं। सवाल यह है कि क्या सभी संस्कृतियों के बच्चे प्रथाओं और नैतिकता के बीच एक ही तरह से रेखा खींचते हैं? केन्या तथा भारत जैसे देशों के अध्ययन दर्शाते हैं कि गैर-पाश्चात्य संस्कृतियों में, नैतिकता या प्रथाएँ बराबर रूप से महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं, और वहाँ के वयस्क तथा बच्चे उन्हें समतुल्य मानते हैं। रिचर्ड श्वेडर एक ऐसे नृशास्त्री हैं जिनकी नैतिक विकास के अंतःसांस्कृतिक विचारों में गहरी रुचि है। उन्होंने इस धारणा की सार्वजनीनता पर सवाल उठाया है कि 'कुछ घटनाएँ अंतर्निहित रूप से नैतिक होती हैं और कुछ अन्य नैतिकता-विहीन (नॉनमॉरल)।' हालाँकि यह संभव है कि कुछ सार्वजनीन नैतिक नियम हों जो न्याय, कमजोरों की रक्षा, वचन निभाना, तथा निष्पक्ष फैसलों जैसे विचारों पर आधारित हों, कई समाजों में **प्रथाओं की भी नैतिक शक्ति होती है।** उनके निष्कर्ष 1980 के दशक के उड़ीसा के एक रूढ़िवादी समुदाय के गहन अध्ययन से निकले थे, जहाँ बच्चों का मानना था कि पिता को उनके नाम से बुलाना नैतिक रूप से गलत था, और चौदह वर्षीय पुत्र के नाम आए पत्र को पिता द्वारा खोलना *नैतिक* रूप से सही। हम यह कैसे जान सकते हैं कि ये बच्चे इनको नैतिक नियमों के बजाए प्रथाओं के रूप में नहीं देखते थे? इन बच्चों से यह भी पूछा गया कि क्या यह बेहतर होगा कि सारी दुनिया इन नियमों को अपना ले; अगर अमरीकी इन नियमों को अपना लें तो क्या अमरीका एक बेहतर स्थान बन जाएगा; और अगर ज़्यादातर भारतीय चाहें तो क्या इन नियमों को बदल डालना सही होगा। उनके उत्तर (जो हाँ, हाँ, व नहीं थे) संकेत देते हैं कि वे इन्हें महज परिपाटियाँ नहीं बल्कि नैतिक नियम मानते थे। इसके विपरीत अमरीकी बच्चों को अपने पिता को नाम से संबोधित करने में कुछ भी *गलत नहीं* लगा, पर पिता द्वारा बेटे को संबोधित पत्र को खोलना उन्हें *गलत लगा*।

श्वेडर तथा अन्य विद्वानों का तर्क है कि पाश्चात्य संस्कृतियों में भी, नैतिकता तथा प्रथाओं के बीच स्पष्ट विभाजन करना कठिन होगा। कक्षा में समय से पहुँचने के नियम को ही लें, क्या यह एक विशुद्ध परिपाटी है, या फिर शेष कक्षा की सीखने की प्रक्रिया में इसका कोई असर भी होता है? अर्थात् क्या किसी छात्र का देर से आना 'अन्यायपूर्ण'

है क्योंकि इससे शेष विद्यार्थी प्रभावित होते हैं या फिर यह केवल स्कूल के नियमों के विरुद्ध है? या अगर कोई छात्रा कक्षा में हाथ उठाए बिना ही बोलने लगे, तो क्या वह एक परिपाटी को तोड़ रही है, या दूसरे सहपाठियों की ज़रूरतों को अनदेखा कर रही है? हमारे अपने स्कूलों तथा कक्षाओं को बारीकी से देखकर क्या हम परिपाटियों तथा नैतिकता में साफ भेद कर सकते हैं? कुछ मनोवैज्ञानिकों ने सुझाया कि नैतिक तथा प्रथागत उल्लंघन दरअसल समान आयाम में स्थित होते हैं। इनमें एकमात्र अंतर यह होता है कि नैतिक उल्लंघन प्रथागत उल्लंघनों से अधिक गंभीर होते हैं।

आज भारत के उच्च तथा मध्यमवर्गीय शहरी बच्चे संभवतः पाश्चात्य देशों के बच्चों के अधिक समान होते हैं बनिस्बत उन साथी भारतीय बच्चों के जो अधिक रूढ़िवादी या ग्रामीण परिवेश में पले-बढ़े हों। मुझे लगता है कि परंपरागत रूप से पाले-पोसे गए बच्चों में भी संप्रेषण में कई दिक्कतें इसलिए उभरती हैं क्योंकि जिसे एक पीढ़ी नैतिक मानती है, उसे ही अगली पीढ़ी प्रथागत मानने लगती है। अपने छात्रों के साथ नैतिकता तथा प्रथाओं संबंधी अपने तथा उनके विचारों की चर्चा करना एक सम्मोहक अभ्यास होगा -- अगर आप ऐसे सवालों पर संवाद के लिए कुछ समय निकाल सकें।

नैतिक -- प्रथागत अंतर की इस पेचीदा छवि को ध्यान में रखते हुए हम नैतिक विकास के कुछ ऐतिहासिक दृष्टिकोणों को देखते हैं। ये नैतिकता तथा प्रथाओं के प्रश्न पर हमारी समझ को और गहरा बनाएँगे। जिन लोगों ने मनोविज्ञान का थोड़ा बहुत अध्ययन किया है वे सिग्मंड फ्रॉयड, ज्याँ पियाज़े तथा लॉरेंस कोलबर्ग के नामों से परिचित ही होंगे। इनमें पहले दो मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व तथा संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्रों में काम किया था। और तीसरे को खासतौर से नैतिक विकास में उनके 'चरण सिद्धान्त' (स्टेज थ्योरी) के लिए जाना जाता है। इन तीनों के सिद्धान्तों को बाल्यावस्था नैतिकता से जोड़ने के लिए एक साझा सूत्र मिलता है। परन्तु हालिया वर्षों में इस सूत्र पर सवाल उठाए गए हैं, उसे इतना खींचा-ताना गया है कि वह टूटने के कगार पर आ खड़ा हुआ है! यह साझा सूत्र यह धारणा है कि मनुष्य का नैतिक बोध जीवन में बाद में वयस्कों द्वारा सामाजीकरण के माध्यम से अथवा बेहतर संज्ञानात्मक तार्किकता के कारण उभरता है। खासकर कोलबर्ग के सिद्धान्त में यह साफ-साफ कहा गया है कि **नैतिकता प्रथाओं से उपजती** है, या कम से कम प्रथाओं के *बाद*। जैसा आप देखेंगे, इस छवि को हालिया आंकड़ों द्वारा चुनौती दी गई है। हालिया आंकड़े दर्शाते हैं कि बच्चे काफी छोटी उम्र से ही नैतिक जीव होते हैं। परन्तु इस चर्चा से पहले नैतिक विकास के तीन नज़रियों का सार-संक्षेप स्तुत है।

फ्रॉयड की अवधारणा यह थी कि छोटा बच्चा बुनियादी आवेगों तथा इच्छाओं के साथ जन्मता है, जिन्हें वह अभिव्यक्त या संतुष्ट करना चाहता है। ये *आवेग मूलतः स्वार्थी होते हैं,* इस अर्थ में कि इस प्रारंभिक उम्र में दूसरों की आवश्यकताओं की कोई फिक्र नहीं होती। परन्तु बालक जल्दी ही यह सीख लेता है कि उसकी इच्छाओं की तात्कालिक पूर्ति नहीं हो सकती, उसकी सहज प्रेरणाओं की आपूर्ति इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि वास्तविकता की दुनिया इसकी अनुमति ही नहीं देती। इस प्रकार सामाजीकरण की एक प्रक्रिया प्रारंभ होती है, जिसमें वयस्कों की बारंबार दी गई चेतावनियाँ, आदेश व धमकियाँ बालक को ऐसे काम करने से रोकती हैं जो उसे या दूसरों को क्षति पहुँचाएँ, और साथ ही वे बालक को पारिवारिक तथा सामाजिक प्रथाओं-परिपाटियों का अनुसरण करना सिखाती हैं। फ्रॉयड के दृष्टिकोण से बालक के जन्मजात आवेगों को निरंतर कुण्ठित किया जाता है और वह जीवन की (दुःखद) सच्चाईयों से जूझता है जहाँ वह हमेशा और उसी समय वह नहीं पा सकता, जो वह चाहता है। फ्रॉयड का कहना था कि लगभग पाँच साल की आयु में ये बाहरी बाधाएँ आत्मसात कर ली जाती हैं, और बालक में एक अंतःकरण विकसित हो जाता है, जो उसके कृत्यों को अंदर से दिशा देता है। यह विवेक उसे वयस्कों की नामौजूदगी में भी उचित व्यवहार करने और अपराधबोध की जटिल भावना द्वारा उसे याद दिलाने या दण्ड देने का काम भी करता है।

पियाज़े ने छोटे बच्चे को 'अहंकारी' (इगोइस्टिक) कह परिभाषित किया था। परन्तु उन्होंने इस शब्द का उपयोग रोज़मर्रा की भाषा में जो इसका अर्थ होता है उसके बदले 'दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण से देख पाने में असमर्थ' के अर्थ में किया था। उनके सिद्धान्त के अनुसार जब बच्चा सात साल का हो जाए, केवल उसके बाद ही वह अपने कृत्यों के दूसरों पर होने वाले प्रभावों को देख पाता है, कारण और उसके असर को, तथा दूसरों की मंशा को भी समझने लगता है। अर्थात् एक नैतिक जीव बनने की प्रक्रिया की तब शुरुआत होती है। पियाज़े के संज्ञानात्मक विकास के विभिन्न चरणों वाले सिद्धान्त से प्रेरणा ले कोलबर्ग ने नैतिक विकास के चरणों का सिद्धान्त प्रस्तावित किया। उसका संक्षिप्त विवरण यह है : प्रारंभ में बच्चे व्यक्तिगत आनंद और पीड़ा, तथा अपनी ज़रूरतों के आधार पर काम करते हैं (जो *प्रथा-पूर्व* या प्री-कन्वेन्शनल चरण है)। इसके बाद प्रथागत (कन्वेन्शनल) तार्किकता का चरण आता है -- जिसमें वे बाह्य मतैक्य को पहचानने लगते हैं, दूसरों से अनुमोदन चाहते हैं और सामाजिक नियमों की अनुपालना करते हैं। और अंततः *उत्तर-प्रथागत* (पोस्ट-कन्वेन्शनल) चरण आता है, जब सही आचरण के तर्कसंगत, वस्तुनिष्ठ मानकों पर बालक ध्यान केंद्रित करता है। इसमें

उपरोक्त सिद्धान्त शामिल होते हैं : न्याय, कमज़ोर की सुरक्षा, वादों को निभाना, तथा पूर्वाग्रहमुक्त फैसले।

पूर्व-परिपाटीगत → परिपाटीगत → उत्तर-परिपाटीगत

कोलबर्ग के अनुसार इस अंतिम चरण तक अधिकांश लोग पहुँच ही नहीं पाते। इन चरणों का क्रम एक से दूसरे व्यक्ति में अपरिवर्तनीय होता है -- अर्थात् हरेक व्यक्ति इसी क्रम में इन चरणों से गुज़रता है। परन्तु कोलबर्ग के इन चरणों के आयु के संकेतक नहीं हैं। सो आप किसी बारह वर्षीय बालिका तथा एक पैंतालीस वर्षी महिला, दोनों को नैतिक विकास के एक समान चरण में भी पा सकते हैं। और इससे यह भी साफ होता है कि हरेक व्यक्ति वयस्क अवस्था तक पहुँचने पर आवश्यक रूप से उच्चतर चरण तक नहीं पहुँचेगा। दरअसल दुनिया भर में हुए शोध दर्शाते हैं कि आबादी के पाँच प्रतिशत से भी कम लोग उत्तर प्रथागत चरण में होते हैं (कोलबर्ग के चरणों के अतःसांस्कृतिक निष्कर्षों के उदाहरण के लिए बॉक्स-2 देखें)।

हालाँकि फ्रॉयड, पियाज़े तथा कोलबर्ग के सिद्धान्तों में मनुष्य के विषय में कुछ सच्चाईयाँ हैं, फिर भी उनको लेकर अनेक मुद्दे भी उठे हैं। हालिया शोध ने संकेत दिया है कि छोटे बच्चों की नैतिक संवेदनशीलता को तीनों ही मनोवैज्ञानिकों ने काफी कमतर आंका है। खासतौर से कोलबर्ग के सिद्धान्त की आलोचना, गलत नहीं तो कम से कम अपूर्ण होने के कारण, की गई है। ऐसा लगता नहीं है कि नैतिक मूल्य परिपाटियों का बोध होने के बाद ही विकसित होती है। एक मनोवैज्ञानिक, इलियट ट्युरियल की दृष्टि में बच्चों में प्रारंभ से ही नैतिकता तथा परिपाटियों का बोध विकसित होता है, परन्तु उनका विकास पथ भिन्न-भिन्न होता है। इलियट तथा उनके सहकर्मियों की शोध से लगता है कि बहुत

छोटे बच्चे भी विभिन्न सामाजिक अंतःक्रियाओं द्वारा नैतिकता तथा प्रथाओं में भेद कर पाते हैं। उदाहरण के लिए जब आप अपनी सहेली के बाल खींचते हैं, उसे दर्द होता है और वह रोती है। परन्तु अगर आप अपने शिक्षक को 'नमस्कार' नहीं कहते तो उसका परिणाम कुछ अलग ही होता है। ऐसे ही कई अंतःक्रियाओं द्वारा बच्चे कौन से नियम सार्विक हैं और कौन से सापेक्ष के बारे में अनुमान लगाना और फैसला करना सीखने लगते हैं। दरअसल ट्यूरियल छोटे बच्चों से पूछते हैं : किसी दूसरे देश में जहाँ माता-पिता और स्कूल अनुमति देते हों, क्या यह सही होगा कि (1) स्कूल में कोई भी कपड़े न पहने जाएँ या (2) किसी के बाल खींचे जाएँ? तीन से पाँच साल की आयु तक के बच्चे भी इस बात पर स्पष्ट हैं कि इनमें से पहली बात स्वीकार्य हो सकती है, पर दूसरी नहीं।

बॉक्स-2

'यूरोप के हाइन्ज़ को भूल जाओ!'

क्या अपने हाइन्ज़ की कहानी सुनी है, जो वह अभागा इन्सान था जो अपनी मर रही पत्नी के लिए दवाएँ नहीं खरीद सकता था? लॉरेन्स कोलबर्ग और तमाम अन्य मनोवैज्ञानिकों के कारण दुनिया के अनेक बच्चे तथा वयस्कों का सामना हाइन्ज़ की दुःखद कथा से हुआ हैं। हाइन्ज़ दवा वाले से अनुरोध करता है जो उसकी मदद करने से इन्कार कर देता है। सवाल यह है कि क्या उसे दवा चुरा लेनी चाहिए और अगर हाँ तो क्यों, या क्यों नहीं? जब पुलिस को चोर का पता चलता है, और उसे पूरे मामले की जानकारी मिल जाती है, तो क्या उसे हाइन्ज़ को गिरफ्तार करना चाहिए, और अगर हाँ तो क्यों या क्यों नहीं?

इस शोध के लिए अपनाई गई विधि में लोगों से साक्षात्कार कर उनसे ऐसी परिकल्पित परिस्थितियों पर चर्चा करना है जिनमें कोई नैतिक दुविधा हो, जैसे हाइन्ज़ की कथा में है, और तब उनसे विभिन्न संभाव्य वैकल्पिक कृत्यों के स्पष्टीकरण तथा औचित्य पूछा जाता है। कोलबर्ग के अनुसार, लोगों को चाहे यह लगे कि हाइन्ज़ को दवा चुरानी चाहिए या नहीं चुरानी चाहिए, वे अपने मत के समर्थन में जो कारण बताते हैं, वे उसकी नैतिक तर्कसंगतता के चरण का संकेत देते हैं। हाँ, उसे दवा चुरानी चाहिए, क्योंकि अन्यथा ईश्वर उसे अपनी पत्नी को मर जाने देने की सज़ा देगा। नहीं, उसे दवा नहीं, चुरानी चाहिए, क्योंकि चोरी कानून के खिलाफ है। हाँ, उसे दवा चुरानी चाहिए, क्योंकि वह अपनी पत्नी से प्यार करता है और उसके बिना जी नहीं सकता। नहीं, उसे चोरी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर उसे जेल हो जाएगी। गत तीस सालों से लोग हाइन्ज़ के कृत्यों को स्पष्ट करते रहे हैं, उनका औचित्य देते रहे हैं, और ये आँकड़े दर्शाते हैं कि छोटे बच्चे अधिकतर प्रथा-पूर्व प्रकार से तर्क करते हैं, बड़े बच्चे और वयस्क प्रथागत तरीके से, और बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उत्तर प्रथागत तरीके से तर्क करते हैं। परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि इस प्रयोग में **आत्मचेतन अभिव्यक्ति** (सेल्फ-कॉन्शियस वर्बलाइज़ेशन) के जिस ऊँचे स्तर की ज़रूरत पड़ती है,

वह कोलबर्ग के क्रम को 'मौखिक औचित्य' के विकास का सिद्धान्त बना डालती है, न कि नैतिक विकास का। दुनिया भर के अधिकांश लोग वे जितना कुछ किसी विषय के बारे में कह पाते हैं, उससे कहीं अधिक *जानते* और *करते* हैं। शायद यह तथ्य उस आश्चर्यजनक परिणाम का स्पष्टीकरण है कि क्यों दुनिया भर में इतने कम लोग कोलबर्ग द्वारा सुझाए गए विकास क्रम में उच्चतम स्तर तक नहीं पहुँच पाते।

इसके अलावा कोलबर्ग का सिद्धान्त परस्पर टकराने वाले मुद्दों पर सोचने व तर्क करने के अन्य वैध, परन्तु नितांत भिन्न तरीकों को भी नहीं पकड़ पाता। ज्योत्स्ना वासुदेव तथा रेमण्ड हमल ने बड़ी संख्या में जयपुर, कलकत्ता तथा दिल्ली के वयस्कों व बच्चों को हाइन्ज़ कथा सुनाकर साक्षात्कार किया और पाया कि भारतीयों के नैतिक सिद्धान्त उन सिद्धान्तों से भिन्न हैं, जिन पर कोलबर्ग ने विचार किया था। इन सिद्धान्तों में जीवन (केवल मनुष्य का ही नहीं) की पवित्रता, अहिंसा का विचार, तथा यह भावना कि सामाजिक मुद्दे व्यक्तिगत जीवन से अधिक बड़े होते हैं, शामिल हैं। इनमें से अंतिम ने वासुदेव के संभागियों में से एक को यह टिप्पणी करने को उकसाया 'अरे यूरोप के हाइन्ज़ को भूल जाओ, बस हिन्दुस्तान आओ और तब आप यहाँ के 60 प्रतिशत लोगों के लिए यही कह रहे होंगे, जो गरीबी रेखा के नीचे जीते हैं... हाइन्ज़ की कहानी हमारे चारों ओर हर समय दोहराई जाती है, जिसमें बीबियाँ मरती हैं, बच्चे मरते हैं और उन्हें बचा पाने के लिए पैसा नहीं होता... तो, ठीक है, दवा चुरा लो, पर इससे व्यापक पैमाने पर कोई फर्क नहीं पड़ने वाला।'

ट्यूरियल तथा उसके सहर्मियों ने आचरण का एक तीसरा आयाम भी जोड़ा है, जो **व्यक्तिगत** है। इस श्रेणी में वह आचरण आता है जिसके बारे में युवा लोगों को लगता है कि उनसे उनके सिवा किसी दूसरे का कोई लेना-देना ही नहीं है (उदाहरण के लिए बालों की लम्बाई, सोने का समय, क्या पहनना चाहिए, कमरा कितना साफ होना चाहिए...!)। वयस्कों को इन मसलों को व्यक्तिगत ही रहने देना चाहिए और उन्हें नैतिक या प्रथागत क्षेत्र में जाने ही नहीं देना चाहिए, शायद खासतौर से किशोरों के मामले में। हम इस महत्त्वपूर्ण विचार पर अध्याय-11 में वापस लौटेंगे, जो किशोरावस्था पर है। फिलहाल हम इस सवाल को जाँचते हैं, कि क्या नैतिकता के कुछ सहज या जन्मजात तत्व भी हैं, और अगर हैं, तो वे भला क्या हैं?

नैतिकता के सहज तत्व

कम लोग ही इस दावे के विरुद्ध तर्क करेंगे कि उद्विकास (एवोल्यूशन) ने इन्सानों में आक्रामकता और स्पर्धा की मूल प्रवृत्तियाँ (इन्स्टिंक्ट) पैदा की हैं। हम बहुत छोटे बच्चों को भी अमूमन आक्रामक होता देखते हैं, वे पसंदीदा खिलौने के लिए झपटते हैं, एक-दूसरे को काटते हैं, या बाल खींचते हैं। जिस समय यह आचरण पहले-पहल उभरता है, तब भी यह किसी की नकल या वातावरण से सीखा गया आचरण नहीं लगता। स्पष्

र्ा करने की इच्छा भी काफी शुरू में नज़र आती है। हम अक्सर दो बच्चों को किसी ऐसी चीज़ के लिए लड़ते देखते हैं, जो पहले उनमें से किसी को भी नहीं चाहिए थी। पर अगर कोई एक उसे उठा लेता है तो दूसरे को अचानक उसके लिए लड़ना ज़रूरी लगने लगता है। और जब लड़ाई खत्म हो जाती है, तो वह चीज़ अचानक एक ओर पटक दी जाती है! उद्विकासीय तर्कों के अनुसार **स्पर्धा** और **आक्रामकता** की मूल प्रवृत्तियाँ, बचाव के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, अतः हमें विरासत में मिलती हैं।

पर ठीक यही उद्विकासीय तर्क हमें यह भी बताते हैं कि **सहकार** तथा **समाज अभिमुख** आचरण भी अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए ज़रूरी है। कई परिस्थितियों में जो लोग अस्तित्व के संघर्ष में एक-दूसरे की मदद करते हैं, वे ही प्रजनन कर पाने तक जीवित बचे रह पाते हैं, बनस्बित उन लोगों के जो मदद नहीं करते और फलतः मदद पाते भी नहीं हैं। बेशक, शिशु जन्म से ही मददगार या सहकार करने वाले पैदा नहीं होते, परन्तु बाद के सामाजिक आचरण का भावनात्मक आधार उनमें जन्म के समय से ही मौजूद होता है। कुछ ही दिनों के शिशु अपने निकटतम लोगों के प्रति भावनात्मक अनुक्रिया करते हैं। वे नकल द्वारा ठीक वैसी ही भावनात्मक अभिव्यक्तियाँ करते हैं (मुस्कुराना, भौंहें चढ़ाना, भयभीत होना)। दूसरे बच्चे को रोता सुन वे रोते हैं, और अगर माँ परेशान हो तो उद्विग्न हो जाते हैं। समानुभूति (एम्पैथी) की यह प्रारंभिक स्वरूप स्व-व्यथा में अभिव्यक्त होता है। परन्तु जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है यही समानुभूति उसे दूसरों की आवश्यकता के अनुसार विशेष मददगार आचरण के माध्यम से अनुक्रिया करने की छूट देती है। यह तब होता है जब बच्चा 'स्व' तथा 'अन्य' में अंतर का भाव विकसित करने लगता है।

नैतिकता के **परोपकार** तथा **अपराधबोध** जैसे परिष्कृत पक्ष भी एक या दो वर्ष की आयु में उभरने लगते हैं। मनोवैज्ञानिक मेरियन राडके-यैरो ने भी कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों की तरह, बहुत छोटे बच्चों में इन तत्वों के विकास का अध्ययन किया है। उनका एक अध्ययन साल भर से भी अधिक चला और उसमें साल भर की आयु वाले बच्चों की माताओं को असामान्य तथा रोचक तरीके से जोड़ा गया। माताओं को प्रशिक्षित किया गया कि वे ऐसे मौकों को तलाशें जिसमें बच्चा किसी व्यक्ति को कठिनाई में देखे, और तब बालक की अनुक्रियाओं को यथासंभव ईमानदारी से दर्ज करें। माह में एक बार राडके-यैरो के दल में से कोई व्यक्ति उनके घर आता और माता का साक्षात्कार करता। इनमें से कुछ मुलाकातों में माँ स्वयं परेशान होने का *नाटक* करती ताकि शोधकर्ता बच्चे की अनुक्रिया का विडियो बना सके। इससे माता के अवलोकनों की गुणवत्ता को जाँचने का उपयोगी साधन मिल पाया।

इन नतीजों ने क्या दर्शाया? अध्ययन की अवधि में बच्चों ने दूसरों की व्यथा या परेशानी के समय अधिकाधिक समाज अभिमुख आचरण, जैसे गले लगाना, मदद करना, या

मौखिक सांत्वना देना, दर्शाया। उन्होंने समानुभूतिक सरोकार, जैसे उदासी या सहानुभूति के हावभाव भी दर्शाए। साथ ही जिसे 'परिकल्पना को जाँचना' (हाइपोथिसिस टेस्टिंग) कहा जाता है, भी दर्शाया, जिसमें यह लगा कि वे परेशानी का कारण तलाश रहे थे। उदाहरण के लिए बच्चा व्यक्ति के चोटिल पैर तथा जिस कुर्सी से वह टकराया था, को बारी-बारी आँखों को आगे-पीछे घुमा कर देखता रहा। शोधकर्ताओं की खास रुचि उन परिस्थितियों में थी, जिसमें परेशानी का कारण स्वयं बालक था। क्योंकि यहीं अपराधबोध तथा पश्चाताप की जड़ें मिलने की संभावना थी। लगता यह है कि वयस्कों में अपराधबोध द्वन्द्व पैदा करता है; किसी मित्र को तब सांत्वना देना अधिक आसान होता है जब उसे किसी दूसरे ने आहत किया हो, बजाए तब जब आपने खुद उसे तकलीफ पहुँचाई हो! परन्तु क्या इतने छोटे बच्चों को यह अहसास हो भी सकता है कि वे खुद ही किसी की परेशानी का कारण थे, और ऐसा होता है, तो वे किस प्रकार की भिन्न अनुक्रिया कर सकते हैं ?

नतीजों ने दर्शाया कि बच्चे तब भी व्यथित व्यक्ति की मदद कर सकते हैं और सांत्वना दे सकते हैं, जब उन्होंने स्वयं वह तकलीफ पहुँचाई हो। यह तथ्य सुझाता है कि समानुभूति ही करुणा तथा पश्चाताप जनित आचरण का साझा मूल है। परन्तु, जब बच्चों ने तकलीफ स्वयं पहुँचाई होती है तो वे दूसरों के प्रति अधिक मज़ा, अधिक आक्रामकता, और कम सरोकार, अधिक आत्म-व्यथा (रोना या सुबकना) जताते हैं, और तकलीफ के कारण तलाशने की चेष्टा कम करते हैं, बजाए उस स्थिति के जिसमें व्यथा का कारण वे न रहे हों! अतः जैसा राडके-यैरो कहती हैं, इस प्रारंभिक आयु में भी पश्चाताप से या प्रारंभिक आत्मचेतना से जन्मे सहायक व सांत्वना देने वाले आचरण के साथ भी कुछ द्वन्द्व तथा दुविधा जुड़े होते हैं। स्वाभाविक ही है कि इसे पुष्ट करने में वयस्कों की सहायता भी मिलती है जो आक्रमकता पर अंकुश लगाने, या दूसरों के हाथ बाँटने के लिए अनुशासन का इस्तेमाल करते हैं। बालक दूसरे के प्रति समानुभूति महसूस ज़रूर करता है पर जब यह अहसास इस जानकारी से जुड़ता है कि वह स्वयं किसी दूसरे की परेशानी का सबब है, तो वह एक द्वन्द्व को भी महसूस करता है, जिसे हम बाद में चलकर हम अपराधबोध कह सकते हैं।

नैतिक आचरण का एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्व है परिणामों का भय। बहुत छोटी उम्र में ही बच्चे कुछ कृत्यों तथा परिस्थितियों को भयावह परिणामों से जोड़ने लगते हैं, जैसे सज़ा मिलना या प्यार को हटा लेना। लगभग सभी पशुओं के मस्तिष्क में जन्म से ही पुनर्बलन (रीइन्फोर्समेंट) का नियम मौजूद होता है; अर्थात् अगर किसी आचरण के अप्रिय नतीजे हों तो भविष्य में उसके दोहराए जाने की संभावना कम होती है। नैतिक विकास को इस सरल-सादे नियम से मदद मिलती है, जो नवजात शिशुओं तक में मौजूद होता है। वयस्कों के रूप में हम सुरक्षा तथा आचरण के नियम संबंधी महत्त्वपूर्ण संदेशों को देने के लिए

इसी पर निर्भर करते हैं : 'अगर अपना हाथ वहाँ डालोगे तो चोट लगेगी' या 'अगर तुम फूल तोड़ोगे तो माँ बहुत नाराज़ होगी'।

रोचक बात यह है कि बच्चों को यह समझने में कुछ समय लग जाता है कि अगर कोई उन्हें ऐसा करते पकड़े नहीं तो वे फूल *तोड़ सकते* हैं! और बच्चों को खुद के लिए यह तय करने में और भी वक्त लगता है कि फूल तोड़ना दरअसल गलत है भी या नहीं। यह तथ्य हमें सामाजीकरण तथा चीजों को आत्मसात करने के अगले भाग की ओर ले जाता है। चाहे कुछ नैतिक तत्व जन्मजात हों या फिर सीखे गए हों, स्कूल जाने के पहले ही बालक में कई नैतिक तत्व मौजूद होते हैं, और हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि छोटे बच्चे कतई *सदाचार-निरपेक्ष* (एमॉरल) नहीं होते। परन्तु जब इस पहले से काफी जटिल नैतिक मस्तिष्क के संपर्क में बाहरी दुनिया के यह करो और यह मत करो के विचार आते हैं तब क्या होता है ?

एक सक्रिय प्रक्रिया के रूप में आत्मसात करना

कई मनोवैज्ञानिक सामाजीकरण की प्रक्रिया तथा नैतिक विकास में उसकी भूमिका को बेहद महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उदाहरण के लिए सिगमंड फ्रॉयड की अवधारणा के अनुसार, छोटे बच्चे के अनुचित आवेगों व इच्छाओं को केवल सामाजीकरण की प्रक्रिया से ही नियंत्रित किया जा सकता है। यहाँ 'सामाजीकरण' से तात्पर्य उन तौर-तरीकों से है जिनके द्वारा, हमउम्र साथी, वयस्क, तथा सामान्य समाज, बच्चे के आचरण को उनके

नियमों का पालन करने के लिए अनुकूलित करते हैं। परन्तु जैसे आप कल्पना कर सकते हैं, बात केवल 'बाहरी नियमों को आत्मसात कर उनके अनुरूप काम करना' जितनी सरल नहीं है। और जब छोटे बच्चे वयस्कों द्वारा अभिव्यक्त नैतिक मूल्यों पर ध्यान देते भी हैं, वे हमेशा उनको स्वीकारते नहीं हैं। विद्वेष, नाराज़गी और मूल्यों को नकारना, तब भी आम होता है, जब छोटे बच्चे बाहरी तौर पर आज्ञा का पालन कर रहे हों। शिक्षकों के रूप में सामाजीकरण का काफी सारा काम हमारे ज़िम्मे आता है। स्वाभाविक है कि हम चाहते हैं कि हमारे छात्र कई मूल्यों को आत्मसात कर लें। इसका मतलब हुआ कि छात्र यह सोचें कि वे मूल्य उनके अंतस से उपजे हैं, न कि दूसरों द्वारा आरोपित हैं। क्या शोध कुछ ऐसा भी कहती है, जो हमारे काम में हमारी मदद कर सके ?

हालाँकि ज़्यादातर अध्ययन माता-पिता तथा उनके बच्चों पर किए गए हैं, परन्तु ठीक वही सिद्धान्त युवा वर्ग से अंतःक्रिया करने वाले किसी वयस्क पर भी लागू होते हैं। उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक जोआन ग्रूसेक तथा जैकलीन गुडनाऊ ने, ***अनुशासन*** संबंधी घटनाओं पर ध्यान केंद्रित किया और यह पता लगाना चाहा कि दरअसल क्या कारगर होता है और क्या नहीं। उन्होंने पाया कि परिस्थिति (उदाहरण के लिए किसी प्रकार का अपराध) से संबंधित कई घटक आत्मसात करने की प्रक्रिया पर असर डालते हैं। इन घटकों में वयस्क की चारित्रिक विशेषताएँ तथा विद्यार्थी का स्वभाव शामिल हैं। उदाहरण के लिए कई बार वयस्क के कथन विषय से भिन्न या अप्रासंगिक हो सकते हैं। जैसे जब वे कहते हैं, 'यह तुमने पहली बार नहीं किया है', या 'और एक और चीज़ जो तुम हमेशा करते हो, वह है...'। ऐसे कथन सफल रूप से आत्मसात करने की संभावना को कम करते हैं। ग्रूसेक तथा गुडनाऊ इस बात पर भी गौर करते हैं कि कई वयस्कों की प्रतिक्रिया में व्यंग्य या हास्य का पुट भी होता है, जैसे 'तो वह जादुई शब्द भला क्या है ?' और जब बच्चा धीमे बोले तो, 'मैं शायद बहरा हो रहा हूँ!' व्यंग्यात्मक प्रतिक्रिया की स्थिति में बच्चे को बात को पूरी तरह समझने के लिए 'संज्ञानात्मक खुलासा' (कॉग्नेटिव अनपैकिंग) करना पड़ता है, जो आत्मसात करने में मदद कर सकता है।

स्थिति चाहे जो भी हो, कोई मूल्य आत्मसात हो इसके लिए अंतस दो चीजें होनी ज़रूरी होती हैं :

- वयस्क के दृष्टिकोण के विषय में बच्चे की समझ का सटीक होना ज़रूरी है, और
- उसे उस दृष्टिकोण को नकारना नहीं, बल्कि स्वीकारना होता है।

ऐसा हो सके इसके लिए आपकी अनुशासन की तकनीक का लचीला होना आवश्यक है। लचीला इस अर्थ में कि किसी बालक या बालिका के प्रति आपकी प्रतिक्रिया, प्रस्तुत परिस्थिति तथा बालिका के स्वभाव पर आश्रित होनी चाहिए। परन्तु गौर करें कि **लचीलेपन का अर्थ असंगति** या **सामंजस्यहीनता** नहीं है! परिस्थिति तथा आपकी

प्रतिक्रिया के बीच का रिश्ता मनमाना (रैडंम) नहीं होता। ग्रूसेक तथा गुडनाऊ का कार्य दर्शाता है कि कुछ प्रतिक्रियाएँ, कुछ खास तरह की परिस्थितियों में अधिक उपयुक्त होती हैं। वह क्या है जो किसी वयस्क की प्रतिक्रिया को किसी विशेष *परिस्थिति के लिए उपयुक्त बनाता है ?* याद रहे कि आपका विद्यार्थी जो कुछ भी सुनता है उस सब को उसे अपने मस्तिष्क में पहले से मौजूद सामाजिक अंतःक्रिया संबंधी दृष्टिकोण, विश्वासों तथा आचरण संबंधी कल्पनाओं के अनुकूल बनाना पड़ता है। इसका तात्पर्य है कि आप जिस प्रकार तर्क करते हैं, उसे कल्पना निर्माण तथा परिवर्तन की प्रक्रिया में मददगार होना चाहिए। लैरी नुक्की, जैसा आप पहले ही देख चुके हैं, बताते हैं कि बच्चों द्वारा किसी वयस्क के संदेश को स्वीकारने की संभावना तब सबसे अधिक होती है, जब वह संदेश उनकी दृष्टि से परिस्थिति के लिए उचित हो। अर्थात्, उनकी उम्मीद यह रहती है कि वयस्क नीतिगत, प्रथागत तथा व्यक्तिगत उल्लंघनों के लिए भिन्न-भिन्न तर्क देंगे। उदाहरण के लिए नुक्की ने पाया कि, कि अगर शिक्षक ने गाली बकने पर 'दूसरे के बारे में भी सोचो' या चोरी करने पर 'इसकी अनुमति नहीं हैं', कहा तो छात्रों को ये कारण बेमेल लगे और उनको स्वीकारने की संभावना कम रही। इस तरह के बेमेलपन का प्रभाव केवल उस खास तर्क को स्वीकारने या अस्वीकारने के परे गया : बच्चों ने ऐसे शिक्षकों का सामान्य मूल्यांकन करते समय उन्हें कम पसंद किया।

जब हम नैतिक विवेचना की बात करते हैं, तब हमें छात्र के बदलते संज्ञानत्मक कौशल के स्तर को भी ध्यान में रखना चाहिए। नैतिक तर्कणा के महत्त्वपूर्ण पक्ष संज्ञानात्मक क्षमता पर निर्भर करते हैं, जैसे अनेक परिप्रेक्ष्यों को देख पाना, दूसरों की मंशा को, तथा कार्य-कारण को समझ पाना। सामान्यतः वयस्क इसके प्रति जागरूक होते हैं, यही कारण है कि हम छोटे बच्चों से सरल, ठोस शब्दों में बात करते हैं, और बड़े बच्चों तथा किशोरों से अधिक जटिल और अमूर्त तरीके से। परन्तु हम सरल विवेचना को परंपरागत, नियम आधारित (मत करो, करना नहीं चाहिए) मानने की भूल कर सकते हैं। जबकि जिस शोध की हमने यहाँ समीक्षा की है वह यह संकेत करती है कि प्राथमिक शाला के बच्चे तक भी समानुभूतिपरक, नैतिक तर्क समझ सकते हैं, और समझते भी हैं। हम उनसे उनके कृत्यों के दूसरे पर पड़ने वाले असर की बात कर सकते हैं। जिसे '**अन्य अभिमुख तर्कणा'** कहा जाता है, वह कई कारणों से कारगर रहता है :

- यह दूसरों के प्रति बालक की समानुभूति की क्षमता को विकसित करता है।
- वह किसी वयस्क से बंधा नहीं होता -- अर्थात् जब वयस्क नामौजूद हो तब भी बालक किसी दूसरे की भावना के प्रति सचेत हो सकता है।
- यह बच्चे या बच्ची को यह सोचने को प्रोत्साहित करता है कि वह दूसरे व्यक्ति को पहुँचाई गई चोट को 'सुधारने' के लिए क्या कर सकती है।

- यह बच्चों को दूसरों के अधिकारों का सम्मान करने की दिशा में ले जाता है।

इस सबसे हमें यह विश्वास हो जाना चाहिए कि अपने छात्रों से परिस्थिति के लिए उपयुक्त तरीकों से तर्क करने से मूल्यों को आत्मसात करने की प्रक्रिया में मदद मिलेगी। अनुशासन की एक दूसरी आम तकनीक जिसका हमारे स्कूलों में दुरुपयोग होता है, उसको **'सत्ता का आग्रह'** (पावर एसर्शन) कहते हैं। कुछ शिक्षक बच्चों के विशेषाधिकार, उनके प्रति स्नेह को हटा लेते हैं, बल प्रयोग करते हैं, धमकियाँ देते हैं, यहाँ तक कि शारीरिक दण्ड भी देते हैं। दुर्भाग्य से इन कृत्यों द्वारा वे जो सीख देते हैं, वे उनकी मंशा से बिल्कुल अलग होती हैं। सत्ता का आग्रह कई कारणों से एक खतरनाक औज़ार है :

- यह असुरक्षा की दिशा में ले जा सकता है (अगर हम प्यार हटा कर, अपनी सत्ता दर्शाएँ)।
- इससे नाराज़गी और द्वेष पैदा हो सकता है, और इस कारण संदेश आत्मसात नहीं किया जा सकता।
- यह आक्रामक आचरण का आदर्श सामने रखता है।
- इससे नैतिक आचरण का कारण वयस्क की उपस्थिति बन जाता है, और मूल्य आत्मसात नहीं होता।
- छात्र नैतिक मुद्दों पर विचार करने से हतोत्साहित होता है।

एक भूल जो हमसे हो सकती है, वह यह है कि हम अपने छोटे छात्रों के नैतिक चिंतन को कमतर आंकें हैं। उदाहरण के लिए, शोध दर्शाती है कि काफी छोटे बच्चों में भी **न्याय** का जटिल भाव होता है। मनोवैज्ञानिक विलियम डेमॉन ने छह और दस वर्षीय बच्चों में आपस में मीठी गोलियाँ साझा करने का अध्ययन किया ताकि उनके न्याय की समझ को जाँचा जा सके। चार बच्चों के समूहों को जितने उनसे बन सकें उतने कंगन बनाने की सामग्री दी गई। प्रत्येक समूह में एक बच्चा शेष बच्चों से छोटा था, अतः शेष से कम कंगन बना सकता था। समय आने पर डेमॉन ने प्रत्येक समूह को दस-दस गोलियाँ दीं, जो उन्हें स्वयं आपस में जैसा उचित लगे उसी तरीके से बाँटनी थीं। कुछ बच्चों ने किए गए काम के अनुपात में गोलियाँ बाँटने की कोशिश की। कुछ दूसरों ने सबमें बराबर गोलियाँ बाँटने की, जिसे डेमॉन ने चार बच्चों के बीच दस गोलियाँ दे मुश्किल बना दिया था! चीज़ों को बराबर बाँटने के दो कारण हो सकते थे : या तो बच्चों को इस तथ्य का महत्त्व ही समझ न आया हो कि कुछ बच्चों ने दूसरों से अधिक काम किया था, या फिर वे सही अनुपात का अंदाज़ नहीं लगा पाए हों। परन्तु बराबर विभाजन बड़े बच्चों के समूह में भी *उत्पादन के बावजूद सबके प्रति न्यायपूर्ण होने के नाम पर भी हुआ।* दस वर्षीय बच्चों के एक समूह में लम्बी चर्चा के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया

कि उनके छोटे साथी को भी बराबर हिस्सा मिलना चाहिए क्योंकि 'आखिर, उसने कुछ भी न किया हो ऐसा तो नहीं है... वह जितना कर सकता था उसने उतना तो किया ही है... सो उसे भी उतना ही मिलना चाहिए जितना हमें मिला'।

संभव है कि इन बच्चों के कुछ तर्क वयस्क सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से आए हों। परन्तु एक रोचक विचार यह भी हो सकता है। क्या वयस्क जिसे सही कहते हैं, उसमें तथा वयस्क समाज दरअसल जिस तरह काम करता है, उसमें सुसंगति होती है ? सामाजिक, आर्थिक तथा विदेश नीतियाँ अक्सर लोभ, सत्ता लोलुपता, आक्रामकता तथा दुर्बल का शोषण परिलक्षित करती हैं। बढ़ते बच्चे न केवल अपनी अंतःक्रियाओं की तात्कालिक दुनिया के प्रति सजग होते हैं, बल्कि राजनीतिक तथा सामाजिक वास्तविकताओं के व्यापक जगत के प्रति भी सचेत होते हैं। और दुनिया भर में कई बच्चे कठोर और कठिन परिस्थितियों में जीते हैं, सामाजिक अन्याय झेलते हैं। विलियम आरसेनियो ऐसे मनोवैज्ञानिक हैं जिनकी रुचि इस बात में है कि जो बच्चे, जिसे आरसेनियो **विषाक्त सामाजिक वातावरण** कहते हैं, में पलते-बढ़ते हैं, उनमें समानुभूति का विकास किस प्रकार गड़बड़ा सकता है। संभव है कि ऐसे बच्चों को नैतिक पारस्परिकता, या न्यायपूर्ण बरताव के प्रत्यक्ष अनुभव बेहद कम हुए हों। हमें शायद इस बात पर अचरज नहीं होना चाहिए कि ऐसे बच्चों को लगता हो कि : जीवन न्यायसंगत नहीं होता, सो मैं भला न्यायोचित क्यों बनूँ ? जैसा आरसेनियो कहते हैं, उन्हें यह संदेश मिलता है कि जीवन परवाह करने और न्यायसंगतता के गिर्द नहीं बल्कि सत्ता और प्रभुत्व के गिर्द घूमता है। सबसे खराब मामलों में, यह किसी किशोर को लापरवाह आक्रामकता के स्वरूपों तक ले जा सकता है।

आरसेनियो के निष्कर्ष पश्चिम के वंचित बच्चों के अध्ययन से उपजे हैं। बेशक एक ध नी देश में, जहाँ अधिकांश आबादी भौतिक सुख-सुविधा में जीती है, भारत जैसे गरीब देश में जीने से भिन्न होता है। क्या भारत के वंचित बच्चे भी विद्वेषी होते हैं, समाज में अपने दर्जे को लेकर कटुता से भरे होते हैं ? अपने तात्कालिक व विस्तृत परिवार तथा समुदाय के घनिष्ठ संबंधों का उन पर क्या असर होता है ? संभव है कि सशक्त तथा सहायक वातावरण यहाँ के बच्चों को नैतिक भावनाओं, जैसे न्यायोचितता तथा करुणा के ऐसे अनुभव उपलब्ध करवाते हों, जो उनके अपने नैतिक विकास के लिए आवश्यक हों।[1] इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर बहुत कम शोध हुई है कि अन्याय के व्यापक सामाजिक

1. ऐसा एक रोचक अध्ययन जो इन प्रश्नों के उत्तर उपलब्ध करवा सकता है, 'यंग लाइव्स' परियोजना है। इसमें पंद्रह वर्षों तक इथियोपिया, वियतनाम, पेरु तथा भारत में अध्ययन किया जाएगा। भारत में इसका काम कुछ वर्षों पहले आंध्र प्रदेश में प्रारंभ किया गया, जिसमें वित्तीय रूप से वंचित परिवारों के 3000 बच्चे हैं। इसका लक्ष्य है कठिन परिस्थितियों में जीने वाले बच्चों पर सामाजिक तथा राजनीतिक नीतियों के प्रभाव को समझना। आप www.younglives.org.uk से उनके निष्कर्षों के बारे में जानकारी पा सकते हैं।

प्रतिमानों का बालकों के नैतिक विकास पर क्या असर पड़ता है। इस विषय में जानकारी का एक समृद्ध स्रोत है मनोवैज्ञानिक तथा लेखक रॉबर्ट कोल्स का कार्य। कोल्स ने कई साल विविध पृष्ठभूमियों के बच्चों से परिचय पाने में और उनके नैतिक विकास की समझ को गहन बनाने में बिताए। उन्होंने जिन बच्चों से बात की उनमें से कई गरीबी तथा सामाजिक भेदभाव के शिकार थे। कोल्स की किताबें बेहद सुंदर और मन को छूने वाली हैं, क्योंकि वे ऐसे छोटे बच्चों की नैतिक ताकत का वर्णन करती हैं, जो कठिन परिस्थितियों में जी रहे थे। कोल्स का सामना लगतार ऐसे बच्चों से हुआ जो स्वयं से बेहतर स्थिति में जी रहे बच्चों के प्रति न तो कटु थे, न ही नाराज़। कोल्स ने इसके कारण चिह्नित करने की चेष्टा की।

एक ब्राजीलवासी लड़के, जिसके बारे में कोल्स लिखते हैं, *फावेलास्* (कच्ची बस्ती) के एक झोंपड़े में रहता था, जहाँ से उसे समुद्र किनारे बने समृद्ध भवन साफ दिखाई देते थे। वह जीवन यापन के लिए अमीर ब्राजीलवासियों से भीख माँगता था, उनके छुटपुट काम करता था, उनकी गाड़ियों की सफाई करता था, और जूते चमकाता था। कोल्स बताते हैं कि कैसे यह लड़का और उस जैसे दूसरे बच्चे भी, अपने आसपास की असमानताओं के प्रति सचेत थे, परन्तु इसके बावजूद उनमें नैतिकता की सशक्त भावना थी! वे इस बात पर स्पष्ट थे कि वे किसी दूसरे को नुक्सान नहीं पहुँचाएँगे, एक-दूसरे की देखभाल करेंगे, खुद से कम भाग्यशाली और असहाय लोगों के लिए त्याग करेंगे। इन बच्चों में 'नैतिक गर्व एक प्रकार का आत्मसम्मान था'। बेशक, कोल्स सावधान करते हैं कि यह बात सार्वजनीन नहीं है : उदाहरण के लिए इस छोटे लड़के के पड़ौसी का वर्णन 'नीच-वृत्ति चुगलखोर, बेहद अप्रिय!' कह कर किया गया है। और जब कोल्स ने संपन्न घरों के बच्चों से बात की तो उनमें भी उन्हें यही विविधता मिली। कुछ बच्चों ने 'काफी अहंकार, आग्रहपूर्ण आत्म-महत्ता, व धकियाने वाले स्वार्थीपन, का प्रदर्शन किया। पर इसके बावजूद '...हमारे संपन्न अर्ध-शहरी (सबअर्बन) इलाकों में भी कई उत्साही और नैतिक रूप से संवेदनशील बच्चे मिलते हैं'। कोल्स सोचते हैं कि आखिर वह क्या है जो यह अंतर लाता है ?

अंततः किसी बच्ची या बच्चे की नैतिक भावनाओं को जो निर्धारित करता है, वह यह है कि वह अपनी सामाजिक अंतःक्रियाओं को किस प्रकार प्रसंस्कृत (प्रोसस) करती है। मूल्यों को मानना एक बात होती है, पर उनके अनुसार काम करना दूसरी। जो दरअसल महत्त्वपूर्ण है वह है नैतिक *आचरण* और दुर्भाग्य से इसकी भविष्यवाणी नैतिक ज्ञान या तर्कों के आधार पर आसानी से नहीं की जा सकती।

नैतिक आचरण

वयस्कों के रूप में हम अक्सर ऐसी स्थितियों का सामना करते हैं जिनमें हमें ऐसे निर्णय लेने और लागू करने पड़ते हैं, जो दूसरों के हित को प्रभावित करें। बच्चे भी अक्सर ऐसी स्थितियों का सामना करते हैं और उनके लिए ये स्थीतियाँ काफी भ्रामक होती हैं। कोई लड़का अपने सहपाठी से मध्यावकाश में गृहकार्य पूरा करने में मदद माँगता है, जब बाकी सब क्रिकेट खेल रहे हों। क्या वह सहपाठी रुक कर मदद करेगा ? दो लड़कियाँ मिलजुल कर एक परियोजना पर काम करती हैं, शिक्षिका परियोजना के विचार के श्रेष्ठ होने का श्रेय गलत लड़की को देती है। क्या वह शिक्षिका को बताएगी कि श्रेय दरअसल उसके साझेदार को मिलना चाहिए ? कोई छात्र जो स्कूल के पर्यावरण रक्षा दल का सदस्य है, उसे गलियारे में प्लास्टिक गिरा दिखता है -- आसपास कोई दूसरा नहीं है। क्या वह उसे फेंकने की ज़हमत उठाएगा ? एक छात्रा पाती है कि शिक्षिका ने उसे पर्चे पर पाँच अंक अधिक दे डाले हैं। क्या वह उन्हें कम करवाएगी ?

ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं वे सब 'ज़िम्मेदार आचरण' के तहत आते हैं, जिसकी एक परिभाषा मनोवैज्ञानिक कैरॉल इज़र्ड, जॉर्ज बीयर तथा उनके सहकर्मियों ने दी है : दूसरों के अधिकारों तथा हितों से संबंधित निर्णय लेने की, तथा उन निर्णयों के अनुसार काम करने की क्षमता। किसी परिस्थिति विशेष में कोई बालक या किशोर ज़िम्मेदारी से कृत्य करेगा या नहीं, इस बात को कई घटक मिलजुल कर प्रभावित करते हैं। इज़र्ड तथा बीयर सामाजिक, संज्ञानात्मक तथा भावनात्मक घटकों के महत्त्व पर बल डालते हैं। सबसे पहले तो बालक या बालिका को इस **ज़रूरत के प्रति सजग होना** पड़ता है कि उसे किसी खास तरह से आचरण करना चाहिए, या किसी खास किस्म के असामाजिक आचरण का दमन करना चाहिए। यह चेतना कुछ सामाजिक संकेतों के निहितार्थ निकालने से, दूसरों के दृष्टिकोण के हिसाब से देखने से, या समानुभूति अथवा सहानुभूति की भावना से उपजती है। दूसरे, **उसे पता होना चाहिए कि क्या करना है।** यह नैतिक विवेचना के अनुरूप होता है, जिसकी हम विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। तीसरे, बालक या बालिका को अपने निजी नैतिक विवेचना से **सहमति में कृत्य** करना चाहिए। जैसा वह चाहे तो, व्यक्तिगत कीमत और स्वयं को होने वाले फायदे को नाप-तोल कर नहीं करना भी तय कर सकती है!

नैतिक आचरण अक्सर व्यक्ति की निजी इच्छाओं से टकरा भी सकता है, और दरअसल समस्या भी यही है। नैन्सी आइसनबर्ग ने अमरीका में नौ से बारह वर्षीय बच्चों के एक प्रयोगशाला अध्ययन में पाया, कि जब इस प्रकार का संघर्ष होता है तब ही स्वयं से तर्क-वितर्क की संभावना अधिक होती है। ऐसा सहायक आचरण जिसकी कीमत कम हो (जैसे किसी की गिरी हुई कलम को उठा देना) बच्चों के लिए अधिक आसान था, और इसमें किसी भी प्रकार की नैतिक विवेचना की ज़रूरत भी नहीं पड़ी। इसके विपरीत अधिक कीमत वाले सहायक कृत्य (जैसे अपना नाम गोपनीय रख अपनी आय को किसी भले काम के लिए दान देना) स्वयं की ज़रूरतों तथा इच्छाओं में टकराव पैदा करता है! इस टकराव का समाधान तर्क करने से होता है, अतः आइसनबर्ग के अध्ययन में ऐसा मददगार आचरण उन बच्चों में मिलने की संभावना अधिक थी, जो अमूर्त तथा आत्मसात किए गए कारणों के आधार पर विवेचना कर सकते थे। लगता यह है कि अमूर्त तर्कणा बच्चों को जो उन्हें 'करना चाहिए' वह करने को तब भी उकसाता है' जब ऐसा करने की इच्छा उनकी न भी हो।

आइसनबर्ग तथा उनके सहकर्मियों ने एक अधिक वास्तविक जीवन स्थिति में एक दूसरा अध्ययन दस-से-पंद्रह साल के मध्यवर्गीय बच्चों के साथ ब्राज़ील के एक कस्बे में किया। उन्होंने छात्रों से अपने हरेक सहपाठी का, वे कितने मददगार तथा उदार हैं इसके आधार पर, मूल्यांकन करने को कहा। तब उन्होंने इन सूचनाओं को संकलित कर, नैतिक विवेचना की क्षमता की एक परीक्षा से उसके सह-संबंध को देखा। इस परीक्षा में नीचे दी गई कहानी जैसी कई कहानियाँ थीं।

'एक दिन मेरी अपने एक दोस्त की दावत में जा रही थी। रास्ते में उसे एक लड़की मिली जो गिर पड़ी थी और उसके पाँव में चोट लग गई थी। उस लड़की ने मेरी से कहा कि वह उसके घर जाकर उसके माता-पिता को बुला लाए ताकि वे उसे डॉक्टर के पास ले जा सकें। परन्तु अगर मेरी उसके घर जाकर उसके माता-पिता को बुलाती है, तो उसे दावत में पहुँचने में देर हो जाएगी और वह अपने दोस्तों के साथ मौज-मस्ती और सामाजिक गतिविधियों से वंचित हो जाएगी'।

छात्रों से कहा गया कि वे मेरी को उस लड़की की मदद करनी चाहिए या नहीं, के विभिन्न कारणों का मूल्यांकन करें, जो नैतिक चिंतन के अलग-अलग तरीकों को परिलक्षित करते हैं। उदाहरण के लिए :

- यह इस बात पर निर्भर करता है कि मेरी दावत में कितनी मौज-मस्ती की उम्मीद रखती है (**भोगवादी** कारण)।
- यह इस बात कर निर्भर करता है कि उस लड़की को दरअसल मदद की ज़रूरत है या नहीं (**आवश्यकता-अभिमुख कारण**)।
- यह इस बात पर निर्भर करता है कि मेरी के माता-पिता और दोस्त इस काम को

सही या गलत काम मानेंगे (**अनुमोदन अभिमुख** कारण)।

- यह इस बात पर निर्भर करता है कि मेरी इसे उचित काम मानती है (**रूढ़िबद्ध कारण**)।
- यह इस बात पर निर्भर करता है कि मेरी को मदद करने या नहीं करने पर स्वयं अपने बारे में कैसा लगेगा (**आत्मसात कारण**)।

शोधकर्ताओं ने पाया कि जिन छात्रों ने भोगवादी या अनुमोदन अभिमुख कारण चुने थे उनको, उनके सहपाठियों ने कम मददगार तथा उदार आँका। आयु भी एक घटक के रूप में उभरा, इस अर्थ में कि अधिक बड़े बच्चों ने अक्सर अधिक अमूर्त तथा आत्मसात किए गए कारणों को चुना, और जिन्होंने ऐसे कारणों को चुना वे अधिक मददगार भी थे। अतः बच्चों ने जिस प्रकार की विवेचना का उपयोग किया उसका संबंध अपने हमउम्र साथियों के साथ उनके आचरण से भी था। परन्तु यह सह-संबंध हमेशा बिल्कुल शुद्ध नहीं था; उसमें अपवाद भी थे।

व्यक्ति को क्या 'करना चाहिए' तथा व्यक्ति अंततः क्या करता है इसके बीच के अंतर को इलियट ट्यूरिअल ने प्राथमिक शाला के बच्चों के साथ किए गए एक अध्ययन में बेहद खूबसूरती से पकड़ा है। इन बच्चों को बताया गया कि एक लड़के को उसके दोस्तों ने ललकारा है कि वह या तो स्कूल में रात के कपड़े पहन कर आए, या फिर किसी का रबर चुराए, या फिर अपने किसी सहपाठी को चाँटा लगाए। तब बच्चों से पूछा गया : उसे क्या करना चाहिए ? और वह क्या करेगा ? बच्चों को लगा कि उसे प्रथा उल्लंघन को चुनना चाहिए (पजामा पहने स्कूल आना चाहिए), क्योंकि ऐसा करने पर आप किसी दूसरे को चोट नहीं पहुँचाते। पर जब उन्हें लड़का तीनों में से क्या करेगा, चुनने को बाध्य किया गया तो अधिकांश बच्चों ने कहा कि वह सामाजिक निंदा के भय से प्रथागत उल्लंघन के बदले गौण (रबर चुराना) या बड़ा (किसी को मारना) नैतिक उल्लंघन करेगा। लड़के को क्या *करना चाहिए,* पर वह दरअसल *क्या करेगा* के बीच जो अंतर होता है वह छह साल के छोटे बच्चों को भी साफ-साफ मालूम था।

जैसा बीयर तथा इज़र्ड कहते हैं कि बच्चा जिसे ज़िम्मेदार आचरण के रूप में 'जानता' है, और जो वह अंततः करता है, उसके बीच की असंगतता को समझाने के लिए वह अक्सर बहाने गढ़ लेता है : 'मैंने उतनी नकल नहीं की जितनी दूसरों ने', 'मैं तो बस खेल कर रहा था', 'उसे पैसे यों बाहर छोड़ने ही नहीं चाहिए थे', और वह प्रसिद्ध बहाना 'शुरुआत उसने ही की थी!', दूसरी ओर कुछ सशक्त भावनाएँ इस अंतर को पाट भी सकती हैं। कई बच्चे ज़िम्मेदार आचरण के विषय में निर्णय लेने के संबंध में अपराधबोध, शर्म या गर्व महसूस करने की बात बताते हैं (उदहारण 'अगर मैं उसकी मदद न करता, तो खुद के साथ जी ही नहीं पाता')।

निष्कर्ष

हालाँकि हम चाहते हैं कि हमारे छात्र 'सही' सिद्धान्तों को आत्मसात करें, परन्तु अगर हममें ज़रा-सी भी विनम्रता है, तो हम यह भी चाहते हैं कि वे हमारे मूल्यों के परे जाएँ और स्वयं अपना नैतिक बोध विकसित करें। इसे हासिल करने का एक तरीका है छात्रों तथा शिक्षकों के बीच विश्वास और स्नेह के वातावरण में नियमित और खुले संवाद के लिए समय निकालना। बेशक, इसका भी कुछ निश्चित असर होगा ऐसा आश्वासन नहीं है! फिर भी यह सही लगता है कि बच्चों को वयस्कों को चुनौती देने और पलट कर स्वयं चुनौती पाने का अवसर मिले। अधिकांश स्कूलों का वातावरण इसे असंभव नहीं, तो कम से कम कठिन अवश्य बनाता है।

कई स्कूलों के वातावरण की दूसरी समस्या यह है कि वे बच्चों को जैसा नैतिक आचरण वे सिद्धान्ततः चाहते हैं वैसा करने से सक्रिय रूप से हतोत्साहित भी करते हैं। इसके कई उदाहरण हैं : जब कोई छात्र किसी दूसरे छात्र की गृहकार्य करने में या (और भी बुरी स्थिति) परीक्षा के दौरान मदद करता है तो इसे नकल या बेईमानी कहा जाता है। अगर कोई छात्रा अपने दोस्त से अधिक अंक पाती है तो उसमें दुख नहीं, विजय का भाव उचित माना जाता है। स्कूल में एक छात्र की सफलता दूसरे की कीमत पर होती है, पर इस उपलब्धि की सभी तारीफ करते हैं। हम बच्चों द्वारा नैतिक मूल्यों को आत्मसात करने पर इन व्यवस्थागत अभ्यासों के सशक्त प्रभावों से कमोबेश अनभिज्ञ रहते हैं। डेमौन के दस वर्षीय बच्चों की बात सोचें। इन बच्चों की अपनी चर्चाओं में निष्कर्ष यह निकला था कि समूह के जिन छोटे सदस्यों ने उतना उत्पादन तो नहीं किया जितना बड़े सदस्यों ने, पर क्योंकि उन्होंने 'अपनी ओर से श्रेष्ठतम' किया था, उसे भी उतनी ही मीठी गोलियाँ मिलनी चाहिए थीं, जितनी बाकी को। परन्तु जब हम वयस्क 'मीठी गोलियाँ' बाँटते हैं, तो हम इस सिद्धान्त को तोड़ते हैं! अपने स्कूलों और कक्षाओं में हम अमूमन *प्रयास* के बदले *क्षमता* को पुरस्कृत करते हैं। और स्कूल के बाहर की अधिकांश प्रणालियाँ भी ठीक इसी तरह काम करती हैं। अगर हम मानते हैं कि इन गहरे पैठे अभ्यासों पर सवाल उठाना ज़रूरी है, तो फिर से लगता यही है कि हमें इन मुद्दों पर अपने छात्रों के साथ खुला संवाद करना होगा। ऐसे में हम शिक्षकों के रूप में उन्हें अपने नियम नहीं दे रहे होंगे; बल्कि हम मानव जीवन की जटिलताओं को इस उम्मीद में साझा कर रहे होंगे कि वे वास्तव में हम से परे जा सकेंगे।

संदर्भ तथा पुस्तक सूची

1. आरसेनियो डब्ल्यू. एफ., 2001। 'मॉरल एज्युकेशन एण्ड डोमेन्स इन द क्लासरूम'। *स्कूल साइकॉलजी क्वार्टरली,* खण्ड-17, संख्या-1, 100-07
2. आरसेनियो, डब्ल्यू.एफ., तथा जे.गोल्ड, 2006। 'द इफेक्टस ऑव सोश्यल इनजस्टिस एण्ड

इन्इक्वॉलिटी ऑन चिल्ड्रन्स मॉरल जजमेन्ट्स् एण्ड बिहेवियर'। *कॉग्नेटिव डेवलपमेंट,* 21, 388-400.

3. बीयर, जी.जी., एम.ए.मैनिंग, तथा सी.ई.इज़र्ड, 2003। 'रिस्पॉन्सिबल बिहेवियर : द इम्पॉर्टेन्स ऑव सोश्यल कॉग्निशन एण्ड इमोशन'। *स्कूल साइकॉलजी क्वार्टरली,* खण्ड-18, संख्या-2, 140-57
4. कार्लो. जी., एस.एच. कोलर, एन.आइज़नबर्ग, एम.एस.दा सिल्वा, तथा सी.बी. फ्रोहलिक, 1996। 'अ क्रॉस-नैशनल स्टडी ऑन द रिलेशन्स अमंग प्रोसश्यल मॉरल रीज़निंग, जेंडर रोल ओरिएन्टेशन्स एण्ड प्रोसोश्यल बिहेवियर्स'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-32, संख्या-2, 231-40
5. कोल्स, आर., 1986। *'द मॉरल लाइफ ऑव चिल्ड्रन'।* ह्यूटन मिफिलिन कंपनी।
6. डैमन, डब्ल्यू., 1975। 'अर्ली कन्सैप्शन्स ऑव पॉजिटिव जस्टिस एज़ रिलेटेड टू द डेवलपमेंट ऑव लॉजिकल ऑपरेशन्स्'। *चाइल्ड डेवलपमेंट,* 46 : 301-12
7. आइसनबर्ग-बर्ग, एन., तथा ई. गाइशेकर, 1979। 'कन्टेन ऑव प्रीचिंग्स एण्ड पावर ऑव द मॉडल/प्रीचर : द इफेक्ट ऑन चिल्ड्रन्स जेनेरॉसिटी'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-15, संख्या-2, 167-75
8. आइसनबर्ग, एन., आर.शैल., जे. पास्टरनैक, आर.लैनॉन, आर. बैलर, तथा आर.एम.मैथी, 1987। 'प्रोसोश्यल डेवलपमेंट इन मिडिल चाइल्हुड : अ लॉन्गिट्यूडिनल स्टडी'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-23, संख्या-5, 712-18
9. गिब्स्, जे.सी., तथा एस.वी. श्नैल, 1985। 'मॉरल डेवलपमेंट वर्सेस सोश्यलाइज़ेशन : अ क्रिटीक'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-40, संख्या-10, 1071-80
10. ग्रूसेक, जे.ई., तथा जे.जे. गुडनाउ, 1994। 'इम्पैक्ट ऑव पेरेन्टल डिसिप्लिन मैथेडस् ऑन द चाइल्डस् इन्टरनलाइज़ेशन ऑव वैल्यूस : अ रीकन्सेप्च्युअलाइज़ेशन ऑव करेंट पॉइन्टस् आव व्यू'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-30, संख्या-1, 4-19
11. कोचन्स्का, जी., 1994। 'बियॉन्ड कॉग्निशनः एक्सपैन्डिंग द सर्च फॉर द अर्ली रूटस् ऑव इन्टरनलाइज़ेशन एण्ड कॉन्श्यन्स'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-30, संख्या-1, 20-22
12. श्वेडर, आर.ए., एम.माहापात्रा, तथा जे.जी. मिलर, 1987। 'कल्चर एण्ड मॉरल डेवलपमेंट'। जो कैगन, जे., तथा एस.लेम्ब (संपादित), *द एमरजेन्स ऑव मॉरैलिटी इन यंग चिल्ड्रन,* में शामिल है, युनिवर्सिटी ऑव शिकागो प्रेस : शिकागो।
13. स्नेरी., जे.आर., 1985। 'क्रॉस कल्चरल युनिवर्सेलिटी ऑव सोश्यल-मॉरल डेवलपमेंट : अ क्रिटिकल रिव्यू ऑव कोलबर्गियन रिसर्च'। *साइकॉलोजिकल बुलेटिन,* खण्ड-97, संख्या-2, 202-32
14. टिसैक., एम.एस., तथा ई. ट्यूरिअल, 1988। 'वेरिएशन इन सीरियसनैस ऑव ट्रांसग्रैशन्स एण्ड चिल्ड्रन्स् मॉरल एण्ड कन्वैन्शनल कॉन्सेप्टस्'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-24, संख्या-3, 352-57
15. वासुदेव, जे., तथा आर.सी. हमल, 1987। 'मॉरल स्टेज सीक्वेन्स एण्ड प्रिन्सिपल्ड रीज़निंग इन एन इन्डियन सैम्पल' *ह्यूमन डेवलपमेंट,* 30, 105-18
16. ज़ाह्न-वैक्सलर, सी., एम राडके-यैरो, इ.वैगनर तथा एम. चैपमैन, 1992। 'डेवलपमेंट ऑव कन्सर्न फॉर अदर्स'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-28, संख्या-1, 126-36

❑❑❑

अध्याय सात

बुद्धिमत्ता

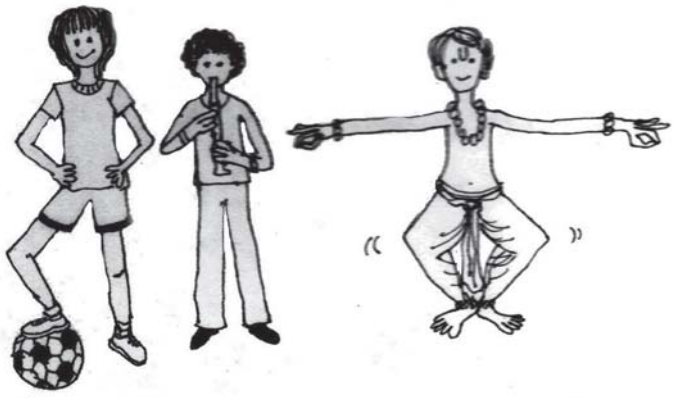

मनोविज्ञान की कई किताबों में बुद्धि का अध्याय इस सवाल के साथ शुरू होता है : 'बुद्धिमत्ता क्या है ?' और पाठकों को प्रोत्साहित किया जाता है कि वे अपनी परिभाषाएँ दें। पर जब मैं इसे पढ़ाती हूँ तो मैं अपने छात्रों से एक दूसरा ही अभ्यास करने को कहती हूँ, जो आपको भी शिक्षाप्रद व रोचक लग सकता है। पाँच ऐसे प्रश्न या काम लिखें जो किसी आयु समूह की 'बुद्धिमत्ता' (आप जिसे भी बुद्धिमत्ता मानते हों) को नापते हों। उदाहरण के लिए, आप चाहें तो छह वर्षीय, या फिर तेरह वर्षीय बच्चों को चुन सकते हैं।

ऐसी नन्ही (मिनी) बुद्धिमत्ता परीक्षा की रचना अमूमन कुछ बेहद महत्त्वपूर्ण तथा सार्थक प्रश्न उभारती है, और इस अभ्यास के दौरान आप उनका सामना कर सकते हैं।

क्या मैं यह मानकर चलूँ कि :

- सभी बच्चे भारतीय हैं ?
- सभी मध्यमवर्गीय हैं ?

- सभी स्कूल जाते हैं और पढ़ना व लिखना जानते हैं ?
- इस परीक्षा को, मैं ज्ञान के बजाए क्षमता परिलक्षित करने वाली कैसे बनाऊँ ?
- क्या मेरी परीक्षा इतनी कठिन होना चाहिए कि बहुत कम बच्चे उसके सही उत्तर दे पाएँ ? या वह इतनी सरल कि बहुत कम बच्चे उत्तर देने में *अक्षम* हों?
- बुद्धिमत्ता जो यथासंभव व्यापक अर्थ में व्यक्ति जिस तरह अपना जीवन जीता है तथा अपने वातावरण से जिस प्रकार अनुकूलित होता है, उसमें अभिव्यक्त होती है, उसे एक बार ली जाने वाली कोई परीक्षा भला कैसे नाप सकती है?

जब मनोवैज्ञानिक बुद्धिमत्ता नापते हैं तो उन्हें जिन मुद्दों का सामना करना पड़ता है, ये प्रश्न उस विषय में हमें सब कुछ बताते हैं। जो बात बुद्धिमत्ता जैसी सार्विक वस्तु हो, उसे मापने की परीक्षा को ऐसा होना चाहिए, जो किसी भी संस्कृति पर लागू की जा सके, जो समाज के किसी भी तबके से भेदभाव न करे, और जो साक्षरता पर निर्भर न हो। इन सभी शर्तों को पूरा करने वाली परीक्षाओं को बनाना बेहद कठिन है। और अगर हम यह मानते हैं कि बुद्धिमत्ता अनुभव नहीं बल्कि क्षमता का मसला है, तो हम जल्दी ही कुण्ठित हो जाएँगे। क्योंकि ऐसी परीक्षा की रचना लगभग असंभव ही है जो अनुभव से पूरी तरह मुक्त हो। अधिकतर प्रश्न अंततः ज्ञान अथवा सीखे गए कौशल की परीक्षा में तब्दील हो जाते हैं। परीक्षा में जो कठिनाई के स्तर होते हैं, वे बुद्धिमत्ता परीक्षा के विषय में हमारी अपनी विचारधारा तथा हमारे उद्देश्यों को परिलक्षित करते हैं -- अगर हम ऐसे छात्रों को पहचान करना चाहें, जिन्हें कुछ विशेष समस्याएँ हों, तो हम आसान सवाल पूछेंगे, पर अगर हम यह मानते हों कि बुद्धि ऐसी चीज़ होती है, जो केवल कुछ ही लोगों के पास होती है, तो कम कठिन सवाल पूछेंगे। और अंततः यह भी संभव है कि जो बात वातावरण की माँगों से हम जिस प्रकार अनुकूलित होते हैं केवल उसके द्वारा ही अभिव्यक्त होती हो, न कि हम दिए गए प्रश्नों का उत्तर जिस प्रकार देते हैं उससे, तो हम उसे नापने के विचार तक का विरोध कर सकते हैं।

इन तमाम कारणों से बुद्धि-परीक्षण का विषय मनोवैज्ञानिक शोध का सबसे विवादास्पद तथा रोचक क्षेत्र रहा है। 1994 में '*द बैल कर्व*' नामक पुस्तक जन-सामान्य के लिए प्रकाशित हुई थी। इसमें बुद्धिमत्ता संबंधी कई दावे किए गए थे, जो सामान्य आबादी में बुद्धि लब्धि (इन्टेलिजेन्स क्वोश्न्ट अथवा आई.क्यू.) के वितरण से संबंधित थे। यह वितरण घण्टी के आकार का है, जिसमें अधिकांश लोग औसत अंक तथा कम से कमतर लोग दोनों सिरों पर अंक पाते हैं। यह वक्र (बैल कर्व) इन्सानों में पाए जाने वाले कई परिवर्तनशील घटकों के लिए एक सामान्य व आपत्तिहीन जीवन तथ्य है (उदाहरण के लिए वयस्क होने पर व्यक्ति का कद)। परन्तु इस पुस्तक पर कई लोगों को आपत्ति हुई, क्योंकि पुस्तक ने यह दावा तक किया कि गरीबी का स्पष्टीकरण वातावरण संबंधी घटक

में उतना नहीं मिलता जितना व्यक्ति की बुद्धि लब्धि (आई.क्यू.) में। आपको शायद यह जानकर आश्चर्य हो कि पुस्तक प्रकाशन के फॉरन बाद मीडिया तथा कई अग्रणी वैज्ञानिकों ने उसे चीर-फाड़कर रख दिया। उदाहरण के लिए लेखक तथा वैज्ञानिक स्टीफन जे.गोउल्ड ने लिखा, 'कई पाठकों के लिए द *बैल कर्व* के ग्राफ तथा तालिकाएँ उनकी गहन आशंका की पुष्टि करते हैं : कुशलक्षेम, गरीबी तथा निम्नवर्ग, न्याय के नहीं बल्कि जीवविज्ञान के मसले हैं।' पुस्तक की अधिकतर आलोचना इस बात पर आधारित थी कि अगर गरीबी तथा बुद्धिमत्ता में सह-संबंध है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि उनके बीच कार्य-कारण का संबंध भी है। अर्थात् अगर हम सामाजिक वर्ग तथा बुद्धि लब्धि के अंकों के बीच सह-संबंध पाते हैं, तो यह तथ्य हमें यह नहीं कहता कि गरीबी का कारण बुद्धि है। बेशक यह तथ्य हमें यह भी नहीं कहता कि गरीबी के कारण बुद्धि-लब्धि कम हो जाती है। परन्तु आलोचकों ने निम्नोक्त बिन्दुओं को स्पष्ट किया :

- बुद्धि लब्धि परीक्षाएँ संभवतः वह नहीं मापतीं जिसे अधिकांश लोग बुद्धिमत्ता मानते हैं;
- जीवन में सफल होने के लिए जिन खासियतों की दरअसल जरूरत होती है, बुद्धि लब्धि परीक्षाएँ, उनमें से केवल एक छोटे से हिस्से को ही नापती हैं;
- बुद्धि लब्धि परीक्षा के प्राप्ताकों में जो अंतर होते हैं उसे गुणसूत्र (जीन्स) तथा वातावरण *दोनों* प्रभावित करते है;
- गरीब बच्चे वंचित परिवेशों में बढ़ते हैं, जिसके कारण बुद्धि लब्धि परीक्षा में कम अंक मिल सकते हैं।

यह विवाद ठंडा भी न पड़ा था, कि दिसंबर, 1994 में द *वॉल स्ट्रीट जर्नल* ने 52 प्रमुख वैज्ञानिकों द्वारा हस्ताक्षरित एक आलेख प्रकाशित किया। आलेख ने प्रयत्न किया कि बुद्धिमत्ता संबंधी शोध की वैज्ञानिक स्थिति के बारे में वह 'सही सूचनाएँ' दे। कई अन्य बिन्दुओं के साथ आलेख ने स्पष्ट कहा कि :

- बुद्धि लब्धि परीक्षाएँ वह मापती हैं जिसे अधिकांश लोग बुद्धिमत्ता मानते हैं;
- बुद्धि लब्धि परीक्षाएँ जो मापती हैं, उसका 'भारी व्यवहारिक तथा सामाजिक महत्त्व होता है';[1]
- लोगों में बुद्धि लब्धि संबंधी अंतर पैदा करने में वातावरण की तुलना में आनुवांशिकता की *बराबर या फिर अधिक बड़ी* भूमिका होती है;

1. यह कथन पाश्चात्य समाज के संदर्भ में था, और आलेख में संयुक्त राज्य अमेरीका से बाहर के देशों तथा संस्कृतियों के बारे में कोई दावे नहीं किए गए थे।

- हम अब तक यह नहीं जानते कि वातावरण को किस प्रकार बदला जाए, जिससे बुद्धि लब्धि के स्तर को स्थाई रूप से ऊपर उठाया जा सके।

आलेख की लेखिका, लिंडा गॉटफ्रेडसन ने बुद्धि शोध के 100 विशेषज्ञों से संपर्क कियाः उनमें से 52 ने हस्ताक्षर किए और 48 ने ऐसा करने से मना कर दिया। ऊपर जैसा वक्तव्य दिया गया है, उसकी पुष्टि न करने के किसी वैज्ञानिक के भला क्या कारण हो सकते हैं? एक कारण तो बुद्धिमत्ता की प्रकृति तथा उसके मापन को लेकर वास्तविक असहमति ही है। दूसरा यह भी हो सकता है कि आलेख में विचारों का अंतरिम या अस्थाई न होने को लेकर उत्पन्न हुई असहजता। परन्तु एक सशक्त कारण का संबंध विज्ञान से नहीं बल्कि नैतिक सिद्धान्त से है। क्या बुद्धिमत्ता को लेकर ऐसे दावे करना ज़िम्मेदाराना आचरण है, जो समाज के बड़े तबकों के साथ और अधिक भेदभाव की ओर ले जाएँ, और उन्हें जीवन में सफल हो पाने के न्यायोचित अवसर तक न मिलें ?

यह सच है कि *द बैल कर्व* में जिस तरह के विचार व्यक्त किए गए हैं, वैसे विचार सुजननविज्ञान (यूजैनिक्स्) जैसे सामाजिक आंदोलनों के लिए इंधन का-सा काम करते हैं। सुजनन आंदोलन, जो सौ साल से भी अधिक पुराना है, मानव प्रजनन को इस प्रकार नियंत्रित करना चाहता है कि आबादी की औसत बुद्धिमत्ता 'सुधारी' जा सके। उनकी नीतियों में उन लोगों की जबरन नसबंदी भी शामिल है जिनके गुणसूत्रों में बुद्धि लब्धि कमतर होने की आशंका हो, जबकि दूसरों को अधिक बच्चे पैदा करने को प्रोत्साहित किया जाए। सुनने में यह बात बेहद बर्बर तथा सीधे अंध युग से निकली लगती है, परन्तु दुर्भाग्य से ये विचार आज भी जीवित हैं। स्वाभाविक ही है कि सुजननवादी ऐसे सभी सबूतों का स्वागत करेंगे जो उनके स्वप्न को वैज्ञानिक आधार देते हैं। इसमें बुद्धि लब्धि की आनुवांशिक प्रकृति तथा इसके द्वारा जीवन में सफलता का निर्धारित होना शामिल हैं। सुजनन का वैज्ञानिक आधार अगर सच भी हो तो भी मुझे शंका है कि उच्च बुद्धि लब्धि वाले लोगों से बसी दुनिया अधिक न्यायोचित तथा करुणामय दुनिया होगी। बहरहाल ये प्रश्न अब तक सुलझ नहीं पाए हैं, न ही वे सुझल पाने के संकेत दर्शा रहे हैं।

यह रोचक है कि भारत में इन मुद्दों पर खास विवाद नहीं हुआ। संभवतः ऐसा इसलिए है कि हमें यह साफ नज़र आता है कि गरीबी का निहितार्थ है अवसरों की भारी कमी। बुद्धि लब्धि के निम्न प्राप्तांक गरीबी का कारण हैं, इस कथन की कोई भी जाँच केवल तब की जा सकती है जब हम पहले सबको समान अवसर उपलब्ध करवा दें (उदाहरण के लिए प्रसव पूर्व देखभाल तथा शाला की गुणवत्ता)। ज़ाहिर है कि हम इस स्थिति से बहुत दूर हैं। बेशक इससे यह नकारा नहीं जा सकता कि भारत में कई लोगों के मन में निचले वर्गों के लोगों के बारे में संभवतः अचेतन रूप से, पर गहरी पैठी छवियाँ मौजूद हैं। उदाहरण के लिए गरीब बच्चों को पढ़ाने वाले शिक्षक उनसे अकादमिक उम्मीदें भी

कम रखते हैं। और यह भी संभव है कि इन शिक्षकों को यह अहसास भी न हुआ हो कि इन निम्न अपेक्षाओं के क्या कारण हैं, न उन्होंने कभी उन्हें जाँचा ही होगा। जिस प्रकार के वक्तव्य *द बैल कर्व* में दिए गए, वैसे मुख्यधारा में बिरले ही नज़र आते हैं।

परन्तु हमें इन बहसों के प्रति सचेत होना चाहिए क्योंकि संभव है कि कुछ ही समय बाद वे यहाँ भी छिडें। वैसे भी बुद्धि लब्धि परीक्षा का भारत में अब अधिकाधिक उपयोग बुद्धिमत्ता नापने के 'सीधे-सरल' उपाय के रूप में लोकप्रिय होने लगा है। यह सच है कि बुद्धि लब्धि परीक्षा के कुछ उपयोग रक्षणीय हो सकते हैं। परन्तु कई माता-पिता और शिक्षक 'बुद्धि लब्धि प्राप्तांकों को बुद्धिमत्ता के बराबर' ही मान लेते हैं। यह मान्यता और इससे निकलने वाले परिणामों के स्थान पर अधिक अस्थाई तथा सूक्ष्म समीकरणों को रखा जा सकता है, और रखा जाना भी चाहिए। अगले दो भागों में हम बुद्धिमत्ता की परिभाषा तथा उसके नाप को अलग-अलग देखेंगे, हालाँकि इन दोनों का नज़दीकी रिश्ता है। साथ ही मैं उस दौरान बुद्धिमत्ता के कुछ गंभीर वैकल्पिक दृष्टिकोणों का वर्णन भी करूँगी।

बॉक्स-1

बुद्धि लब्धि परीक्षा

केवल कोई लाइसेंसशुदा व्यक्ति (उदाहरण के लिए कोई मनोचिकित्सक या स्कूल मनोवैज्ञानिक) को ही एक औपचारिक बुद्धि लब्धि परीक्षा रखने या देने की छूट है। कई गैर-पेशेवर लोग भी अपनी निजी परीक्षाएँ बना कर इन्टरनेट पर उन्हें 'प्रकाशित' करते हैं, पर इनका मूल्य मनोरंजन करने तक सीमित होता है। जन-सामान्य बुद्धि लब्धि परीक्षाओं के प्रति काफी आकर्षित रहता है। मुझे लगता है कि ऐसा इसलिए होता है कि हमें मापे और वर्णित किए जाने से प्यार है! परन्तु एक छोटे बच्चे और उसके माता-पिता के लिए इस परीक्षा में महज मनोरंजन से कहीं अधिक दाँव पर लगा होता है। भारत में मनोवैज्ञानिक उनके पास प्रेषित किए गए ऐसे बच्चों की बुद्धि लब्धि परीक्षाएँ लेते हैं, जिनमें सीखने की अक्षमताओं की, अति सक्रियता (हाइपर एक्टिविटि) की, भावनात्मक गड़बड़ी की या ऐसे कुछ की शंका हो जो स्कूली पाठ्यक्रम में उनकी सीधी प्रगति के आड़े आता है।

हम मुख्यतः उन्हीं दो बुद्धि लब्धि परीक्षाओं का उपयोग करते रहे हैं (जिनमें इतने सालों में केवल कुछ ही परिवर्तन किया गया है!) जो लगभग एक शताब्दी से इस्तेमाल में आती रही हैं -- इनमें एक स्टैनफर्ड बिनेट परीक्षा है और दूसरी वैक्सलर परीक्षा। ये स्थापित परीक्षाएँ सुरचित हैं और जब किसी प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिक द्वारा ली जाती हैं तो भरोसेमंद परिणाम देती हैं। इनमें व्यक्ति के प्राप्तांकों की गणना विभिन्न आयु समूहों के बच्चों के औसत प्रदर्शन के आधार पर की जाती है :

बुद्धिलब्धि = मानसिक आयु (मेंटलएज)
(जिन बच्चों को छात्र के समान अंक मिले हों उनकी आयु)
काल क्रमिक आयु (क्रोनोलॉजिकल एज (छात्र की आयु वर्षों में)

100 का प्राप्तांक 'औसत' बुद्धिमत्ता के बराबर माना जाता है, क्योंकि इसका मतलब है कि किसी छात्रा ने अपनी आयु के अन्य बच्चों के समान प्रदर्शन किया है। लगभग दो-तिहाई आबादी को 85 से 115 के बीच अंक मिलते हैं। परंपरागत रूप से 70 से कम अंक पाने वाले को मानसिक रूप से पिछड़ा माना जाता है। ये सारे अंक काफी आश्वस्त करने वाले और सूचना देने वाले लग सकते हैं, पर शिक्षकों के रूप में हमें बुद्धि लब्धि परीक्षा के नतीजों का अर्थ निकालने में सावधानी बरतनी चाहिए। बच्चों के बुद्धि लब्धि प्राप्तांकों के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु ये हैं :

- यह संख्या बच्चे की कोई स्थिर चारित्रिक विशेषता का प्रतिनिधित्व नहीं करती (जैसे कि उसका रक्त समूह या अंगूठे का निशान करता है)।
- यह संख्या निम्नोक्त में से किसी एक या सभी को परिलक्षित कर सकती है : ऐसी बंद समस्याओं (क्लोज़्ड एन्डेड प्राब्लम्स्) को सुलझाने की क्षमता जिनमें मौखिक/तार्किक/स्थानिक तर्क तथा स्मृति की जरूरत पड़ती हो, दो घंटों की परीक्षा में अपना श्रेष्ठतम प्रदर्शन करने की उत्प्रेरणा, परीक्षण की अपरिचित परिस्थिति तथा उसके कारणों से उत्पन्न दुश्चिंता, अनुपालन करने वाला (आज्ञाकारी) व्यक्तित्व।
- माप में कुछ त्रुटि (एरर ऑव मेज़रमेंट) होती है (जैसी सभी नापने वाले यंत्रों में होती है, देखें अध्याय नौ), जिसका अर्थ है कि आपको इन संख्याओं को किसी भी अर्थ में बिल्कुल सही और सटीक नहीं मानना चाहिए।

बुद्धितत्ता की परिभाषा

पिछले हिस्से में *वॉल स्ट्रीट जर्नल* के जिस आलेख का वर्णन किया गया था। उसमें बुद्धिमत्ता का विवरण कुछ यों दिया गया था :

> *'... एक बहुत सामान्य मानसिक क्षमता जो अन्य चीज़ों के साथ तर्क करना, योजना बनाना, समस्याओं को सुलझाना, अमूर्त विचार करना, जटिल विचारों को समझना, जल्दी सीखना और अनुभव से सीखना भी शामिल करती है। यह केवल किताबी सीखना नहीं है, जो एक संकीर्ण अकादमिक कौशल हो, या परीक्षा देने में चतुर बनाता हो। बल्कि इसका तात्पर्य हमारे परिवेश की एक अधिक व्यापक व गहन समझ से है -- जो चीजों को 'पकड़ लेने' से, उनका 'अर्थ बूझने' से है या क्या किया जाए उसका 'अंदाज़ लगा लेने' से है।'*

हालाँकि यह 'आधिकारिक' परिभाषा लगभग सबको संतुष्ट करने की हद तक व्यापक लगती है, हमें, शिक्षकों, माता-पिता तथा सामान्य समाज में, बद्धिमत्ता के विषय में प्रचलित दृष्टिकोण को जाँचने की आवश्यकता है, क्योंकि विचार अधिक संकीर्ण होते हैं।

भारत या अन्य स्थानों में भी बुद्धिमत्ता की अवधारणा को लेकर काफी रुचि है। हमारे देश के विज्ञापन सुबह नाश्ते के सिरियलों तथा गरम पेयों के माध्यम से अधिक 'दिमागी शक्ति' का वादा करते हैं! और एक समाज के रूप में हमें जिस किस्म की 'दिमागी शक्ति' की तलाश है, वह काफी संकीर्ण है -- ऐसी शक्ति जो बच्चे को स्कूल के अकादमिक कामों में बढ़िया प्रदर्शन करने दे।

ऐसा नहीं है कि हम किसी दूसरी भी चीज़ को कीमती नहीं मानते -- हमारे श्रेष्ठ खिलाड़ियों, संगीतकारों, नर्तकों, लेखकों व अन्य विशेष प्रतिभाओं वाले लोगों को हम भी पूजते हैं। परन्तु अंतर यह है कि हम इस धारणा को बड़ी आसानी से स्वीकार लेते हैं कि ये प्रतिभाएँ हममें समान रूप से वितरित नहीं होतीं। उदाहरण के लिए एक गैर-संगीतकार या गैर-खिलाड़ी बच्चा अपने या अपने परिवार के लिए कोई समस्या खड़ी नहीं करता। अगर बच्ची गा नहीं सकती या तेज़ नहीं दौड़ सकती तो कोई फर्क नहीं पड़ता है। पर अगर वह स्कूल में अच्छा प्रदर्शन नहीं करती तो उस पर फौरन दबाव डाला जाने लगता है।

क्या आप बुद्धिमत्ता को स्कूल में अच्छा प्रदर्शन करना कह परिभाषित करेंगे ? शायद नहीं; पर हम इन दोनों बातों को अक्सर समतुल्य अवश्य मानते हैं। सच तो यह है कि भारत में हम बुद्धिमत्ता को गणित व विज्ञान में अच्छा होने के समान मानते हैं, न कि भाषा तथा मानविकी में। बुद्धिमत्ता की यह अक्षम्य रूप से संकीर्ण परिभाषा है। हममें से प्रत्येक बुद्धिमत्ता को अपने निजी तरीके से परिभाषित करेगा, पर कुछ बातें जो अधिकांश लोग अपनी परिभाषा में शामिल करेंगे, वे हैं, तार्किक विवेचना, विश्लेषणात्मक चिंतन, तथा रचनात्मक समस्या समाधान। कुछ लोग इसमें स्मृति और सूचना प्रसंस्करण की गति भी जोड़ेंगे! मनोवैज्ञानिक शोध में इसकी परिभाषाएँ अधिक बुनियादी (स्नायुतांत्रिक कुशलता या न्यूरोलॉजिकल एफिशिएन्सी) से लेकर उच्च स्तरीय (चिंतन व विमर्शपूर्ण आत्मनिर्देशन का ज्ञान) तथा उससे भी परे संदर्भ-आश्रित (व्यक्ति की प्रतिभा तथा उसके समाज में जिन प्रतिभाओं को मूल्यवान माना जाता है कि बीच तालमेल बैठाना) तक की मिलती हैं।

बुद्धिमत्ता को परिभाषित करने का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि क्या वह कोई 'एक चीज़' है अथवा 'कई चीजें' हैं। जिन लोगों ने यह दावा किया है कि वह एक चीज़ है, वे उसे 'जी' या जनरल अथवा सामान्य घटक कहते हैं, और उनके निष्कर्ष की पुष्टि बुद्धि लब्धि (आई.क्यू.) परीक्षा में विभिन्न कामों में सह-संबंध दर्शाने वाले आंकड़े करते हैं। तो इसका मतलब यह होता है कि अगर आप किसी एक चीज में अच्छे हैं तो आप सबमें अच्छे होंगे, क्योंकि *जी* ऐसी वस्तु है जो सभी क्षमताओं को प्रभावित करती है, और वह बस आपमें अधिक मात्रा में है। एक प्रारंभिक मनोवैज्ञानिक (चार्ल्स स्पीयरमैन ने 1914 में) *जी* को 'मानसिक ऊर्जा का सामान्य कोष' कहा था। जिन सिद्धान्तों में बुद्धिमत्ता को

स्नायुतांत्रिक कुशलता (न्यूरोलॉजिकल एफिशिएन्सी) के रूप में देखा जाता है (उदाहरण के बतौर, प्रसंस्कृत करने की गति, ऐन्द्रिक विभेदन), वे *जी* घटक का समर्थन करते हैं। इसलिए, क्योंकि उनके अनुसार मस्तिष्क की संरचना (वायरिंग) में ही कुछ ऐसा होता है, जो लोगों को अधिक या कम बुद्धिमत्ता बनाता है।

ज़ाहिर है कि ऐसा घटक व्यक्ति की सभी क्षमताओं को प्रभावित करेगा। परन्तु *जी* की मौजूदगी का सशक्त प्रमाण नहीं है -- बुद्धि लब्धि परीक्षा की विभिन्न उप-परीक्षाओं में लोगों के अंकों में केवल मर्यादित सह-संबंध नज़र आता है। कई लोग बुद्धिमत्ता को **बहुआयामी** (मल्टीडाइमैन्शनल) मानते हैं, जिसके कई भिन्न पक्ष हों, और ये पक्ष परस्पर सह-संबंधित भी न हों। मनोवैज्ञानिक हावर्ड गार्डनर तथा राबर्ट स्टर्नबर्ग इस दूसरे समूह में आते हैं।

'पता है, मेरे पास 2 जीबी रैम है।'

गार्डनर ने संकेत यह किया था कि 'स्कूली किस्म की बुद्धिमत्ता' समाज में अन्य प्रतिभाओं से अधिक कीमती मानी जाती है। किसी एक दक्षता को, जो आबादी में निश्चित रूप से भिन्न-भिन्न मात्रा में मौजूद होती है, अनुपातहीन रूप से अधिक महत्त्व देना अनिवार्य रूप से समस्याएँ पैदा करता है। गार्डनर की स्थिति को समझने के लिए एक ऐसी दुनिया की कल्पना करें जहाँ केवल वे ही लोग जीवन में सफल हो सकते हैं जो खेल-कूद में उम्दा हों। यह हममें से कई लोगों के लिए एक दुखद छवि चित्रित करता है, जो बाल्यावस्था में, उच्च शिक्षा, तथा नौकरी तलाशने के दौरान लगातार संघर्षरत और असफल रहेंगे... और इसके विपरीत हममें से कुछ के लिए सुनहरा भविष्य सुनिश्चित होगा! ठीक इसी तरह की चीज़ें तब भी घटती हैं जब हम स्कूली किस्म की बुद्धिमत्ता को सबसे कीमती बना डालते हैं। इस स्थिति पर अनुक्रिया करते हुए गार्डनर ने बुद्धिमत्ता की

पुनर्परिभाषा की और उसे कई भिन्न किस्मों की बुद्धिमत्ता कहा -- जो एक-दूसरे से ढीले-ढाले रूप के अनुरूप हों, जैसा आप नीचे दी गई क्षमताओं में देखते हैं, जिन्हें हम अन्यथा प्रतिभा कह सकते हैं। गार्डनर के बहु-बुद्धिमत्ता सिद्धान्त के अनुसार हम सबमें विभिन्न किस्म की बुद्धिमत्ताओं के भिन्न-भिन्न स्तर होते हैं -- अतः प्रत्येक व्यक्ति की मज़बूतियों व कमज़ोरियों की अपना निजी 'रूप' (प्रोफाइल) होता है, और शिक्षा को इन सभी को आनुपातिक रूप से पोषित करने की चेष्टा करनी चाहिए।

हावर्ड गार्डनर की सात बुद्धिमत्ताएँ :

1. भाषाई (उदाहरण, तेज़ी से नए अर्थ को पकड़ना)।
2. संगीतिक (उदाहरण, स्वर के प्रति संवेदनशील होना)।
3. तार्किक-गणितीय (उदाहरण, अमूर्त विवेचन)।
4. स्थानिक (उदाहण, देखी हुई वस्तुओं का मानसिक रूपान्तरण)।
5. शारीरिक-गतिविधिक (उदाहरण, ललित या व्यायमी क्रियाएँ)।
6. व्यक्तिगत (उदाहरण, निजी मंशाओं को समझना)।
7. सामाजिक (उदाहरण, दूसरों की भावनाओं को समझना)।

अगर हम चाहें तो, सिद्धान्तः इन बुद्धिमत्ताओं को और भी व्यापक बना सकते हैं। क्योंकि आखिरकार इन प्रारंभिक सात बुद्धिमत्त्साओं के लिए कोई सशक्त जीववैज्ञानिक आधार तो है नहीं।[2] हाल में गार्डनर ने इस सूची में दो और बुद्धिमत्ताओं को जोड़ा है -- प्रकृतिवादी तथा आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता। यह एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु को चित्रित करता है। *संभव है कि*

समायोजक बुद्धिमानी

2. बुद्धिमत्ता के ऐसे भी बहुआयामी सिद्धान्त हैं, जिनका जीववैज्ञानिक आधार होता है, और ये मानसिक मापदण्ड (मैंटल मॉड्यूल) सिद्धान्त हैं। उद्विकासीय मनोवैज्ञानिक लेडा कॉस्मिडेस तथा जॉन टूबी हमें बताते हैं कि मानव ने कई भिन्न-भिन्न मॉड्यूल क्रमिक रूप से विकसित किए जो हमें भाषाएँ सीखने, चेहरे पहचानने, एक-दूसरे की मंशाओं को समझने आदि में सक्षम बनाते हैं। संभव है कि मस्तिष्क का एक अन्य मॉड्यूल हमें नई परिस्थितियों पर सोचने और उनकी विवेचना कर उनसे निपटने में मदद करता हो -- और यह जी घटक का प्रतिनिधित्व कर सकता हो। प्रस्ताव यह है कि इनमें से प्रत्येक मापदण्ड एक भिन्न किस्म की बुद्धिमत्ता है, और एक-दूसरे मनुष्य में इन क्षमताओं में अंतर होता है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि स्नायुविज्ञानी (न्यूरोसाइन्स) शोध ने मस्तिष्क के कुछ विशेष भागों में इन भिन्न-भिन्न मॉड्यूल्स को स्थित किया है, जो सिद्धान्त की कुछ जीववैज्ञानिक पुष्टि करते हैं।

'बुद्धिमत्ता क्या है?' इस प्रश्न का जवाब, एक खोज के बदले एक निर्णय ही हो। और इस अर्थ में बुद्धिमत्ता के किसी सिद्धान्त का मूल्यांकन आचरण के वर्णन में उसकी उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए, ना कि उसकी 'सत्यता' मूल्य के आधार पर। अगर गार्डनर का बहु-बुद्धिमत्ता सिद्धान्त हमें क्षमताओं के विभिन्न क्षेत्रों में बच्चों की भिन्न-भिन्न मज़बूतियों के प्रति अधिक संवेदनशील बनाता है, अगर यह हमें शिक्षा के क्षेत्र को व्यापक बनाने को प्रोत्साहित कर इन क्षेत्रों को शामिल करने देता है, तो मेरी दृष्टि में यह एक अच्छा सिद्धान्त है। बुद्धिमत्ता के अन्य सिद्धान्तों का भी इसी दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया जा सकता है।

रॉबर्ट स्टर्नबर्ग, जो इस क्षेत्र में एक सक्रिय विचारक हैं, एक भिन्न परिभाषा सुझाते हैं। अव्वल तो, वे कहते हैं कि बुद्धिमत्ता ऐसी चीज़ है जो किसी भी संदर्भ में लागू होती है। हम स्कूली प्रदर्शन मात्र को पृथककर, स्कूल को वह स्थान नहीं कह सकते जहाँ बुद्धिमत्ता प्रकट होती हो -- सड़कों या जगलों में बचे रहने वाला व्यक्ति भी अपनी बुद्धि का उपयोग करता है और बुद्धिमान आचरण दर्शाता है। दूसरे, बुद्धिमत्ता वह मानसिक क्षमता है, जिसकी ज़रूरत हमें उस संदर्भ से अनुकूलित होने के लिए अथवा उसे आकार देने के लिए पड़ती है, जिसमें हम स्थित हैं। अतः यह केवल किसी बुद्धि लब्धि परीक्षा में अच्छा प्रदर्शन करने की क्षमता मात्र नहीं है, बल्कि जंगल में अपनी राह तलाश पाने और सड़कों में परेशानियों से एक कदम आगे रह पाने की क्षमता भी है। और तीसरे, वे कहते हैं कि बुद्धिमत्ता उन मानसिक क्षमताओं का प्रतिनिधित्व करती है जो केवल उपयोगी या वांछनीय ही न हों, बल्कि आपके अस्तित्व के लिए भी आवश्यक हों। इस पक्ष से देखें तो गार्डनर की कुछ बुद्धिमत्ताएँ स्टर्नबर्ग के बुद्धिमत्ता के मापदण्डों के अनुरूप नहीं हैं।

स्टर्नबर्ग के त्रिपदिक (ट्राइआर्किक) सिद्धान्त में तीन प्रकार की बुद्धिमत्ताएँ हैं : विश्लेषणात्मक, रचनात्मक तथा व्यावहारिक। स्टर्नबर्ग तथा उनके सहकर्मियों ने भारत, रूस, तान्ज़ानिया तथा संयुक्त राज्य अमरीका जैसे दूर-दराज देशों में शोध की और यह दर्शाया कि हालाँकि ये तीनों बुद्धिमत्ताएँ एक दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी वास्तविक जीवन स्थितियों में सफलता में सहसंबद्ध होती हैं। इन तीनों में पहली, विश्लेषणात्मक बुद्धिमत्ता, ही वह अकेली है जिसे हम सामान्यतः समूची बुद्धिमत्ता मान लेते हैं। यह परिभाषा बेहद संकीर्ण है, और स्टर्नबर्ग का दावा है कि जिन लोगों में विश्लेषणात्मक बुद्धिमत्ता कम हो, पर उच्च स्तर की रचनात्मक तथा/या व्यावहारिक बुद्धिमत्ता हो, वे भी सही वातावरण में उम्दा प्रदर्शन करते हैं। उनका कहना है कि ऐसे लोग अक्सर राह किनारे ही खो जाते हैं क्योंकि उन्होंने विश्लेषणात्मक मापकों में अच्छा प्रदर्शन नहीं किया होता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि स्कूलों में हम विश्लेषणात्मक बुद्धिमत्ता को ही मूल्यवान मानते हैं।

स्टर्नबर्ग की परीक्षाओं के कुछ उदाहरण यह हैं (मैंने उनमें से कुछ का भारतीय स्थितियों के अनुरूप संशोधन किया है)।

विश्लेषणात्मक बुद्धिमत्ता :

1. शृंखला की अगली संख्या लिखें : -4, -3, -1, 3, 11, 27

2. निम्नोक्त अनुच्छेद में 'जिदें' शब्द का सबसे सही अर्थ चुनें :

'कोई भी धंधा जो अपने नियमित ग्राहकों की उपेक्षा करता है ताकि नए जिदों पर ध्यान दे सके, यह पा सकता है कि बिक्री बढ़ी नहीं है। पैदा की गई नई रुचि असंतुष्ट ग्राहकों के कारण बिक्री में आई कमी की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकता, जो अन्य स्थानों पर खरीददारी करने लगे हैं।' जिद का सबसे संभावित अर्थ है :

क) उत्पाद　　ख) ग्राहक

ग) विज्ञापन　　घ) निवेश

रचनात्मक बुद्धिमत्ता

1. एक नई गणितीय संक्रिया है जिसे ग्राफ कहते हैं। इसकी परिभाष इस प्रकार है।

x ग्राफ y = x+y, अगर x > y

परन्तु अन्यथा, x ग्राफ y = - x -y

4 ग्राफ 7 कितना है?

7 ग्राफ 7 कितना है?

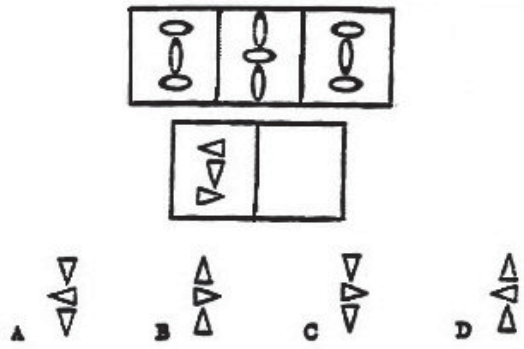

2. पहले क्रम को देखकर दिए गए विकल्पों में से किसी एक को चुन दूसरे क्रम को पूरा करें।

व्यावहारिक बुद्धिमत्ता

1. आपकी सहेली कई सप्ताहों से अपना गृहकार्य नहीं कर रही है, हालाँकि आप उसे समझाती रही हैं कि यह उसके ही फायदे के लिए है। हाल में उसने आखिरी वक्त पर आपके जवाबों की नकल करना शुरू कर दिया है। अगर आप अपनी सहेली की मदद करना चाहती हैं, फिर भी अगर संभव हो तो उसे उसकी शिक्षिका और उसके बेहद सख्त माता-पिता की ओर से किसी परेशानी में भी नहीं डालना चाहतीं, तो सबसे बढ़िया समाधान क्या होगा ?

   क) अपने माता-पिता से सलाह लेना, क्योंकि वे उसके परिवार के दोस्त हैं।

   ख) सहेली को सुझाव देना कि वह शिक्षिका को सब कुछ बताए और उनसे मदद माँगे।

   ग) शिक्षिका को जो कुछ घट रहा है वह बताना, और उनसे अनुरोध करना कि वे आपकी सहेली के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई न करें।

2. नीचे दिए गए नक्शे का उपयोग कर, सवाल का जवाब दें :

आप सेल फोन की दुकान से जूतों की दुकान की ओर पैदल जा रहे हैं। आपका दोस्त जन्मपत्री की दुकान से आइसक्रीम की दुकान की ओर चल रहा है। आप दोनों को ही इनमें से किस स्थान से गुज़रने की संभावना है ?

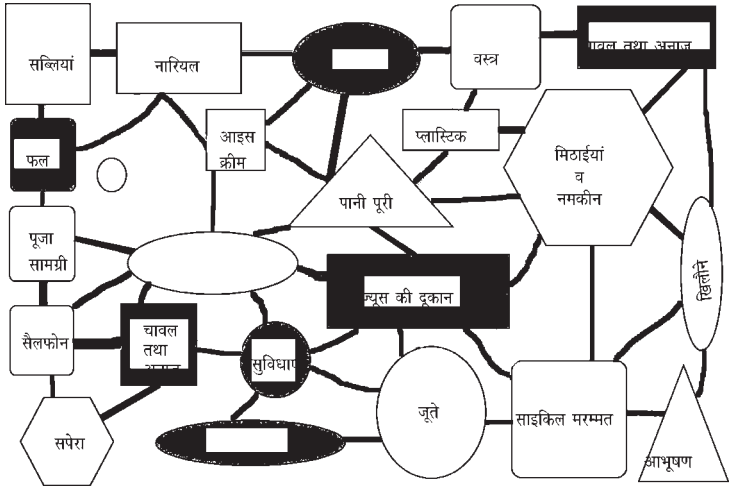

क) चावल व अनाज की दुकान ख) पेशाबघर

ग) सपेरा घ) दालों की दुकान

जीवन के विविध क्षेत्रों के लोगों में व्यावहारिक बुद्धिमत्ता के अनेक रोचक अध्ययनों के उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनमें घोड़ों की दौड़ में की बाज़ी लगाने वालों, तथा विज्ञान के प्रोफेसरों से लेकर, ब्राज़ील की सड़कों पर ठेले लगाने वालों तक का अध्ययन किया गया है। ये सभी अध्ययन दर्शाते हैं कि व्यावहारिक बुद्धिमत्ता अधिकांशतः अकादमिक बुद्धिमत्ता से असंबद्ध है। रॉबर्ट स्टर्नबर्ग एक दूध प्रसंसाधित करने वाले कारखाने के कामगारों पर किए गए अध्ययन के नतीजों का वर्णन करते हैं। 'जो कामगार विभिन्न मात्राओं (उदाहरण के लिए, गैलन, क्वार्ट, पाइन्ट) तथा उत्पादों (उदाहरण के लिए, संपूर्ण दूध, दो प्रतिशत दूध, छाछ) को एक साथ एक डब्बे में इकट्ठा कर जमाते हैं, उन्हें असैम्बलर (इकट्ठा करने वाला) कहा जाता है... अनुभवी असैम्बलर जटिल रणनीतियों का उपयोग कर आंशिक रूप से भरे डब्बों में चीज़ें रखते थे ताकि किसी ऑर्डर विशेष को पूरा करने में उन्हें कम से कम उठाई-धराई करनी पड़े। हालाँकि असैम्बलर उस कारखाने के सबसे कम शिक्षित कामगार थे, वे मन ही मन गणना कर भिन्न आधार संख्या प्रणालियों द्वारा अभिव्यक्त मात्राओं को समझ लेते थे। और वे उन अधिक शिक्षित सफेदपोश कार्यकर्ताओं से हमेशा बेहतर प्रदर्शन करते थे, जो अनुपस्थित असैम्बलर के एवज़ में काम करने आते थे... असैम्बलरों का ऑर्डर भरने का प्रदर्शन स्कूली प्रदर्शन के मानकों से असम्बद्ध था, जिसमें बुद्धिमत्ता परीक्षा के अंक, गणित परीक्षा के अंक तथा दर्जे शामिल होते हैं।'

बॉक्स-2

व्यावहारिक बुद्धिमत्ता, निहित ज्ञान

एक बार एक मनोवैज्ञानिक को मंदबुद्धि बच्चों के स्कूल में बुद्धि लब्धि (आई.क्यू.) परीक्षा लेने के लिए बुलाया गया। जब वे पहुँचे तो उन्होंने पाया कि छात्र स्कूल के कार्यकर्ताओं को चकमा दे, व्यापक सुरक्षा व्यवस्था के बावजूद, भाग चुके थे! जब बच्चों को अंततः इकट्ठा किया गया, मनोवैज्ञानिक ने उन्हें एक भूल-भुलैया परीक्षा (मेज़ टेस्ट) दी, जिसमें कागज़ पर बनी भूल-भुलैया से निकलने का रास्ता पेंसिल से दर्शाना पड़ता है। जो छात्र अपनी निगरानी करने वालों की नज़र से बच निकले थे, उनमें से कोई भी परीक्षा में दी गई भूल-भुलैया से निकलने का रास्ता नहीं तलाश पाया।

यह एक सच्ची कहानी है, और यह दर्शाती है कि जिसे मनोवैज्ञानिक व्यावहारिक बुद्धिमत्ता कहते हैं उसमें तथा परंपरागत कागज़-और-पेंसिल परीक्षा में मेल नहीं है। नीचे दी गई तालिका ऐसी परीक्षाओं और वास्तविक दुनिया की माँगों के बीच अंतर को देर्शाती है।

वास्तविक दुनिया

बुद्धिमत्ता की अकादमिक परीक्षा में ऐसी समस्याएँ होती हैं जिनमें...	वास्तविक दुनिया की व्यावहारिक बुद्धिमत्ता परीक्षाओं में ऐसी समस्याएँ होती हैं जिनमें.
1. सभी आवश्यक जानकारियाँ शुरू से उपलब्ध हों; 2. अमूमन ये समस्याएँ सुपरिभाषित होती हैं; 3. व्यक्तिगत रुचि की नहीं होतीं; 4. रोजमर्रा के अनुभव से कटी हुई होती हैं; 5. जिनका केवल एक ही सही समाधान हो।	1. सभी आवश्यक जानकारियाँ शुरू से मौजूद न हों; 2. समस्याएँ सुपरिभाषित नहीं होतीं; 3. व्यक्तिगत रूप से प्रासंगिक हों; 4. रोजमर्रा के अनुभव से सम्बद्ध होती हैं; 5. जिनके अनेक समाधान हों, और प्रत्येक के फायदे और नुक्सान हों।

स्टर्नबर्ग *सफल* बुद्धिमत्ता की बात भी करते हैं, जो अपनी मज़बूतियों का अधिकतम लाभ उठाने और अपनी कमज़ोरियों की क्षतिपूर्ति करने की क्षमता है। इस दृष्टि से बुद्धिमत्ता वह है जो हमें जीवन में सफल होने में मदद करती है। फिर भी परंपरागत बुद्धि लब्धि परीक्षाएँ जिन क्षमताओं की चर्चा करती हैं -- विश्लेषण, विवेचन, मौखिक क्षमताएँ -- उनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। जैसे स्टर्नबर्ग कहते हैं, मौजूदा परंपरागत परीक्षाओं में व्यावहारिक बुद्धिमत्ता के मापों को *उनके स्थान पर रखने* के बजाए उन्हें *पूरकों के रूप में जोड़ने पर* हम बुद्धिमत्ता का अधिक संपूर्ण हवाला पा सकेंगे, बनिस्बत इनमें से किसी एक द्वारा मापने पर।

गार्डनर तथा स्टर्नबर्ग की बुद्धिमत्ता की परिभाषाएँ मुक्तिदाई हैं। जो स्कूल इस प्रकार की परिभाषाओं को अपनाते हैं, वे अपने पाठ्यक्रम को इस तरह बदलेंगे ताकि व्यावहारिक व रचनात्मक बुद्धिमत्ता के साथ ही विभिन्न क्षमताओं को भी प्रोत्साहित किया जा सके। परन्तु जब तक पूरा समाज बुद्धिमत्ता को लेकर संकीर्ण सोच रखेगा, ऐसे स्कूलों के छात्रों को एक अर्थ में 'लहरों के विपरीत तैरना पड़ेगा' आजकल हमारे समाज में तमाम रोचक, सार्थक व चुनौतीपूर्ण व्यवसायों को बहुत कम सम्मान मिलता है, या बिल्कुल भी सम्मानजनक नहीं माना जाता (इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है अध्यापन!)।

अगर मनोवैज्ञानिक माप की ओर मुड़ने के पहले परिभाषाओं के मुद्दों को सुलझाने का इंतजार करें, तो उन्हें अनंतकाल तक इंतजार करना पड़ेगा। सो गत 100 से भी अधिक वर्षों में इस परिभाषित करने में कठिन गुण को नापने के अनेकों प्रयास हुए हैं। हम अब उनकी ओर मुड़ते हैं।

बुद्धिमत्ता का मापन

ज़ाहिर है कि आप बुद्धिमत्ता को जिस तरह परिभाषित करते हैं वह उसे मापने के तरीके को भी प्रभावित करता है। डार्विन के ममेरे भाई, फ्रांसिस गैल्टन, पिछली शताब्दी के अंत में यह मानते थे कि बुद्धिमत्ता मस्तिष्क का ऐसा गुण है जो विरासत में मिलता है, स्नायविक कुशलता (न्यूरल एफिशिएन्सी) का मसला है, अतः उसे अनुक्रिया करने में लगने वाले समय तथा ऐंद्रिक विभेदन के कार्यों द्वारा नापा जा सकता है। उन्होंने इंग्लैण्ड में आयोजित एक सार्वजनिक मेले में एक दुकान लगा, छोटा-सा शुल्क ले, हज़ारों लोगों की परीक्षा करने का प्रस्ताव रखा। परन्तु दुर्भाग्य से उनके द्वारा एकत्रित आंकड़ों ने दर्शाया कि जिन लोगों ने कम समय में अनुक्रिया की, या जिनमें विभेद कर पाने की शक्ति थी, वे जीवन में सफल लोग नहीं थे। सो, उन्हें यह विचार त्यागना पड़ा। उसके बाद के वर्षों में कई बुद्धि परीक्षाएँ रची गईं जो भिन्न-भिन्न परिभाषाओं पर आधारित थीं। इसके कुछ उदारहण ये हैं :

- जो लोग बुद्धिमत्ता को 'सीखने की क्षमता' के रूप में देखते हैं वे *गत्यात्मक* (डायनैमिक) परीक्षाओं का उपयोग सुझाते हैं। गत्यात्मक परीक्षाएँ परीक्षा को केवल अतीत में सीखे गए का माप नहीं मानी जातीं, बल्कि परीक्षा के दौरान ही सीखने की प्रक्रिया को नापती हैं। अगर आप किसी प्रश्न का सही उत्तर दे देते हैं, तो आप आगे बढ़ जाते हैं; अगर नहीं दे पाते तो आपको निर्देशों समेत पुनर्निवेश (फीडबैक) मिलता है ताकि उत्तर देने में आपको मदद मिले। पुनर्निवेश की मात्रा और उसके प्रकार, तथा साथ ही आपने जो प्रगति की, इन सबको मिलाकर बुद्धिमत्ता मापी जाती है।

- गार्डनर तथा उनके सहकर्मियों ने बुद्धिमत्ता की ऐसी परीक्षाएँ बनाई हैं, जो आचरणों, परियोजनाओं तथा पोर्टफोलियो की अवलोकनात्मक जाँच सूचियों की प्रणाली पर आधारित होती है। उदाहरण के लिए कसरती संचलन (शक्ति, स्फूर्ति, गति तथा संतुलन) का मूल्यांकन गतिसंवेदी (काइनैस्थेटिक) बुद्धिमत्ता के भाग के रूप में किया जाता है। ये परीक्षाएँ अब तक न तो स्तरीकृत हैं, न ही व्यापक स्तर पर उपलब्ध।

- स्टर्नबर्ग की त्रिपदिक (ट्राइआर्किक) क्षमता परीक्षा भी है जो विश्लेषणात्मक, रचनात्मक तथा व्यावहारिक बुद्धिमत्ता को बहु-विकल्प व आलेखात्मक प्रश्नों से जाँचता है (इसके उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं)। इस परीक्षा के विभिन्न संस्कृतियों में अच्छे नतीजे मिले हैं, परन्तु अब तक इसका व्यापक उपयोग नहीं हुआ है।

- तमाम सिद्धान्तों तथा परीक्षाओं के बावजूद बुद्धिमत्ता को जाँचने के लिए जिस परीक्षा का आमतौर पर उपयोग किया जाता है, वह है बुद्धि लब्धि (आई.क्यू.) परीक्षा और ऐसा सौ वर्षों से भी अधिक समय से होता रहा है। सबसे अधिक उपयोग दो बुद्धि लब्धि परीक्षाओं का होता रहा है। ये हैं स्टैनफर्ड-बिनेट परीक्षा तथा वैक्सलर परीक्षा। इनमें कई उप-परीक्षाएँ शामिल होती हैं, जो शब्दावली, स्मृति तथा प्रसंस्करण गति से लेकर तार्किक विवेचना तथा स्थानिक पहेलियों तक की होती हैं। किसी भी बुद्धि लब्धि परीक्षा को ध्यान से देखें (आगे दी गई तालिका को देखें) तो आप यह बता सकेंगे कि उस परीक्षा को बनाने वाला बुद्धिमत्ता को कैसे परिभाषित करता है।

वैक्सलर वयस्क बुद्धिमत्ता पैमाने की उप-परीक्षाएँ

1. सूचना ('भाप किसकी बनी होती है ?')।
2. डिजिट स्पैन या अंक विस्तृति (अल्पकालिक स्मृति)।
3. शब्दावली।
4. गणित।
5. अर्थग्रहण ('बीमा कंपनियाँ लाभ कैसे कमाती हैं?)।
6. समानताएँ ('किताबें तथा टेलिविज़न किस प्रकार समान हैं?)।
7. चित्र पूरा करना।
8. चित्र व्यवस्था (चित्र कार्डों को ऐसे लगाना कि वे एक कहानी कहें)।
9. ब्लॉक डिजाइन (रंगीन ब्लॉक ऐसे लगाना कि कोई नमूना बने)।
10. वस्तुओं को साथ जोड़ना (जिगसॉ पहेलियाँ)।
11. अंक संकेत (तेज़ गति से कूटार्थ प्रतिस्थापन या स्पीडेड कोड सब्स्टिट्यूटशन)।

बुद्धिमत्ता में व्यक्तिगत अंतर

एक ही उम्र के छात्रों की अकादमिक क्षमताओं में व्यक्तिगत अंतर होते हैं। यह वास्तविकता न तो आश्चर्यजनक है, न ही चिंताजनक; प्रत्येक मानवीय लक्षण तथा क्षमता में व्यक्तिगत अंतर मिलता है। विविधता ही प्रकृति का मानक है। परन्तु स्कूल संबंधी क्षमताओं के मामले में, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, विविधता को उतने तथ्यात्मक रूप से नहीं स्वीकारा जाता, जितना कसरती क्षमताओं के मामले में स्वीकार लिया जाता है। समाज तथा परिवार बच्चों पर स्कूली प्रदर्शन के उच्च स्तरों पर खरा उतरने का भारी दबाव डालते हैं, और जो इन स्तरों को पा लेते हैं उन्हें उन बच्चों से अधिक बुद्धिमान भी मानते हैं जो नहीं पा सकते।

दुर्भाग्य से बुद्धिमत्ता क्या है पर सहमति के अभाव के कारण उसे कैसी मापा जाए, पर एकमत होना भी संभव नहीं है। यही कारण है कि इन अंतरों के विषय में दिया गया कोई भी वक्तव्य तत्काल संदिग्ध बन जाता है। ऐतिहासिक रूप से अमरीका में कुछ देशों के

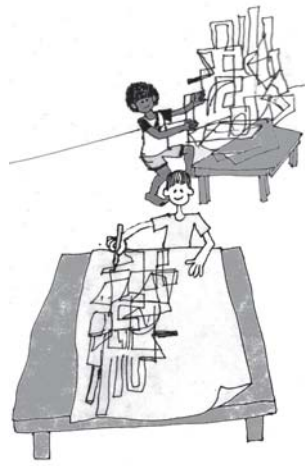

अप्रवासियों को प्रवेश नहीं दिया जाता था, क्योंकि यह माना जाता था कि वे अन्य देशों के अप्रवासियों से कम चतुर हैं। उस समय बुद्धिमत्ता का स्वीकृत माप आज का बुद्धि लब्धि परीक्षा का ही एक स्वरूप था, जिसमें कई ऐसे सवाल शामिल थे जो अमरीकी संस्कृति और जीवन शैली से परिचय पर आश्रित थे। अगर कोई एक नस्ल या प्रजाति समूह इस परीक्षा में किसी दूसरे की तुलना में खराब प्रदर्शन करता था, तो इसके कारण आवश्यक रूप से या केवल बुद्धिमत्ता से संबंधित नहीं थे। बल्कि उनका संबंध, साक्षरता, शिक्षा तथा मुख्यधारा की संस्कृति से परिचय भी हो सकता था। यों लोगों के जीवन के संबंध में महत्त्वपूर्ण निर्णय नितांत गलत आधारों पर लिए गए थे। अगर आप बुद्धिमत्ता को मुख्यधारा की संस्कृति से परिचय कह परिभाषित नहीं करना चाहते, तो ये परीक्षाएँ लोगों में वास्तविक अंतर को माप ही नहीं रही थीं।

हमें पक्की तौर पर यह भरोसा हो ही नहीं सकता कि बुद्धिमत्ता की कोई परीक्षा विशेष किन्हीं भी दो बच्चों के साथ बराबर न्याय करेगी। इसका एक सरल उदाहरण लें, ज़ाम्बिया तथा इंग्लैण्ड के बच्चों को तीन भिन्न माध्यमों द्वारा एक जैसा पैटर्न बनाने को कहा गया -- तार से, मिट्टी से, और कागज़-पेन्सिल की मदद से। ज़ाम्बिया के बच्चों ने तार में बेहतर प्रदर्शन किया, इंग्लैण्ड के बच्चों ने कागज़-पेन्सिल में, और दोनों ही समूहों ने मिट्टी में बराबर प्रदर्शन किया। अगर यही परीक्षा केवल कागज और पेंसिल के माप के रूप में ली जाती तो हम इस गलत निष्कर्ष पर पहुँचते कि 'ज़म्बिया के बच्चे किसी नमूने को जस का तस उतारने में कम सक्षम हैं'।

परीक्षा प्रक्रिया में जो 'अदृश्य' होता है, उस पर हम बिरले ही सवाल उठाते हैं : परीक्षा में काम में ली भाषा का माध्यम, उसमें प्रयुक्त सामग्रियाँ, तथा उसमें निहित मूल्य, उसे पूरा करने में आवश्यक उत्प्रेरण, तथा जाँचकर्ताओं के गुण। ये सभी बातें बच्चे के अंतिम प्राप्तांकों में काफी योगदान करती हैं, पर अमूमन उनकी उपेक्षा की जाती है।

बुद्धि लब्धि के प्राप्तांकों में समय द्वारा पृथक समूहों के लोगों में भी अंतर मिलता है। कुछ वर्षों पहले जेम्स फ्लिन नामक राजनीति वैज्ञानिक ने दुनिया के विभिन्न देशों से यह दर्शाने के लिए प्रमाण एकत्रित किए कि एक ही पीढ़ी के अंतराल में औसत बुद्धि लब्धि प्राप्तांक 5 से 25 बिन्दु तक बढ़ गए थे (1900 के बीच के तकरीबन तीस वर्षों

में)। फ्लिन ने इस महत्त्वपूर्ण खोज के अर्थ पर अटकलें लगाईं। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि बुद्धि लब्धि के प्राप्तांक बुद्धिमत्ता को नहीं नापते, बल्कि किसी दूसरी ही चीज को नापते हैं, जिसका बुद्धि से केवल एक कमज़ोर-सा सह-संबंध है। उनके तर्कों में एक यह भी था कि बुद्धिमत्ता के स्तर में इतना व्यापक तथा अर्थपूर्ण अंतर 'काफी स्पष्ट रूप से दृश्य होना चाहिए....। इसका नतीजा एक ऐसा सांस्कृतिक पुनर्जागरण होना चाहिए, जिसकी अनदेखी न की जा सके... (परन्तु) मौजूदा पीढ़ी के दौरान प्रतिभा में, या गणितीय तथा वैज्ञानिक अन्वेषण में नाटकीय बढ़त का एक भी उल्लेख नहीं है। किसी ने समसामयिक स्कूली बच्चों की श्रेष्ठता पर कोई टिप्पणी नहीं की है।' उदाहरण के लिए फ्रांस में जहाँ बुद्धि लब्धि प्राप्तांक 15 से 20 बिन्दु बढ़ा था, फ्लिन ने पाया कि नए आविष्कारों के लिए दिए गए पेटेंटों की संख्या इन वर्षों में बढ़ने के बदले घटी थी!

ये उदाहरण सुझाते हैं कि फिलहाल बुद्धिमत्ता के स्तरों में विविधता संबंधी सवालों के जवाब देने के लिए हम प्रस्तुत नहीं हैं। बेशक मनोवैज्ञानिक बुद्धि लब्धि परीक्षा के प्राप्तांकों पर प्रकृति तथा परिवेश के सापेक्ष प्रभाव का अध्ययन अवश्य करते हैं, परन्तु जैसा हम देख चुके हैं, ऐसा करने से वे बुद्धिमत्ता दरअसल क्या है, इस प्रश्न का मात्र एक जवाब मानकर चलते हैं। और फिर बुद्धिमत्ता सिखाने का सवाल भी है : क्या उसे सिखाया-पढ़ाया जा सकता है, और अगर हाँ, तो किस हद तक।

संभव है कि इस बिन्दु पर हमें लगने लगे कि हम उस व्यक्ति जैसे हैं जो एक कमज़ोर नींव पर मकान बनाने लगा है, और तिस पर वह उसे तिमंजिला भी बनाना चाहता है। अगर बुद्धिमत्ता की हमारी परिभाषाएँ अनिश्चित हैं, और बुद्धिमत्ता में व्यक्तिगत अंतरों के कारण तथा उनकी प्रकृति भी अनिश्चित है, तो हम बुद्धिमत्ता को बढ़ाने के तरीकों के विषय में निश्चितता के साथ कोई भी वक्तव्य भला कैसे दे सकते हैं?

विवेकपूर्ण आचरण के लिए शिक्षित करना

सीखने संबंधी अध्याय के संदर्भ-आश्रित विवेचना वाले भाग में आपकी मुलाकात मनोवैज्ञानिक डेविड पार्किन्स से हुई थी। बुद्धिमत्ता पर पार्किन्स का नज़रिया इस समझ से आता है कि बुद्धिमान आचरण हमेशा किसी संदर्भ विशेष या ज्ञान के क्षेत्र के संदर्भ में दर्शाया जाता है। उनके तथा कई अन्य मनोवैज्ञानिकों के लिए बुद्धिमत्ता कोई वियुक्त कौशल नहीं है। हम किसी अर्थशास्त्री या सूक्ष्मजीवविज्ञानी को देख, उनके आचरण में बुद्धिमत्ता के कई लक्षणों का अवलोकन कर, बड़ी आसानी से ऐसे लोगों पर 'बुद्धिमान' लोग होने का ठप्पा चस्पां कर सकते हैं। पर शिक्षाविदों के रूप में हमारे लिए उपयोगी होगा कि हम एक विशेषज्ञ तथा एक **बुद्धिमान नौसिखिया** में फर्क कर सकें। जॉन ब्रूएर के अनुसार बुद्धिमान नौसिखिया वह व्यक्ति है जो किसी नई समस्या या जाँच के नए क्षेत्र का सामना करने पर अपने पहले की सीखों को नई परिस्थिति पर लचीले तरीकों से लागू

करता है, साम्य या साधन-साध्य विश्लेषण जैसी सामान्य रणनीति को अपनाता है, और सीखने में स्वयं अपने नज़रिए तथा प्रगति को प्रबोधन करता है। उसमें तीन क्षमताएँ होनी आवश्यक हैं, और ब्रूएर का मानना है कि इन तीनों को शिक्षा से निर्मित किया जा सकता है :

- क्षेत्र-विशिष्ट ज्ञान : कम से कम किसी एक क्षेत्र में अवधारणाात्मक तथा कार्यात्मक ज्ञान का ठोस आधार;
- इन कौशलों को अधिक सामान्य बना पाने की क्षमताः यह समझ कि नई परिस्थितियों में अपने ज्ञान तथा रणनीतियों को कब और कैसे लागू किया जाए -- ब्रूएर के शब्दों में 'उसे विस्तार दे नई समस्याओं के रूप में कैसे रखा और उत्तरित किया जाए';
- अधि-संज्ञानात्मक कौशल (मैटाकॉग्निेटिव स्किल्स) : चिंतन पर विचार करने तथा अपने निजी मानसिक प्रसंस्करण का प्रबोधन व नियंत्रण करने की क्षमता।

विशेषज्ञ तथा बुद्धिमान नौसिखिए में अंतर देखने का एक और तरीका है इस सैद्धान्तिक प्रश्न का उपयोग करना, जिसे पार्किन्स तथा उनके सहयोगी, गैवरिएल सैलॉमॉन, ने 1989 में रखा था। मान लें कि एक छोटा शांतिप्रिय देश अपने आक्रामक पड़ोसी देश की ओर से खतरे का सामना कर रहा है। छोटे देश को युद्ध रणनीति का कोई अनुभव नहीं है, पर उसके पास शतरंज (चैस) का मौजूदा विश्व चैम्पियन है। सो उसका नेता शतरंज चैम्पियन से कहता है कि वह अपनी तर्कशक्ति का उपयोग कर शत्रु को चकमा देने में मदद करे। क्या यह युक्ति कारगर होगी -- क्या एक शतरंज खिलाड़ी सामान्य स्तर पर भी बुद्धिमान है, या फिर उसकी बुद्धिमत्ता केवल शतरंज के क्षेत्र तक सीमित है?

एक दृष्टि से व्यक्ति को शतरंज में मस्तिष्क का प्रशिक्षण वास्तविक जीवन की सामरिक रणनीति को बनाने की क्षमता दे सकता है, क्योंकि कोई भी मानसिक प्रशिक्षण दिमाग को अभ्यास देता है और उसकी सामान्य क्षमता को सुधारता है। एक समय मनोवैज्ञानिकों में यह विचार लोकप्रिय था, पर 1970 के दशक के मध्य में, संज्ञान (कॉग्निशन) के क्षेत्र में हुई शोध ने लोलक को दूसरी ओर धकेल दिया। तब यह विचार स्वीकारा जाने लगा कि किसी क्षेत्र विशेष में दक्षता केवल उसी क्षेत्र में बुद्धिमान आचरण की ओर ले जाएगी, या श्रेष्ठतम स्थिति में, उन क्षेत्रों में भी जिनके सभी तत्व मूल क्षेत्र के समान हों। दूसरे शब्दों में शतरंज का चैम्पियन अपने देश को बचाने में खास कुछ नहीं कर पाएगा। हालाँकि अगर उसे किसी अंतर्राष्ट्रीय चैकर्स प्रतिस्पर्धा में भेजा जाए, तो वह उम्दा प्रदर्शन कर सकेगा।

इस दृष्टिकोण को उकसाने वाली शोध का एक उदाहरण वह प्रसिद्ध अध्ययन है जो कई वर्षों पहले विलियम चेज़ तथा हर्बट साइमन द्वारा शतरंज के विशेषज्ञों तथा नौसिखियों

पर किया गया था। प्रयोगकर्ता चैस बोर्ड पर 25 मोहरे या तो मनमर्ज़ी से (रैन्डम तरीके से) विभिन्न स्थानों पर रखते, या फिर किसी वास्तविक संभव खेल परिदृश्य में, और तब वे लोगों से कहते हैं कि वे याद्दाश्त से बोर्ड को फिर से बनाएँ। पाया गया कि विशेषज्ञों की बोर्ड पर मोहरों की वास्तविक स्थिति की स्मृति कहीं अधिक श्रेष्ठ थी, वे लगभग सभी मोहरों को सही स्थानों पर रख पाते थे (जिसमें अचरज भी न था)। परन्तु मनमर्जी से रखे गए मोहरों में उन्हें तकरीबन छह ही मोहरों का स्थान याद रह पाया। इसके विपरीत नौसिखियों को दोनों ही परिस्थितियों में केवल लगभग छह मोहरों के स्थान याद रह पाया था। अतः इस क्षेत्र में विशेषज्ञ होने का कोई संबंध *सामान्यतः* रणनीतियों में बेहतर स्मृति से नज़र नहीं आया।

एक गौण रूप में हमारे छात्र भी अक्सर शतरंज चैम्पियन जैसे होते हैं। अंग्रेज़ी की कक्षा में उन्होंने किसी पाठ का विश्लेषण करना सीख लिया होता है, पर इतिहास की कक्षा में वे स्वतः विश्लेषण नहीं करते। गणित की कक्षा में एक ग्राफ बनाने के कौशल पर वे महारत हासिल कर लेते हैं, परन्तु विज्ञान की कक्षा में स्वतः ही इन कौशलों का उपयोग नहीं कर पाते। उनका उपयोग किया जा सकता है यह उन्हें सूझता ही नहीं है। इसे 'अंतरण' (ट्रांसफर) की समस्या कहते हैं, और मनोवैज्ञानिक सालों से इस प्रश्न पर शोध करते रहे हैं कि, जो कुछ सीखा जाता है उसे एक संदर्भ से दूसरे में स्थानान्तरित किया जा सकता है या नहीं। क्योंकि अन्यथा सीखने का उपयोग ही क्या है? हालाँकि प्रारंभिक नतीजों ने यह दर्शाया कि अंतरण नहीं होता है, 1980 के दशक में मनोवैज्ञानिकों को पता लगने लगा कि ऐसी भी परिस्थितियाँ होती हैं, जिनमें छात्र कौशलों और रणनीतियों को नए क्षेत्रों में अंतरित करते हैं : दूसरे शब्दों में कहें तो वे बुद्धिमान नौसिखिए बन जाते हैं।

सबसे पहले मनोवैज्ञानिकों ने वह स्थापित किया, जिसका हम सबको अनुभव हो चुका है : कि कुछ छात्र ऐसे होते हैं, जिनमें यह बिना प्रयास किए, स्वतःस्फूर्त रूप से होता है। आप कह सकते हैं कि कुछ छात्र स्वाभाविक रूप से बुद्धिमान नौसिखिए होते हैं। वे नई परिस्थितियों में अपने ज्ञान को लागू करने में सक्षम लगते हैं। वे उपयोगी प्रश्न पूछते हैं, और जिस रोचक तथ्य पर आप गौर करते हैं वह यह है कि वे विविध संदर्भों में तेज़ी से *सीखते* हैं। परन्तु हमें इस निष्कर्ष तक नहीं पहुँच जाना चाहिए कि कुछ छात्र सीख सकते हैं, तो कुछ नहीं। उदाहरण के लिए मैंने सुना है कि कुछ लोग स्वाभाविक रूप से ही अच्छे गॉल्फ खिलाड़ी होते हैं, परन्तु प्रशिक्षण के ऐसे कार्यक्रम भी हैं जो गॉल्फ के बल्ले को चलाने के कौशल को काफी स्पष्ट रूप से समझाते हैं। ऐसे प्रशिक्षण से टाइगर वुड जैसे खिलाड़ी तो नहीं बनाए जा सकते पर कुशल गॉल्फ खिलाड़ी विकसित हो पाते हैं। जैसा ब्रूएर कहते हैं कि हम अपने छात्रों को आसान रणनीतियाँ *प्रत्यक्ष रूप से* नहीं सिखाते, जैसे समझने के लिए कैसे पढ़ना चाहिए। और मनोवैज्ञानिकों ने दर्शाया है कि

स्पष्ट प्रशिक्षण नयी परिस्थितियों में छात्रों द्वारा रणनीतियों के उपयोग को निश्चित रूप से बेहतर बनाता है। इसी प्रकार उन्होंने यह भी पाया कि हालाँकि कुछ छात्र स्वाभाविक रूप से अच्छे अधिसंज्ञानात्मक (मेटाकॉग्नेटिव) कौशल विकसित कर लेते हैं, इन कौशलों को भी प्रत्यक्ष प्रशिक्षण द्वारा सिखाया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक स्कॉट पेरिस तथा उनके सहकर्मियों ने 1980 के दशक में एक कार्यक्रम विकसित किया जो सीखने की सुविज्ञ रणनीतियाँ (इन्फॉर्म्ड स्ट्रेटेजीस् ऑव लर्निंग) कहलाता था। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य था आवश्यक पठन तथा अधिसंज्ञानात्मक कौशलों को छात्रों के लिए सुस्पष्ट बनाना। उनके शब्दों में, कार्यक्रम 'रणनीतियों को ठोस रूप से चित्रित करेगा और बच्चों को दिखाएगा कि उनके लिए कितनी कोशिश करनी होगी और उनके उपयोग से क्या लाभ होगा।' पढ़ने की आदतें तथा उसकी पूर्वमान्यताओं को भी स्पष्टतः रेखांकित किया गया, और छात्रों को दिखाया गया कि कैसे कुछ रणनीतियाँ असरकार होती हैं और कुछ नहीं। उदाहरण के लिए छात्रों को सिखाया गया कि पढ़ने का मुख्य उद्देश्य अर्थ समझना है, न कि तेज़ी से बिना गलती किए पढ़ना। बीच-बीच में से कुछ पढ़ना (स्किमिंग) पाठ में दरअसल क्या है का पता लगाने का तरीका है न कि छोटे शब्दों को पढ़ने और बड़े शब्दों को छोड़ देने का अभ्यास। पढ़ते समय, ठीक जैसे किसी पहेली को सुलझाते समय, आपको बीच में यह देखने के लिए रुकना चाहिए कि आप जो पढ़ रहे हैं उसे समझ भी रहे हैं या नहीं। मनोवैज्ञानिकों ने यातायात संकेतों की उपमाओं का भी उपयोग किया ताकि रणनीतियाँ याद रहें। **रुको** (स्टॉप) का अर्थ था सोचो और अपने शब्दों में बात को कहो। **गति सीमा** (स्पीड लिमिट) का अर्थ था, पढ़ने की गति को पाठ की कठिनता के स्तर के अनुरूप बदलो। **बंद रास्ता** (डेड एंड) का अर्थ था, वापस लौटो और जो हिस्से ठीक से समझ नहीं आए हों, उन्हें फिर से पढ़ो। **वक्र** (कर्व्स) का अर्थ था कठिन हिस्सों को छोड़ दो, जो खराब रणनीति थी, जिससे बचना चाहिए!

अधिसंज्ञान (मैटाकॉग्निशन) सिखाने के लिए हमें छात्रों को *स्वयं अपना आलोचक बनाना* ज़रूरी है। अगर आप छात्रों के काम को उनके ही सामने जाँचते हैं, और बोलते हुए सोच कर अपने मापदण्ड साफ-साफ बताते हैं, तो अगला चरण यह हो सकता है कि वे आपके सामने स्वयं ही अपने काम को जाँचें। क्रमशः वे आत्म-सुधार की प्रक्रिया को आत्मसात कर लेते हैं। कक्षा में बोलकर सोचना और एक-दूसरे के चिंतन पर टिप्पणी करने से अधि ासंज्ञानात्मक रणनीतियों को स्पष्ट करने में मदद मिलती है।

हालाँकि ये सुझाव अपने विस्तार में संकरे लग सकते हैं (केवल स्कूली अकादमिक कार्यों से संबंधित) ब्रूएर कहते हैं कि पढ़ने, लिखने, गणित तथा विज्ञान के 'सक्षमताओं' या 'औज़ार' के क्षेत्र हमारे सभी छात्रों में उच्च-स्तरीय संज्ञानात्मक कौशल विकसित करते

हैं। इनसे लैस हो जाने पर छात्र विशिष्ट क्षेत्रों में उच्च-स्तरीय शिक्षण से अधिक प्रभावी रूप से निपट सकते हैं -- अर्थात् वे बुद्धिमान नौसिखिए बन सकते हैं! यह कारगर हो इसके लिए हमें हम *कैसे* पढ़ाएँ को लेकर भी उतना ही सचेत होना पड़ेगा, जितना हम *क्यों* पढ़ाएँ को लेकर हों। भारतीय संदर्भ में हमें याद रखना होगा कि **पाठ्य विवरण (सिलेबस) केवल किसी पाठ्यचर्या का एक हिस्सा होता है**, जिसमें विधियाँ, नज़रिया, बल तथा दृष्टिकोण शामिल होते हैं। हमारे लक्ष्य में अपने छात्रों को उच्च स्तरीय कौशल सिखाना शामिल होना चाहिए, और केवल ज्ञान तथा तथ्यों को हस्तांतरित करने तक सीमित नहीं रहना चाहिए।

यहाँ मुझे यह उल्लेख भी कर देना चाहिए कि खासतौर से **बुद्धि लब्धि** प्राप्तांकों को बढ़ाने के भी प्रयास हुए हैं। यहाँ लक्ष्य अधिक सीधा-सादा हालाँकि संकीर्ण है, और परिणाम आसानी से नापे जा सकने वाले। ऐसे अधिकांश प्रयास, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका का हैडस्टार्ट कार्यक्रम, बुद्धि लब्धि परीक्षा में प्राप्तांकों को बढ़ाने के लिए किए गए थे (यहाँ फिर से बुद्धि लब्धि = बुद्धिमत्ता समीकरण है!)। ये कार्यक्रम प्रारंभिक बाल्यावस्था या शालापूर्व आयु समूह पर ध्यान केंद्रित करते हैं और आगे कुछ वर्षों तक जारी रहते हैं। ठेठ रूप से इन कार्यक्रमों के परिणाम बुद्धि लब्धि प्राप्तांकों में बढ़त के होती है, जो अक्सर कार्यक्रम समाप्ति के बाद मात्र कुछ सालों तक ही रहते हैं। परन्तु बुद्धि लब्धि स्तर को ऊपर उठाने का अब तक का जो सबसे सफल कार्यक्रम है वह है -- अपनी साँसें थाम लें -- नियमित स्कूली शिक्षण।

शोध स्पष्ट दर्शाता है कि जो बच्चे स्कूलों में अधिक समय बिताते हैं उनका बुद्धि लब्धि स्तर अधिक होता है। बढ़त की यह दर प्रति वर्ष केवल दो बुद्धि लब्धि अंक होती है। आपको शंका हो सकती है कि यह संबंध दूसरी दिशा में है -- कि जितना अधिक व्यक्ति की बुद्धि लब्धि है, उतना अधिक समय व्यक्ति स्कूल में बिताएगा। परन्तु शोध यह निर्धारित कर सका है कि स्कूली पढ़ाई बुद्धि लब्धि में वृद्धि का *कारक* है, या और सटीक रूप से कहें, तो बुद्धि को घटने नहीं देती। इससे आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि लब्धि परीक्षाएँ अकादमिक कौशलों से घनिष्ठता से जुड़ी होती हैं। स्टीफन सेसी, एक मनोवैज्ञानिक जिनकी बुद्धिमत्ता तथा शिक्षण में गहरी रुचि है, उन्होंने इन दोनों के बीच संबंध पर लिखे गए काफी साहित्य की समीक्षा की है। उन्होंने पाया कि देर से पढ़ाई प्रारंभ करने, या जल्दी पढ़ाई छोड़ देने से बुद्धि लब्धि में कमी आती है। ऐसे एक अध्ययन ने यह दर्ज किया कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीय बच्चों ने, उनके जैसे ग्रामों में बसे अन्य बच्चों की तुलना में देर से पढ़ाई प्रारंभ की (क्योंकि दुर्भाग्य से चार वर्षों तक एक शिक्षक

उलब्ध नहीं था)। इन बच्चों ने प्रति वर्ष के बिलंब पर 5 बुद्धि लब्धि बिन्दुओं की औसत दर से अंक खोए। सेसी की एक अजीबो-गरीब खोज यह भी थी कि लंबी गर्मियों की छुट्टियों के दौरान बुद्धि लब्धि प्राप्तांक कुछ कम हो जाते हैं -- यह शक दरअसल अक्सर मुझे भी होता है!

सेसी कहते हें कि इस संबंध में **स्कूल की गुणवत्ता एक घटक नहीं है।** परन्तु उनके नतीजे मुख्यतः यूरोप तथा अमरीका से हैं। कई सालों तक स्कूल जाते रहने से, फिर चाहे स्कूल कम गुणवत्ता वाला ही क्यों न हो, बुद्धि लब्धि में इज़ाफा होता है। परन्तु भारत में स्कूली शिक्षण-बुद्धि लब्धि संबंध को नहीं दोहराया गया है। यहाँ बच्चे जो शिक्षा पाते हैं उसके स्तर में नाटकीय अंतर होता है, और यह स्तर बेहद घटिया भी हो सकता है। कई भारतीय शिक्षा विशेषज्ञों का कहना है कि हमें नामांकन बढ़ाने और बच्चों को स्कूलों में बनाए रखने पर ध्यान केंद्रित करना छोड़ स्कूलों की गुणवत्ता को सुधारने पर ध्यान देना चाहिए। यह काफी संभव है कि हमारे सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले हज़ारों बच्चे स्कूल में बिताए गए घंटों में लगभग कुछ भी नहीं सीख पाते।

निष्कर्ष

इस अध्याय में प्रस्तुत शोधों का सार-संक्षेप हमें बुद्धिमत्ता के प्रति हमारे नज़रिए को व्यापक बनाने को प्रोत्साहित करता है। परन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि यह हमें उस जुड़ाव पर भी सवाल उठाने को उकसाता है जो समाज ने बुद्धिमत्ता की एक खास परिभाषा (जो बुद्धि लब्धि परीक्षा द्वारा मापी जाती है) तथा किसी इंसान की 'लियाकत' के बीच स्वीकार लिया है! यह सच है कि बुद्धि लब्धि परीक्षा जो कुछ भी नापती है वह मानव क्षमता का एक रोचक पक्ष है। आज की दुनिया में वह क्षमता स्कूल तथा उच्च शिक्षा में बेहद महत्त्वपूर्ण है, तथा व्यक्ति के पेशे के अनुसार वास्तविक जगत में भी उसका खासा महत्त्व है। गॉटफ्रेडसन सुझाती हैं कि जटिल जीवन स्थितियों में बुद्धि लब्धि अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, जहाँ नवीनता, अनिश्चितता तथा अस्पष्टता होती है; और जिन जीवन स्थितियों में सरल समस्या समाधान की आवश्यकता हो उसमें कम महत्त्वपूर्ण।

विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में बुद्धिमत्ता के परंपरागत, विकृत विचार केवल तब ही बदले जा सकते हैं जब हम प्रत्येक व्यक्ति को उसके उन कौशलों के लिए मूल्यवान मानें जिस पर उसने मेहनत की है। हरेक व्यक्ति समाज में योगदान कर सकता है और प्रत्येक योगदान कीमती होता है। हम इस बुनियादी सच्चाई से बहुत दूर हो गए हैं। हाल में एक छात्र ने मुझे कहा, 'मेरी माँ गणित और उस जैसी चीजें नहीं कर सकती, पर वह किसी भी चीज़ का प्रबंधन कर सकती है, वह सच में चीज़ें करवा सकती है।' और एक बेहद पढ़े-लिखे सज्जन ने कुछ महीनों पहले मुझे फोन पर कहा 'मेरी पोती ने अभी-अभी दसवीं

की हैं। दुर्भाग्य से वह गणित और विज्ञान में उतनी अच्छी नहीं है, पर...', और तब उन्होंने तमाम अद्‌भुत चीज़ें बताईं जो वह करती है, जिसमें ललित कलाओं के प्रति उसका प्रेम और कई भाषओं को सीखना शामिल थे!

अगले अध्याय में हम स्कूल में सीखने में उत्प्रेरण के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न को देखेंगे। रोचक यह है कि वह अध्याय इस कथा से खत्म होता है कि एक छात्र की बुद्धिमत्ता की समझ किस प्रकार चुनौतीपूर्ण कार्य के प्रति उसकी उत्प्रेरणा को प्रभावित कर सकती है।

संदर्भ तथा पुस्तक सूची

1. ब्रोडी., एन., 1997। 'इन्टेलिजेंस, स्कूलिंग एण्ड सोसायटी'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-52, संख्या-10, 1046-50
2. ब्रूएर, जे.टी., 1995। *स्कूल्स फॉर थॉट*। एमआईटी प्रेस : क्रेम्ब्रिज, मैसाच्यूसैटस।
3. सेसी, एस.जे., 1990। '*ऑन इन्टैलिजेन्स -- मोर ऑर लैस : अ बायो-इकोलॉजिकल ट्रीटाइज़ ऑन इन्टलैक्च्यूअल डेवलपमेंट*। प्रेन्टाइस हॉल : न्यू जर्सी।
4. सेसी, एस.जे., तथा डब्ल्यू.एम. विलियम्स, 1997। 'स्कूलिंग, इन्टैलिजेन्स एण्ड इनकम'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-52, संख्या-10, 1051-58
5. चेज़, डब्ल्यू.जी., तथा एच.ए. साइमन, 1973। 'परसेप्शन इन चैस'। *कॉग्निटिव साइकॉलजी,* 4, 55-81
6. फ्लिन,जे.आर., 1987। 'मैसिव आई.क्यू. गेन्स इन 14 नेशन्स : व्हॉट आई.क्यू. टेस्ट्स रियली मैज़र' *साइकोलजिकल बुलेटिन,* खण्ड-101, संख्या-2, 171-91
7. गार्डनर एच., 1983। *फ्रेम्स ऑव माइन्ड : द थियरी ऑव मल्टिपल इन्टैलिजेन्सेस्*। बेसिक बुक्सः न्यू यॉर्क
8. तत्रैव, 2003। 'मल्टिपल इन्टैलिजेन्सेस आफ्टर ट्वेन्टी इयर्स'। अमेरिकन एज्युकेशनल रिसर्च ऐसोसिएशन, शिकागो, इलिनॉइस में अप्रैल 21, 2003 को प्रस्तुत शोध पत्र।
9. गॉटफ्रेडसन, एल.एस., 1997। 'फोरवर्ड टू ''इन्टैलिजेन्स एण्ड सोश्यल पॉलिसी'' *इन्टैलिजेन्स,* 24(1), 1-12
10. तत्रैव, 1997। 'एडिटोरियल : मेनस्ट्रीम साइन्स ऑन इन्टैलिजेन्स'। *इन्टैलिजेन्स,* 24(1), 13-23 वॉल स्ट्रीट जर्नल की अनुमति से पुनः प्रकाशित, दिसंबर 13, 1994
11. गोउल्ड, एस.जे. 1994। 'कर्वबॉल'। *द न्यू यॉर्कर,* नवम्बर 18, 1994
12. ग्रीनफील्ड, पी.एम., 1997। 'यू कान्ट टेक इट विद यू : व्हाय एबिलिटी एसैसमेन्टस् डोन्ट क्रॉस कल्चर्स'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-52, संख्या-10, 1115-24
13. कानाज़ावा, एस., 2004। 'जनरल इन्टैलिजेन्स एज़ अ डोमेन स्पेसिफिक एडेप्टेशन'। *साइकोलॉजिकल रिव्यू,* खण्ड-111, संख्या-2, 512-23
14. मरे, सी., तथा आर. हैरेन्स्टाइन, 1994। *द बैल कर्व*। न्यू यॉर्क, एन.वॉयः द फ्री प्रेस।
15. नाइसर, यू, जी.बूडू, टी.जे. बोउकार्ड, ए.डब्ल्यू.बॉयकिन, एन.ब्रोडी, एस.जे. सेसी, डी.एफ. हैल्पर्न, जे.सी.ल्योहलिन, आर.परलॉफ, आर.जे.स्टर्नबर्ग तथा एस.उरबिना, 1996। 'इन्टैलिजेन्स : नोन्स् एण्ड अननोन्स'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-51, संख्या-2, 77-101

16. पेरिस, एस.जी., डी.आर.क्रॉस, तथा एम.वाय.लिपसन, 1984। 'इन्फॉर्म्ड स्ट्रैटेजीस् फॉर लर्निंग : अ प्रोग्राम टू इम्प्रूव चिल्ड्रन्स् रीडिंग अवेयरनैस एण्ड कम्प्रिहैन्शन'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी*, खण्ड-76, संख्या-6, 1239-52

17. पर्किन्स, डी.एन., तथा जी.सॉलोमन, 1989। 'आर कॉग्निटिव स्किल्स् कॉन्टेक्स्ट बाउन्ड?' *एज्युकेशनल रिसर्चर*, 18, 16-25

18. पर्किन्स डी.एन., तथा टी.ए.ग्रोत्ज़र, 1997। 'टीचिंग इन्टैलिजेन्स'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-52, संख्या-10, 1125-33

19. स्टर्नबर्ग, आर.जे., आर.के.वागनर, डब्ल्यू.एम.विलियम्स तथा जे.ए. होरवाथ, 1995। 'टेस्टिंग कॉमन सेन्स'। *अमेरिकन साइकोलजिस्ट*, खण्ड-50, संख्या-11, 912-27

20. स्टर्नबर्ग, आर.जे., 1997। 'इन्टैलिजेन्स एण्ड लाइफलौंग लर्निंग : व्हॉटस न्यू एण्ड हाउ कैन वी यूज़ इट?' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-52, संख्या-10, 1134-39

21. तत्रैव, 2003। 'अ ब्रॉड व्यू ऑव इन्टैलिजेन्सः द थियोरी ऑव सकसैस्फुल इन्टैलिजेन्स'। *कन्सल्टिंग साइकोलजी जर्नल : प्रैक्टिस एण्ड रिसर्च*, खण्ड-55, संख्या-3, 139-54

22. तत्रैव, 2004। 'व्हाय स्मार्ट पीपल कैन बी सो फूलिश' *यूरोपियन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-9, संख्या-3, 145-50

23. तत्रैव, 2004। 'कल्चर एण्ड इन्टैलिजेन्स'। *अमैरिकन साइकॉलजिस्ट*, खण्ड-59, संख्या-5, 325-38

❑❑❑

अध्याय आठ

उत्प्रेरणा

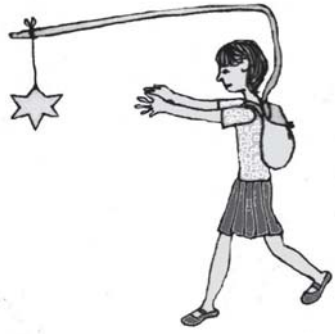

वह क्या है जो हमसे वह सब करवाता है, जो हम करते हैं ? वह क्या है जो किसी गतिविधि को प्रारंभ करने की और जब तक कोई लक्ष्य हासिल न हो जाए उसे जारी रखने की, कई बार तो भारी कठिनाइयों के समक्ष भी जुटे रहने की प्रेरणा देता है ? इस प्रश्न का जवाब एक से दूसरे व्यक्ति, एक से दूसरी परिस्थिति में अलग-अलग हो सकता है। परन्तु उत्प्रेरणा का एक सार्विक पक्ष भी होता है, क्योंकि सभी इन्सानों में प्रेरित हो पाने की क्षमता होती है। यह याद रखना ज़रूरी है कि : जब हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति 'उत्प्रेरित' (अनमोटिवेटेड) है तो ऐसा शायद इसलिए होता है क्योंकि वह उन चीज़ों को नहीं कर रहा होता जो *हम* चाहते हैं कि वह करे। शिक्षकों के रूप में हम जानते हैं कि जब हमारे छात्र सीखने को प्रेरित होते हैं तो हमारा काम आनंददायी बन जाता है। जब स्कूली काम के प्रति प्रेरणा का अभाव हो, तो पढ़ाने की हमारी तमाम चेष्टाएँ एक अंध ा-कूप में गायब होती लगती हैं, और हम कुण्ठित हो जाते हैं। अतः एक बेहद महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि : मैं अपने छात्रों को सीखने के प्रति कैसे उत्प्रेरित करूँ?

मनोवैज्ञानिक परंपरागत रूप से दो प्रकार के उत्प्रेरण की बात करते रहे हैं : आंतरिक

(इन्ट्रिन्सिक) तथा बाह्य (एक्सट्रिन्सिक)। क्या आपने किसी नन्हे शिशु को अपने-आप, पहली बार, पेट के बल मुड़ने की कोशिश करते देखा है ? आपने उसकी दृढ़ता, एकनिष्ठ एकाग्रता और लगातार प्रयत्न पर गौर किया होगा, जो शिशु लक्ष्य प्राप्त होने तक जारी रखता है। अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षों में शिशु जो कुछ हासिल करते हैं, उन तमाम चीजों को सीखने और उसका अभ्यास करने में वे इतनी मेहनत भला क्यों करते हैं ? अगर आप जवाब में 'उसके अपने आनंद के लिए' या ऐसा ही कुछ कहते हैं, तो आप **आंतरिक उत्प्रेरण** की स्थिति का वर्णन कर रहे होते हैं।

आंतरिक उत्प्रेरण हमारे अंदर की कुछ ऐसी चीज़ होती है जो हमें कुछ लक्ष्यों को हासिल करने, कुशल होने, आज़ादी और स्वायत्तता का भाव महसूस करने की ओर ले जाती है। इसे हम खेल में, खोजने में, चुनौतियों को तलाशने में, देख पाते हैं -- अर्थात् जो भी गतिविधि हम पर लादी न गई हो, जिसे हम स्वेच्छा से कर रहे हों। सच तो यह है कि मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि उद्विकास की दृष्टि से सभी मनुष्यों के लिए प्रेरणा अत्यधिक आवश्यक है क्योंकि यह हमें ऐसे कृत्य करने की दिशा में ले जाती है जो हमारे बचाव के लिए सही हों।

इसके बावजूद, और यह हम शिक्षकों के लिए बहुत जरूरी है, बाल्यावस्था में किसी बिन्दु में हम पाते हैं कि ऐसी चीज़ों की सूची क्रमशः बढ़ने लगती है, जिनको बच्चे आंतरिक प्रेरणा से *नहीं* करते। और इस लंबी सूची में अधिकाधिक ऐसे काम होते हैं जिनकी माँग स्कूल करते हैं। सफाई करने तक की गतिविधि, जिन्हें कभी 'खेल' के रूप में किया जाता था, अब 'काम' मान लिया जाता है और उसका विरोध होता है, उससे कन्नी काटी जाती है।

इस बिन्दु पर, बच्चों से हम जो करवाना चाहते हैं उसके लिए, हम बाहरी परिणाम घुसेड़ते हैं, जैसे पुरस्कार औद दण्ड। साथ ही हम ऐसी चीजें भी कहने लगते हैं 'अगर तुम यह करते हो, तो...', और 'यह करो, नहीं तो...'। जब कोई बच्चा किसी गतिविधि को सज़ा से बचने के लिए, या कोई पुरस्कार पाने के लिए करता है हम कहते हैं कि वह गतिविधि बाहरी या **बाह्य उत्प्रेरणा** से की गई है। यों हम वादों और धमकियों के एक अनंत चक्र में प्रवेश करते हैं ताकि बच्चों से वैसा आचरण करवा सकें जैसा हम उनसे चाहते हैं।

खैर -- इससे क्या, आप सोच सकते हैं, अगर बच्चा या बच्ची वह कर रही है जिसे करने की उसे ज़रूरत है, तो फिर इससे क्या फर्क पड़ता है कि वह ऐसा क्यों कर रही है ? इस दुनिया की कई व्यवस्थाएँ बाह्यय उत्प्रेरणा के (सायास) नियोजन द्वारा सुचारु रूप से चलती हैं : धमकियाँ तथा वादे, पुरस्कार तथा दण्ड। धार्मिक परंपराएँ, आधुनिक निगम,

स्कूल तथा उच्च शिक्षण की संस्थाएँ ऐसी व्यवस्थाओं के उदाहरण हैं। मैं यह निश्चित रूप से समझती हूँ कि बाह्य उत्प्रेरक अधिकतर परिस्थितियों में सबसे तेज़ और सरल समाधान होते हैं -- क्योंकि अधिकतर (पर सभी नहीं) लोग इनके सामने अनुमेय तरीकों से अनुक्रिया करते हैं। बाह्य उत्प्रेरण दुनिया को चलाता है। पर पूरी तरह से नहीं...।

ऐसी व्यवस्थाओं के साथ-साथ मनुष्य ने हमेशा लोगों को उत्प्रेरित करने के विभिन्न तरीके भी प्रोत्साहित किए हैं -- समझ द्वारा, चुनौतियों के माध्यम से, जागरूकता बढ़ा कर, तथा आत्म-तलाश द्वारा। हमने प्रदूषण फैलाने वालों पर वित्तीय दण्ड लगाए हैं, पर साथ ही पर्यावरण की स्थिति पर जागरूकता अभियान भी चलाए हैं। हमने स्वर्ग और सुकर्मों के वादे किए हैं, पर साथ ही हम मानवीय समानुभूति तथा करुणा की गुहार भी लगाते हैं। मुझे लगता है कि इन दो प्रकार की उत्प्रेरण व्यवस्थाओं -- आंतरिक तथा बाह्य -- से दूसरा कोई भी इतने घनिष्ठ रूप से नहीं जुड़ा है जितने स्कूली शिक्षक जुड़े होते हैं। शिक्षक इन मुद्दों से वास्तव में जूझते हैं। हालाँकि शिक्षा व्यवस्था में अनेकों बाह्य उत्प्रेरक हैं, शिक्षक ही सीखने की प्रक्रिया के सबसे निकट हैं और वे ही उस स्पष्ट अंतर को भी देख पाते हैं जिसमें कोई बच्चा आंतरिक रूप से उत्प्रेरित होता है। स्वाभाविक ही है कि शिक्षक ऐसे छात्र चाहते हैं जो स्कूली काम में जिज्ञासा रखते हों और रुचि लेते हों, और स्कूल से निकलते समय महज सीखने के लिए सीखने के प्रति प्रेम के साथ निकलें।[1] दूसरे शब्दों में शिक्षकों का लक्ष्य, प्रदर्शन की उत्प्रेरणा (जो शायद भारतीय स्कूलों में व्यापक है) के बदले सीखने की उत्प्रेरणा होता है। परन्तु इस इच्छा की पूर्ति आसानी से नहीं होती।

स्कूली बच्चों में आंतरिक उत्प्रेरणा के अभाव के कई संभव कारण हैं : भावनात्मक या शारीरिक असुरक्षा तथा खराब स्वास्थ्य, उद्विकासीय बाधाएँ, सीखने की प्रक्रिया पर स्वयं का नियंत्रण नज़र न आना, पुरस्कारों का दुरुपयोग, सामग्री का अप्रासंगिक होना, काम के स्तर का कठिन होना, कक्षा का वातावरण, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात, शिक्षकों का आचरण तथा छात्रों की मान्यताएँ। इस अध्याय में मैं इन घटकों का बारी-बारी वर्णन करूँगी और इस प्रक्रिया में हमारी कक्षाओं में घटते उत्प्रेरण स्तरों को उठाने के विभिन्न उपाय सुझाऊँगी।

---

1. उत्प्रेरणा को अक्सर केवल किसी उपलब्धि के माध्यम के रूप में देखा जाता है, न कि शिक्षा के *परिणाम* के रूप में। हम चाहते हैं कि छात्र सीखने के लिए उत्प्रेरित हों ताकि वे 'अच्छा' कर सकें - यह बात समझ आती है, परन्तु हम सीखने की उत्प्रेरणा को शिक्षा के वांछनीय नतीजे के रूप में भी देख सकते हैं। जो छात्र सीखने के प्रति प्रेरित हों, वे हमेशा सीखने से आनंद प्राप्त कर सकेंगे, स्कूल छोड़ने के कई सालों बाद भी यह दृष्टिकोण अपने आप में मूल्यवान है।

अपूरित शारीरिक या भावनात्मक आवश्यकताएँ

प्रेरणात्मक (मोटिवेशनल) मनोविज्ञान में एक परिचित नाम है एब्राहम मैसलॉव का, उन्होंने सुझाया था कि इन्सानों की आवश्यकताओं का एक पदानुक्रम होता है। जब इस पिरामिड के आधार पर स्थित ज़रूरतें पूरी हो जाती हैं, केवल तब ही हम ऊपरी स्तरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रति प्रेरित होते हैं। सरल शब्दों में कहें तो, अगर कोई बच्चा भूखा, चिंतित या प्रेमरहित हो, तो वह स्कूल में सीखने को प्रेरित नहीं होगा। परन्तु अगर उसकी इन ज़रूरतों की पूर्ति हो जाती है तो वह स्कूल में कुशलता पाने को आंतरिक रूप से प्रेरित होगा। इस बात की पुष्टि हमारे अनुभवों के उदाहरणों से भी होती है। जब कोई बच्चा भावनात्मक रूप से कठिन दौर से गुज़रता है (चाहे वह परिवार से संबंधित समस्या हो या साथियों से) उसका स्कूली प्रदर्शन तत्काल प्रभावित होता है। जो शिक्षक चाहते हैं कि उनकी कक्षाओं में बच्चे सीखें, उनके सामने इसके सिवा कोई विकल्प ही नहीं होता कि वे अपने छात्रों के भावनात्मक जीवन से जुड़ें। जहाँ तक शारीरिक ज़रूरतों की बात है, गरीब बच्चों के स्कूलों में शिक्षक अपना समय, ऊर्जा, और कभी तो निजी धन तक खर्च कर उन बच्चों की भूख मिटाते हैं -- जरूरतों के उपरोक्त पदक्रम को वे सहजबोध से पहचान लेते हैं।

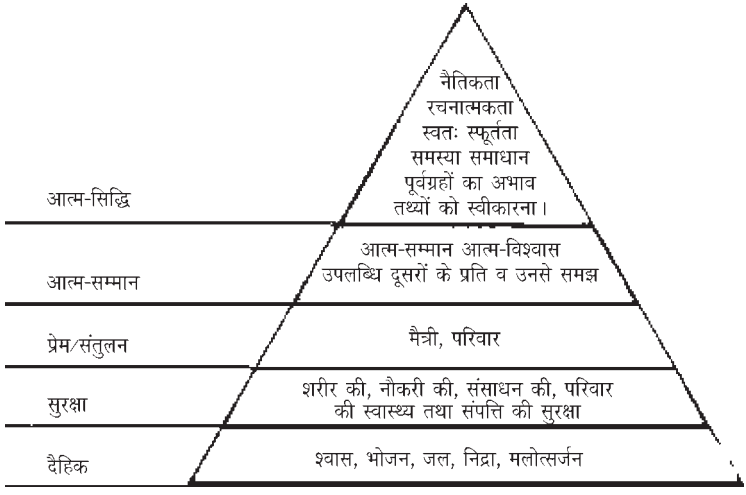

दुर्भाग्य से, भारत के बच्चों का एक बड़ा प्रतिशत इस स्थिति में नहीं है कि उनकी शारीरिक आवश्यकताओं तक की पूर्ति हो, भावनात्मक आवश्यकताओं की तो बात छोड़ ही दें। जो बच्चे शारीरिक तथा भावनात्मक रूप से सुरक्षित होते हैं, उनके लिए भी सीखने की प्रेरणा एक समस्या हो सकती है।

उद्विकासीय सीमाएँ

अध्याय एक में मैंने डेविड गीअरी के जैविक रूप से प्राथमिक तथा गौण क्षमताओं के सिद्धान्त का वर्णन किया था। उसकी याद दिलाने के लिए संक्षेप में बता दूँ कि वे प्रस्तावित करते हैं कि मनुष्य का क्रमिक विकास कुछ इस प्रकार हुआ है कि वह बाल्यावस्था में मुक्त खेल व खोज द्वारा कुछ क्षमताओं (जैविक रूप से प्राथमिक क्षमताएँ जैसे भाषा की) को विकसित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हममें लोक-मनोविज्ञान, लोक-भौतिकी व लोक-जीवविज्ञान सीखने/विकसित करने को आंतरिक उत्प्रेरणा होती है। तथापि हम अन्य विचार, जैसे बॉयल के नियम, युकलीडियन ज्यामिति, व्याकरण, या तत्वों की आवधिक तालिका पर महारत हासिल करने की अंतःप्रेरणा के साथ शायद पैदा नहीं होते। अतः, गीअरी कहते हैं कि अगर हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे ये चीजें सीखें तो हमें उन्हें आवश्यक सहयोग सायस निर्देशों, तथा (शायद) बाह्य उत्प्रेरकों के रूप में उपलब्ध करवाना पड़ता है।

जैसे कि मैंने उक्त अध्याय में लिखा था, यह सिद्धान्त एक शिक्षक के लिए कुछ अवसादपूर्ण है। हमें लालच यह सोचने का होता है कि हमारी स्कूली पाठ्यक्रम के ज़्यादातर हिस्से को सीखना किसी बच्चे के लिए 'अस्वाभाविक' है; सो हम यह मान लेते हैं कि बाह्य उत्प्रेरक जैसे क्रम (रैंक) व असफलता, सम्मान तथा शर्मिन्दगी का उपयोग करना चाहिए ताकि छात्र स्कूली काम करें। हमें यह भी लग सकता है कि स्कूल में अगर हम सीखाना होते देखना चाहते हैं तो हमें गाजर और छड़ी (पुरस्कार और दण्ड) काम में लेनी ही होगी।

पर मुझे लगता है कि यह अति है। यह तथ्य प्रदर्शित हो चुका है कि इन्सान न केवल भारी मात्रा में अमूर्त ज्ञान सीखने की क्षमता रखता है, बल्कि भावी पीढ़ियों द्वारा सीखने के लिए उसकी रचना भी कर सकता है। हम यह *कर सकते* हैं, और ऐसा करते समय हमें *मज़ा भी आता है*। इस अध्याय के प्रारंभ में अंतःप्रेरणा की परिभाषा को अगर पुनः दोहराएँ, तो *हमारे अंतस में ही कुछ ऐसा होता है जो हमें कुछ लक्ष्यों को पाने की ओर, कुशल बनाने की ओर, मुक्ति तथा स्वायत्तता के अहसास की ओर धकेलता है*। ऐसी प्रेरणा को किसी भी उपक्रम पर लागू किया जा सकता है -- मुझे ऐसा कोई कारण नज़र नहीं आता जो हमें स्वयं को या हमारे छात्रों को तथाकथित 'जैविक रूप से गौण क्षमताओं' के प्रति उत्प्रेरित होने से रोके। आगामी पृष्ठों में आप कुछ सुझाव व विचार पाएँगे, जो इस चेष्टा में आपको दिशा दिखा सकते हैं।

सिर्फ यह याद रखें : उद्विकासीय सीमाएँ अगर दरअसल होती हैं, तो वे स्कूल में सीखने की प्रेरणा को न तो स्वचालित बना सकती हैं न असंभव ही, बल्कि वे यह संकेत देती हैं कि हमें सिखाने को लेकर अधिक कल्पनाशील और ऊर्जावान होना चाहिए।

दृश्य नियंत्रण का अभाव

आत्म-निर्धारण सिद्धान्त (सेल्फ डिटरमिनेशन थियोरी या एस.डी.टी.) नामक एक नया सिद्धान्त उस बाह्य उत्प्रेरण की बात करता है जो कम या अधिक सीमा तक **आत्मसात्** कर लिया गया हो। यह कथन विरोधाभासी लगता है : अंतस्थ बाह्य उत्प्रेरण -- इसका अर्थ भला क्या हो सकता है ? अगर आचरण के बाहरी कारण हमारे लिए पूरी तरह बाहरी रहते हैं तो हम केवल उसकी अनुपालना के लिए ही काम करते हैं (गाजर और छड़ी प्रतिमान) और उन शक्तियों द्वारा स्वयं को नियंत्रित महसूस करते हैं। परन्तु मान लें कि हम इन्हें कुछ हद तक आत्मसात् कर लेते हैं, तो हम ऐसा आचरण करेंगे कि हम अपने आत्म-सम्मान (स्व-मूल्य का अहसास) को कायम रख सकें या उसे बढ़ा सकें। हालाँकि तब भी हम दूसरों के फैसलों या उनके मन में हमारी छवि जैसी बाहरी ताकतों द्वारा नियंत्रित होंगे। मान लें कि हम उन्हें अधिक सीमा तक आत्मसात कर लेते हैं, तो हम इसलिए वह गतिविधि करेंगे क्योंकि हम उसके कारणों को 'समझ' चुके हैं, फिर चाहे वह गतिविधि हमें अपने आप में मज़ेदार लगे या न लगे। मुझे लगता है कि मैं कई चीज़ें इस प्रकार के उत्प्रेरण के कारण करती हूँ। अपने छात्रों की कॉपियों को जाँचने का उदाहरण ही लें। यह करने की आंतरिक प्रेरणा मुझमें बिरले ही होती है, क्योंकि यह कोई मज़ेदार काम तो है नहीं। फिर भी मैं यह नियमित रूप से करती हूँ, क्योंकि इसे मैं एक शिक्षिका के रूप में अपने काम का आवश्यक (फिर चाहे थकाऊ ही क्यों नहीं) काम मानती हूँ। मैं जानती हूँ कि अपने छात्रों के सीखने से संपर्क में रहने का यह एक महत्त्वपूर्ण तरीका है, और यह प्रतिपुष्टि उनकी और मेरी मदद करेगी।

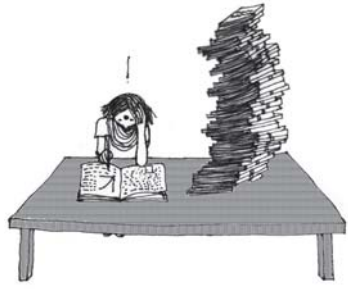

इसलिए इस काम को क्योंकि मैंने मूल्यवान मान लिया है, यह मुझे अपने कृत्यों पर स्वायत्तता या नियंत्रण का अहसास भी देता है (*मैं कॉपियों को जाँचने का काम चुनती हूँ*), बनिस्बत स्वयं को बाहरी घटकों द्वारा नियंत्रित महसूस करने के (*मुझे कॉपियाँ जाँच लेनी चाहिए, नहीं तो मैं मुश्किलों का सामना करूँगी*, या *अगर मैं कॉपिया जाँचती हूँ तो मैं एक अच्छी शिक्षिका हूँ*)।

निम्नोक्त चरण हमारे कृत्यों के क्रमशः अधिकाधिक अंतस्थ उत्प्रेरण की प्रगति को दर्शाते हैं :

-- मैं यह करुँगी ताकि मुझे वेतनवृद्धि मिले या मैं आरोपों से बचूँ।
-- मैं यह करुँगी ताकि दूसरों के मन में मेरी छवि अच्छी बने।
-- मैं यह करुँगी क्योंकि यह काम ज़रूरी और महत्त्वपूर्ण है।
-- मैं यह करुँगी क्योंकि मुझे ऐसा करने में मज़ा आता है।

शिक्षकों के रूप में हमें सीखने को दो पथों से प्रोत्साहित करना होता है जो उपरोक्त सूची में आखिरी दो प्रविष्टियों के अनुरूप हों : सीखने और महारत हासिल करने में रुचि तथा चुनौती का भाव संप्रेषित कर (आंतरिक उत्प्रेरण, तथा छात्रों को इस सीखने की सार्थकता का भाव संप्रेषित कर (आंतरिक रूप से नियामित बाह्य उत्प्रेरण)। जब तक छात्र जो कर रहे होते हैं उसमें सार्थकता को, या अपने काम पर नियंत्रण की भावना को खो नहीं देते, हम शिक्षक अपना काम सही तरह से कर रहे होते हैं। इस अध्याय के अंतिम भाग में आप शिक्षकों के आचरण की कुछ खासियतों के बारे में पढ़ेंगे, जो छात्रों के आंतरिक उत्प्रेरण को हतोत्साहित या प्रोत्साहित करते हैं।

पुरस्कारों का दुरुपयोग

मनोविज्ञान में एक सक्रिय तथा सम्मोहक विवाद उन लोगों में चल रहा है जो मानते हैं कि पुरस्कार आंतरिक उत्प्रेरण को **घटाता** है, अतः वांछित आचरण को भी कम कर देता है, तथा जो यह मानते हैं कि पुरस्कार आंतरिक उत्प्रेरणा तथा वांछित आचरण दोनों को **बढ़ाता** है।

पुरस्कार देना वांछनीय आचरण को *कम* कैसे कर सकता है -- आचरण पुनर्बलीकरण के बुनियादी नियमों के अनुसार क्या इसका असर ठीक उलटा नहीं होना चाहिए ? व्यवहारवादी (बिहेवियरिस्ट) परंपरा में, पुरस्कार हमेशा आचरण की बारंबारता को तब तक बढ़ाता है, जब तक पुरस्कार दिया जाता रहे; जब आप पुरस्कार देना बंद कर देते हैं, तब आचरण अपनी मूल बारंबारता में घट जाता है।

जब यह नियम चूहों तथा अन्य पशुओं द्वारा लगातार दर्शाया गया, मानवीय गतिविधियों के कई क्षेत्रों में भी पुरस्कार का नियोजित उपयोग प्रारंभ हुआ। बेशक इसके मुख्य लक्ष्य स्कूल थे। परन्तु 1970 के दशक में मनोवैज्ञानिक एडवर्ड डेची ने सुझाया कि शायद हम एक भूल कर रहे हैं। अव्वल तो उन्होंने दावा किया कि कुछ गतिविधियाँ अपने आप में ही पुरस्कृत करती हैं (यह इस बात को कहने का एक और तरीका है कि हम पहले से ही उन गतिविधियों को करने को आंतरिक रूप से उत्प्रेरित होते हैं)। दूसरे, उन्होंने कहा कि पुरस्कार का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति उसका क्या अर्थ निकालता है (अर्थात् व्यक्ति की स्वायत्तता तथा कुशलता का अहसास पुरस्कार से किस

प्रकार प्रभावित होता है)। यों कोई पुरस्कार केवल वही वस्तु मात्र नहीं होता, बल्कि वह भी होता है जिस अर्थ में पाने वाला उसे देखता है! एक बेहद खूबसूरत कार्टून दो छात्रों को डस्टर साफ करते दिखाता है और एक छात्र दूसरे दुखी छात्र को कहता है, 'तुम डस्टरों को *सज़ा* के रूप में साफ कर रहे हो ? पर मैं इन्हें *इनाम* के रूप में साफ कर रहा हूँ!'

पुरस्कारों को लेकर अपनाए गए भोले नज़रिए में एक तीसरी समस्या भी थी, और यह थी 'अति-औचित्यीकरण प्रभाव' (ओवर जस्टिफिकेशन इफेक्ट) की : जब आपको किसी ऐसी गतिविधि के लिए पुरस्कार मिलता है, जिसमें आपको वैसे भी आनंद आता है, तो आपको लगने यह लगता है कि आपने वह काम उसको करने के बजाए पुरस्कार के लिए किया था। कई प्रयोगों ने दर्शाया है कि पुरस्कार आंतरिक प्रेरणा को घटाते हैं, और इसलिए जिस गतिविधि में आपको पहले मज़ा आता था, उस पर *कम* समय बिताया जाता है।[2] एक शास्त्रीय अध्ययन मार्क लेप्प द्वारा किया गया था, जिसमें पाँच वर्षीय बच्चों को खेलने के लिए स्कैच पेन दिए गए, जो उस आयु के अधिकांश बच्चों को मज़ेदार लगते हैं। इसके बाद कुछ बच्चों को 'अच्छी तरह खेलने' के लिए पुरस्कृत किया गया (उन्हें सुंदर दिखने वाले प्रमाण-पत्र दिए गए!)। मुक्त खेल के बाद के सत्रों में इन बच्चों ने स्कैच पेनों के साथ उन बच्चों की तुलना में कम समय बिताया, जिन्हें प्रमाण-पत्र नहीं दिए गए थे। डेची के अनुसार मुख्य परिवर्ती घटक नियंत्रण की वह भावना है जो किसी कृत्य को करते समय व्यक्ति को महसूस होती है। जब पुरस्कार को आपके आचरण को नियंत्रित करने वाले घटक के रूप में देखा जाने लगता है, तो आप आज़ादी और स्वायत्तता की भावना खो देते हैं, और यह आंतरिक उत्प्रेरणा को कम कर देता है।

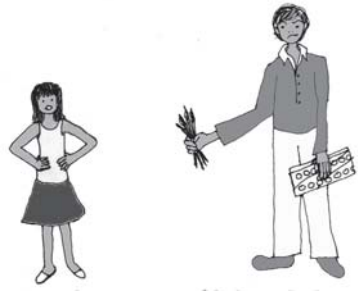

मैं इससे खेलूं तो आप क्या देंगे?

2. इन अध्ययनों में आंतरिक प्रेरणा को अलग-अलग तरीकों से मापा गया था : आग्रह की मात्रा तथा मुक्त कालांशों में किसी गतिविधि पर बिताया गया समय, तथा किसी गतिविधि में आने वाले आनंद के विषय में स्वयं द्वारा बताई गइ रुचि।

परन्तु पुरस्कार भी कई तरह के हो सकते हैं, और उन सभी का असर एक-सा नहीं होता। उन विभिन्न पुरस्कारों पर सोचें जो आपकी नज़र में आए हैं। वे ठोस हो सकते हैं (कोई प्रमाण-पत्र या इनाम), या मौखिक (सकारात्मक या पॉज़िटिव फीडबैक)। वे किसी काम को करने की चेष्टा करने के लिए दिए जा सकते हैं, या सिर्फ उसे पूरा कर लेने पर। वे किसी तयशुदा मानक को हासिल करने के लिए दिए जा सकते हैं, या फिर दूसरों से बेहतर करने के लिए। विभिन्न प्रकारों के पुरस्कारों का आंतरिक उत्प्रेरण पर जो असर पड़ता है उसका सार-संक्षेप नीचे दिया जा रहा है।

- ठोस पुरस्कार (प्रमाण-पत्रों से लेकर मीठी गोलियों तक) आंतरिक उत्प्रेरणा को कम करते हैं और कॉलेज छात्रों की तुलना में बच्चे इसके प्रभाव के समक्ष अधिक संवेदनशील होते हैं।
- चेष्टा करने, संपूर्ण करने, दूसरों से बेहतर करने और मानकों को प्राप्त करने के लिए दिए जाने वाले पुरस्कार -- सभी तब आंतरिक उत्प्रेरणा को कम करते हैं, *जब उन्हें हमारे आचरण को नियंत्रित करने वाले तत्व के रूप में देखा जाने लगता है*।
- मौखिक पुरस्कार या सकारात्मक प्रतिपुष्टि आंतरिक उत्प्रेरणा को कम नहीं करते, बल्कि उसे बढ़ा भी सकते हैं। दरअसल अगर कोई पुरस्कार सूचनात्मक (इन्फॉर्मेशनल फीडबैक) के भाव से दिया जाता है, जैसे कि प्रदर्शन की अच्छी गुणवत्ता को स्वीकारने के लिए और जब उसकी मंशा छात्र के आचरण को नियंत्रित करने की नहीं होती, तो वह आंतरिक उत्प्रेरण को बढ़ा सकता है।
- फिर भी, हमारे स्कूलों के कई छात्र जो तयशुदा मानकों के अनुरूप प्रदर्शन नहीं करते, उन्हें अगर दिया जाए तो भी बिरले ही पुरस्कार या सकारात्मक प्रतिपुष्टि दी जाती है। इसका मतलब है लगातार अपनी कुशलता के संबंध में नकारात्मक प्रतिपुष्टि (नेगेटिव फीडबैक) पाना, जो पलट कर स्कूली काम के संबंध में आंतरिक उत्प्रेरणा को घटाता है।

उपरोक्त सूची हमें यह सुझाती लग सकती है कि हमें अपने छात्रों की प्रशंसा करनी चाहिए, उन सबको सकारात्मक प्रतिपुष्टि देनी चाहिए। परन्तु प्रशंसा भी सावधानी से ही करनी चाहिए! इस अध्याय के अंतिम हिस्से में आप उस काम के विषय में भी पढ़ेंगे जो कुछ परिस्थितियों में प्रशंसा के नकारात्मक प्रभाव होने की बात सुझाता है। बॉक्स-1 में प्रशंसा संबंधी उन सामान्य मुद्दों का वर्णन है जिन को ध्यान में रखना चाहिए।

अप्रासंगिक तथा चुनौतीहीन काम

स्कूली काम के अमूर्त, तथा बच्चों को रोज़मर्रा के जीवन व सरोकारों से दूर होने विषय में काफी कुछ कहा जा चुका है। उद्विकासीय दृष्टिकोण से, व्ययनुकूली व्यवहार (एडैप्टिव

बिहेवियर, जैसे -- खाना, मैथुन संबंध, तथा अपने वातावरण में बेहतर तरीके से बचे रह पाने के लिए उसके बारे में सीखना) के प्रति आकर्षित होने के लिए उत्प्रेरण ज़रूरी होता है। मनुष्य में, दरअसल सभी पशुओं में, ऐसी चीज़ें सीखने का उत्प्रेरण होता है, जो उन्हें उनके वातावरण से बेहतर अनुकूलित होने में सहायक हो। अतः, जब हम चाहते हैं कि बच्चे ऐसी चीज़ें सीखें जो उन्हें उनके वास्तविक जगत के वातावरण से असंबंधित लगती हों, तो क्या आश्चर्य कि उनकी प्ररेणा ढीली पड़ जाती है।

बॉक्स-1

प्रशंसा

प्रशंसा की औपचारिक परिभाषा किसी दूसरे व्यक्ति के सकारात्मक मूल्यांकन के रूप में की जाती है, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाए जो मूल्यांकन के मानकों को जानता हो। यह किसी छात्र या छात्रा को अपने बारे में अच्छा महसूस करवाने का त्वरित तरीका हो सकता है, परन्तु बात यह भी है कि प्रशंसा काफी जटिल भी हो सकती है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार गलत चीज़ के लिए, गलत समय, या गलत तरीके से प्रशंसा करने के कई नकारात्मक प्रभाव हो सकते हैं। सन् 2002 में मनोवैज्ञानिक जेनिफर हेन्डरलाँग तथा मार्क लेप्पर ने प्रशंसा के प्रभावों पर किए गए अध्ययनों की व्यापक समीक्षा की। उनके मुख्य निष्कर्ष थे :

- प्रशंसा को बाह्य नियंत्रण और इस कारण छात्र की स्वायत्तता को कम करने के रूप में देखा जा सकता है (जो डेची के सिद्धान्त के अनुसार आंतरिक उत्प्रेरण को कम करता है)।
- प्रशंसा अच्छे प्रदर्शन को जारी रखने का दबाव बना सकती है।
- प्रशंसा अपनी छवि अच्छी बनाए रखने और साथ ही दूसरों की छवि ध्वस्त करने की सनक की ओर ले जा सकती है।
- बेहद आसान काम की प्रशंसा छात्र में यह भाव जगा सकती है कि उसकी क्षमता कम है।
- अगर छात्रा को लगे कि तारीफ सच्ची नहीं है तो वह उसे साफ-साफ ठुकरा सकती है, या उसे लग सकता है कि शिक्षक उसे अच्छी तरह से जानता ही नहीं है, या (जो और भी बुरा है) वह यह सोच सकती है कि आखिर उसमें ऐसी क्या खोट है जिसे शिक्षक को छुपाना पड़ रहा है। एक अध्ययन का निष्कर्ष यह था कि हालाँकि सात वर्ष से कम आयु के बच्चे तारीफ को जस का तस स्वीकार लेते हैं, अधिकतर बच्चे बारह वर्ष की उम्र तक प्रशंसा को संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं। इसलिए, क्योंकि वे मानते हैं कि तारीफ इस बात का संकेत है कि आपमें लियाकत की कमी है, अतः आपको अतिरिक्त प्रोत्साहन की दरकार है!

बेशक, इस सबका मतलब यह कतई नहीं है कि हमें अपने छात्रों के काम की प्रशंसा कभी करनी ही नहीं चाहिए। तारीफ करने के सही तरीके भी होते हैं, और संक्षेप में वे ये हैं :

- गतिविधि की प्रक्रिया की प्रशंसा करें (रणनीतियों, विचारों, प्रयास) छात्र की क्षमता की नहीं।
- अपनी प्रशंसा को वर्णात्मक बनाएँ, छात्र के काम से संबंधित, ताकि वह उपयोगी पुनर्निवेश के रूप में काम करे।
- अन्य छात्रों से तुलना किए बिना प्रशंसा करें।

एक दूसरा रोचक संबंध प्रशंसा तथा उच्च आत्म-सम्मान के बीच होता है। कई सालों तक माना यह जाता था कि उच्च आत्म-सम्मान के कई सकारात्मक परिणाम होते हैं, जो बेहतर प्रदर्शन से लेकर लम्बी आयु तक हो सकते हैं! आत्म-सम्मान आंदोलन का इतिहास रोचक है, पर हाल में इसकी आलोचना भी हुई है। इस आंदोलन का वर्णन आपको अध्याय दस में मिलेगा।

फिर भी मानव समाज इतना जटिल हो गया है कि हमारे पास स्कूली पाठ्यचर्या को फैला कर तमाम ऐसी चीज़ों को, जो बालक की तात्कालिक आवश्यकताओं व परिवेश से असंबद्ध हों, शामिल करने के अलावा कोई चारा ही नहीं है। यह बात खासतौर से हाईस्कूल पाठ्यचर्या के लिए सच है। बच्चों को यह विश्वास दिलाना अगर असंभव नहीं तो कम से कम कठिन ज़रूर है कि उनके लिए सदिश (अर्थात् वह रेखा जिसमें परिणाम तथा दिशा दोनों हों, या वेक्टर) के बारे में सीखना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि 'उन्हें' इसकी ज़रूरत है। सच्चाई यह है कि अगर वे स्कूल छोड़ने के बाद सिलाई करना या यूरोप का इतिहास सीखना-पढ़ना चाहते हैं, तो उन्हें सदिशों की कभी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। यह माँग

करना कि हाईस्कूल पाठ्यचर्या को पूरा नहीं तो अधिकांश छोड़ दिया जाए, और पाठ्यचर्या को पूरी तरह बच्चों के जीवन व परिवेश में स्थित कर दिया जाए, अव्यवहारिक है। परन्तु इसका मतलब यह भी नहीं है कि हमारी नियति अनिच्छुक बच्चों को उनके पाठों से घसीटने की ही है। न ही इसका मतलब है कि हम दर्जों और असफलता के अहसास का सहारा ले, उन्हें सीखने को प्रोत्साहित करें। बच्चों को काफी ज़ल्दी, निश्चित रूप से माध्यमिक शाला तक, उनके समाज की विशेष प्रकृति और उसकी माँगों के बारे में समझाया जा सकता है -- उन्हें बताया जा सकता है कि उन्हें छोटी उम्र में ही ढ़ेरों चीज़ें सीख लेनी चाहिए, ताकि जब वे बड़े हों जाएँ तो वे यह तय कर सकें कि वे किन विषयों को जारी रखना चाहेंगे। यह समझ उन्हें वह दे सकती है जिसे हमने पहले सीखने की *आंतरिक रूप से नियामित बाह्य उत्प्रेरणा* कहा था। यह ठीक उसी तरह की प्रेरणा है जो मुझे छात्रों की कॉपियाँ जाँचने को प्रेरित करती है। अगर अच्छा प्रदर्शन करने की चिंता और उसका भय न हो, और उन्हें कल्पनाशीलता व उत्साह से पढ़ाया जाए, तो किसी भी चीज़ को सीखना आनंददायक बन सकता है। और मानवीय उपक्रम को प्रेरित करने वाले घटकों में प्रमुख घटक आनंद ही है!

स्कूली काम का दूसरा पक्ष है कठिनाई का स्तर! जो काम हद से ज़्यादा आसान या बेहद कठिन हो उसमें बच्चों की रुचि जल्दी ही खत्म हो जाती है। चुनौती के सही स्तर को चुनना कुछ ऐसी चीज़ है जिससे शिक्षक लगातार संघर्ष करते हैं, खासकर एक ठेठ कक्षा में जहाँ बड़ी संख्या में भिन्न-भिन्न स्तरों के छात्र एक समान सामग्री पर काम कर रहे हों। लगता यह है कि किसी भी कक्षा में ऐसे कुछ छात्र होंगे ही जो इसलिए प्रेरित नहीं होते क्योंकि उनके लिए चुनौती का स्तर या तो बेहद ऊँचा या बेहद नीचा है। इस उलझन के समाधान ऐसे हैं जिसके लिए लचीले नज़रिए और कुछ मेहनत की ज़रूरत पड़ती है।

- कुछ विषयों के लिए छात्रों को उनके स्तर के अनुसार छोटे समूहों में बांट दें। उन्हें उनके स्तर के लिए उचित काम दें।
- कुछ विषयों के लिए मिश्रित स्तर के छोटे समूहों में छात्रों को बाँटें। ऐसी छोटी परियोजनाएँ ईजाद करें जिसमें प्रत्येक समूह सदस्य की अलग-अलग ज़िम्मेदारी हो और वे अपने स्तर के हिसाब से काम करें ताकि पूरे काम पर कोई आँच भी न आए।
- कुछ विषयों के लिए ऐसी सामग्री ढूँढ़ें या रचें जिनसे छात्र स्वतंत्र रूप से काम कर सकें। विस्तार विषयों को शामिल कर कुछ छात्रों को दूसरों की तुलना में अधिकाधिक चुनौतीपूर्ण काम करने की छूट दें। यह सुनिश्चित करें कि 'केंद्रीय' अवधारणाओं व प्रक्रियाओं को सभी छात्रों ने सीख लिया है।
- कुछ विषयों पर सामग्री के संबंध में छोटी समूह चर्चाएँ आयोजित करें, या

पारस्परिक शिक्षण पद्धति काम में लें, जिसका वर्णन अध्याय दो में किया गया था। यह इस तथ्य को रेखांकित करता है कि अपने 'स्तर' के बावजूद छात्रों का एक समूह सीखने वालों का एक समुदाय बन सकता है, और यह भी कि सार्थक रूप से सीखने के लिए आपको हमेशा समस्तरीय समूह की दरकार नहीं होती।

- कुछ विषयों के लिए, बेशक समूची कक्षा को भाषण दें! छात्रों पर नज़र रखें कि वे कहीं ऊब तो नहीं रहे हैं या भ्रम में तो नहीं पड़ गए। ऐसे संकेत मिलते ही अपने प्रवाह को रोकें और उन छात्रों से उनके स्तर के अनुरूप सवाल करें। किसी एक छात्र से कहें कि वह दूसरों के लिए वार्ता का सार-संक्षेप प्रस्तुत करे... एक ही पाठ में सभी को साथ बनाए रखने के कई कल्पनाशील उपाय हैं।

उपरोक्त सभी समाधानों के कुछ नुक्सान तब ज़रूर होंगे जब आप केवल एक ही तरीके का उपयोग करेंगे। अतः किसी एक ही तरीके को अपना स्थाई शैक्षणिक तरीका बनाना उचित नहीं होगा। अगर आप विषय के हिसाब से अलग-अलग समय पर, भिन्न-भिन्न तरीकों को अपनाने का लचीलापन रखें, तो कक्षा की गत्यात्मकता इन विधियों की कमियों को पूरा कर सकेगी और उसका लाभ आप उठा पाएँगे।

कक्षा के वातावरण

सीखने के प्रति छात्रों की उत्प्रेरणा को प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण घटक है कक्षा में मौजूद उत्प्रेरणा प्रणाली, या कक्षा का वातावरण। मनोवैज्ञानिक इन वातावरणों को स्पर्धात्मक, सहकारात्मक, या व्यक्तिपरक कह विभाजित करते हैं। ये तीनों प्रणालियाँ कक्षा में काम करने की प्रेरणा दे सकते हैं, पर भिन्न-भिन्न कारणों से। छात्र सीखने के प्रति कौन-सा नज़रिया अपनाते हैं वह उत्प्रेरण के अलग-अलग स्रोत के परिणामों से प्रभावित होता है। इन तीन भिन्न कक्षा वातावरणों का संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है।

किसी स्पर्धात्मक कक्षा में काम की प्रेरणा पाने के लिए छात्रों का ध्यान अपने सहपाठियों के प्रदर्शन पर तथा स्व-बनाम-अन्य की तुलनाओं पर केंद्रित रहता है। यह छात्रों को क्षमताओं पर सोचने की दिशा में ले जाता है। 'क्या मैं इतना चतुर हूँ कि यह कर पाऊँ? मैंने कैसा किया? उसने कैसा किया? मैं गलती नहीं करना चाहता...'। यहाँ असफल होने को टालना सबसे महत्त्वपूर्ण बन जाता है, इसका मतलब होता है चुनौतीपूर्ण स्थितियों से बचना। विडंबना यह भी है कि कुछ छात्र स्पर्धात्मक स्थितियों में कोशिश करने से भी बचते हैं, क्योंकि अगर तमाम कोशिशें करने के बाद भी वे सफल न हो सके, तो सब यही मानेंगे कि उनमें क्षमता ही नहीं थी। अतः चेष्टा ही न करना, 'सम्मान के साथ असफल होने का' एक तरीका है।

किसी **सहकारात्मक** कक्षा में छात्रों का ध्यान पूरे समूह के साझे प्रदर्शन पर केंद्रित रहता

है। छात्र 'कर्तव्यों' पर सोचते हैं और नैतिक दायित्व का एक बोध काम करने की उत्प्रेरणा उपलब्ध करवाता है। 'क्या हम सही मात्रा में मेहनत कर रहे हैं? मुझे (या उसे) काम में पर्याप्त योगदान देना चाहिए। मेरे दोस्त चाहते हैं कि मैं खूब मेहनत करूँ'। यहाँ मंशा सबसे महत्त्वपूर्ण बन जाती है और छात्र एक-दूसरे का मूल्यांकन, क्षमता के बजाए काम करने की इच्छा के हिसाब से करते हैं। आप कोशिश इसलिए करते हैं क्योंकि आपके समूह के साथियों के प्रति यह आपका 'दायित्व' होता है।

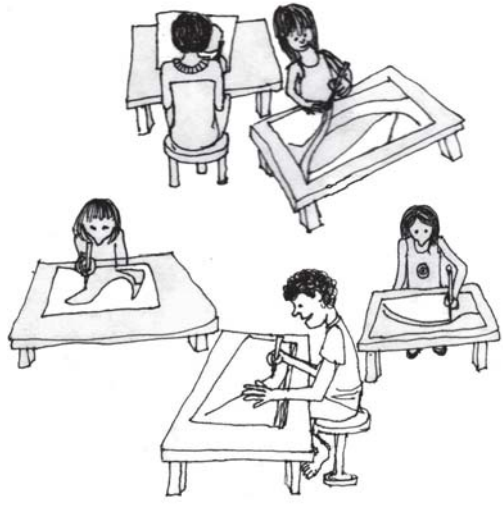

व्यक्तिपरक कक्षा में छात्र एक-दूसरे के काम से पूरी तरह स्वतंत्र होते हैं तथा उनकी प्रगति का कक्षा के अन्य छात्रों से कोई संबंध नहीं होता। छात्रों को यह सोचने की दिशा में बढ़ाया जाता है कि उन्हें लक्ष्यों को स्वयं अपने लिए हासिल करना है। 'मैं जानता हूँ कि मुझमें सुधार आ रहा है। अपनी गलतियों को सुधारने का अवसर मुझे दिया जाता है। और मेरी शिक्षिका चाहती है कि मैं नई-नई चीज़ों को आजमाऊँ'। यहाँ स्वयं-बनाम-पहले -- के स्वयं के बीच तुलनाएँ रेखांकित हो सकती हैं और वे ही काम की प्रेरणा देती हैं। यहाँ चेष्टाएँ सुधार लाने के लिए, तथा अपनी पहले की उपलब्धियों को बेहतर बनाने के लिए की जाती हैं।

यहाँ कुछ रोचक विषमताओं को रेखांकित किया जाना चाहिए। जब कोई छात्रा व्यक्तिपरक वातावरण में हो, वह इस प्रश्न पर ध्यान दे सकती है, 'मैं यह भला कैसे करूँ? मुझे एक योजना बनानी चाहिए।'[3] परन्तु एक स्पर्धात्मक वातावरण में *अगर वह बहुत कोशिश करे*

3. माना यह जाता है कि एक सहकारी कक्षा में वह सोचेगी, '*हमें* एक योजना बनानी चाहिए।'

तो भी, वह शायद इसमें 'सफल' न हो पाए, क्योंकि वहाँ सफलता की परिभाषा अन्य छात्रों से बेहतर करना होती है। अतः सीखने की उत्प्रेरणा भी उस अत्यावश्यक फैसले पर निर्भर होगी, जो अपव्यय और दुख की बात है! मनोवैज्ञानिक इसे ही 'प्रयास की दुधारी तलवार' कहते हैं। यहाँ प्रयास सफलता की ओर तो ले जा सकता है, परन्तु अगर वह असफलता की ओर ले जाए, तो शर्मिंदगी होती है तथा आत्म-सम्मान खो जाता है। इसलिए एक स्पर्धात्मक वातावरण में ऐसे कठिन कामों से बचा जाता है, जो असफलता की ओर ले जा सकते हैं।

एक चेतावनीः ऊपर जो तीन प्रकार की कक्षाओं का वर्णन दिया गया है वह निश्चित रूप से स्थिति का अति-सरलीकरण है। एक ही कक्षा में सभी छात्र कक्षा के लक्ष्यों का समान अर्थ नहीं निकालते। शिक्षक उनसे मिलजुल कर काम करने को कह सकता है, फिर भी कुछ छात्र अकेले काम करना चुनते हैं। कोई अन्य शिक्षक छात्रों से स्वतंत्र रूप से काम करने की उम्मीद कर सकता है, फिर भी उसके दो-तीन छात्र एक-दूसरे के साथ सहयोग कर काम करना शुरू कर सकते हैं। और हम सभी ऐसे छात्रों को भी जानते हैं, जो स्पर्धात्मक कक्षा में होने के बावजूद, उसकी बाध्यताओं की उपेक्षा कर केवल मात्र सामग्री पर महारत हासिल करने के लिए काम करते हैं।

कक्षा में किस प्रणाली का उपयोग होगा यह चयन स्कूल के शैक्षणिक दर्शन से तथा अंततः सामाजिक मूल्यों से प्रभावित होता है। परन्तु शिक्षिका ही अपनी अपेक्षाओं के माध्यम से अपने छात्र-छात्राओं को सशक्त प्रेरणात्मक संदेश संप्रेषित करती है। अगले भाग में हम शिक्षकों के उन खास किस्म के आचरणों को देखेंगे जो छात्रों की उत्प्रेरणा को प्रभावित करते हैं।

शिक्षक आचरण तथा छात्र उत्प्रेरणा

एक शिक्षक के रूप में क्या आप एक नियंत्रक हैं या फिर स्वायत्तता के समर्थक? जानने के लिए पढ़ना जारी रखें।

सारा एक औसत छात्रा है। पिछले दो सप्ताहों से वह उदास-सी लग रही है और कक्षा में भागीदारी नहीं करती। वह अपना गृहकार्य पूरा नहीं कर रही, पर जितना-सा काम वह करती है वह सही होता है। उसकी माँ के साथ फोन पर हुई बातचीत से कोई उपयोगी सूचना नहीं मिल पाई है। अगर आप सारा की शिक्षिका या शिक्षक हैं, तो आप क्या करेंगे?

विकल्प-1 : उसे गृहकार्य पूरा करने का महत्त्व समझाएँगे, क्योंकि अपने ही भले के लिए इस सामग्री को सीखना ज़रूरी है।

विकल्प-2 : उसे कहेंगे कि उसे पूरा काम अभी के अभी नहीं कर डालना है, और

उसकी समस्या का कारण तलाशने में उसकी मदद करने की चेष्टा करेंगे।

विकल्प-3 : उसे स्कूल के बाद तब तक रोकेंगे, जब तक गृहकार्य पूरा नहीं हो जाता।

विकल्प-4 : गृहकार्य में अन्य बच्चों की तुलना में वह कहाँ है यह दर्शाएँगे, और उसे दूसरों के स्तर तक बढ़ने को प्रोत्साहित करेंगे।

1980 के दशक में डेची तथा उनके सहकर्मियों ने शिक्षक आचरणों की एक परीक्षा बनाई, जिसमें ऊपर दी गई कहानी जैसी आठ छोटी कहानियाँ थीं। प्रत्येक कहानी के चार ही विकल्प थे, जो शिक्षण आचरण के चार प्रकारों के अनुरूप थे। उपरोक्त कहानी में विकल्प-3 बेहद नियंत्रणकारी आचरण है, जिसमें शिक्षक यह तय कर लेता है कि छात्रा के लिए क्या अच्छा है और उससे वह 'करवाता' है। विकल्प-1 संयत नियंत्रण का है : शिक्षक तय करता है कि सर्वश्रेष्ठ क्या होगा, और कोशिश करता है कि छात्रा उसकी तरह स्थिति को देखे। विकल्प-4 छात्रा की स्वायत्तता का संयत समर्थन करता है : शिक्षक बच्ची को प्रोत्साहित करता है कि वह अपने सहपाठियों से स्वयं की तुलना करे ताकि उसे अपनी समस्या को सुलझाने की प्रेरणा मिले। विकल्प-2 छात्रा की स्वायत्तता का पूरा समर्थन करता है : शिक्षक छात्रा को अपनी समस्या का स्वयं समाधान निकालने को प्रोत्साहित करता है।

डेची तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों, जिन्होंने इस प्रश्नावली का कई वर्षों तक उपयोग किया, उन्होंने पाया कि स्वायत्तता समर्थक शिक्षकों (जो ऊपर दिए गए विकल्पों में दूसरे विकल्प का अनुसरण करते हैं) के छात्र स्कूल में आंतरिक उत्प्रेरणा से काम करने वाले अधिक होते हैं। परन्तु वे कौन-से किस्म के आचरण हैं जो कक्षा में स्वायत्तता समर्थक आचरणों में रूपान्तरित होते हैं? जॉनमार्शल रीव नामक एक मनोवैज्ञानिक द्वारा किए गए एक अध्ययन में एक वयस्क को कुछ पहेलियों को सुलझाने का काम, एक ऐसे अन्य वयस्क की मदद से दस मिनट में करने को कहा गया, जिससे वह पहले से परिचित था। ऐसे कई 'विद्यार्थी-शिक्षक' जोड़ियों का अध्ययन किया गया, और उनके आचरणों को विडियोटेप पर दर्ज कर लिया गया ताकि बाद में उनका विश्लेषण किया जा सके। इन सभी लोगों ने एक माह पहले डेची प्रश्नावली को पूरा किया था। रीव ने पाया कि जिन 'शिक्षकों' ने उक्त प्रश्नावली में स्वायत्तता समर्थन के लिए अधिक अंक पाए थे, और जिन्होंने नियंत्रणकर्ताओं के रूप में अधिक अंक पाए थे, उन्होंने पहेली सुलझाने के दस मिनटों के दौरान *बिल्कुल भिन्न आचरण* दर्शाए। स्वायत्तता समर्थक शिक्षकों ने खासतौर से

- 'छात्रों' की बात को अधिक सुना,
- पहेली की सामग्रियों को कम समय तक अपने हाथों में थामे रखा,

- पहेली के समाधान स्वयं बताने से बचे,
- कम और सीमित संकेत दिए,
- कम आदेश दिए,
- छात्र क्या करना चाहता है पर अधिक प्रश्न पूछे,
- छात्रों की ओर से आए प्रश्नों पर अधिक अनुक्रिया की।

'लाओ, मैं बताती हूं कि किया कैसे जाता है।'

उदाहरण के लिए अधिक नियंत्रण करने वाले शिक्षकों ने इस तरह के वक्तव्य दिए 'इसे उलट डालो', 'जैसे मैंने दिखाया था, क्या वैसे कर सकते हो', 'तुम्हें पहले आधार को बना लेना चाहिए।' इसके विपरीत स्वायत्तता समर्थक शिक्षकों ने ऐसी चीजें कहीं, 'किस नमूने से शुरू करना चाहिए?', 'अब तुम्हें कैसे करना समझ आने लगा है', और 'मैं देख पा रहा हूँ कि तुम अब खीझने लगे हो!'

यहाँ एक रोचक नतीजा उभरता है। उपरोक्त कहानी में विकल्प 4 को *संयत स्वायत्तता समर्थक* विकल्प के रूप में रखने की डेची की मंशा थी। उनकी आठों कहानियों में एक ऐसा विकल्प भी था, जिसमें शिक्षक दूसरों के साथ तुलना कर छात्रों को प्रोत्साहित करता है कि उन्हें 'दूसरे बच्चों के समान करना चाहिए'। परन्तु उनकी प्रश्नावली का उपयोग करने वाले सभी शोधों में इस विकल्प का सह-संबंध स्वायत्त आचरण के बजाए नियंत्रक आचरण से अधिक पाया गया। अतः डेची कहते हैं कि हमें इसे दरअसल 'किंचित नियंत्रक' आचरण के रूप में देखना चाहिए। मुझे यह बात इस रोचक संभावना को सुझाती लगती है कि तुलना का दबाव हमारे आचरण को नियंत्रित करने का सूक्ष्म दबाव है (या कई बार इतना सूक्ष्म भी नहीं) -- कुछ ऐसा जो हमारी स्वायत्तता की भावना को कम करता है। यह सीधे-सीधे उन विचारों को पुष्ट करती है जो बॉक्स-2 में प्रस्तुत किए गए हैं।

हम शिक्षकों को अपने छात्रों की स्वायत्तता का अधिक समर्थन करने वाले कैसे बना सकते हैं? डेची ने उन बाह्य दबावों को देखने की चेष्टा की जो शिक्षकों से खास किस्म के आचरण करवाते हैं। उदाहरण के लिए, जब शिक्षकों से कहा जाता है कि यह उनकी ज़िम्मेदारी है कि छात्र 'मानकों के अनुरूप प्रदर्शन करें' और अगर वे इसे स्वयं पर एक

नियंत्रणकारी मांग के रूप में देखें, तो वे जो दबाव स्वयं पर महसूस करते हैं उसे अपने छात्रों पर भी डालेंगे। जो बात छात्रों पर लागू होती है, वही शिक्षकों पर भी लागू होती है। अगर हम चाहते हैं कि आंतरिक उत्प्रेरणा वाले शिक्षक जो अपने छात्रों की स्वायत्तता का समर्थन करते हों, अपना काम अच्छी तरह करें तो उन्हें ऐसा बनाए रखने के लिए हमें उनकी स्वायत्तता का समर्थन भी करना होगा! डेची के शब्दों में, 'जिस प्रकार बच्चों को आंतरिक रूप से उत्प्रेरित होने के लिए स्वायत्तता अभिमुख कक्षाओं की, तथा स्वयं को सक्षम व्यक्तियों के रूप में देखने की ज़रूरत होती है, ठीक उसी तरह शिक्षकों को भी स्वायत्तता अभिमुख संदर्भ की ज़रूरत होती है, जिसके तहत वे अपने निजी अभिमुखीकरण के विषय में मिली प्रतिपुष्टि का लाभ उठा सकें।' मैं भी इससे सहमत हूँ। एक अच्छा शिक्षक स्व-प्रेरित ही हो सकता है; गुणवत्ता कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बाहर से, या ऊपर से लागू करवाई जा सके। एक घटक जो गुणवत्ता में योगदान करता है, वह पढ़ाने तथा सीखने के बारे में वह जानकारी है जो शिक्षकों को मिलती है। शिक्षण को जो स्थाई और वास्तविक रूप से सुधार सकता है, वह यही सूचनात्मक प्रतिपुष्टि है। यही वह मुख्य कारण है जिसके चलते मुझे लगा कि इस जैसी किसी पुस्तक की शिक्षकों को ज़रूरत है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात जिस पर शिक्षिका अपनी कक्षा में बल डाल सकती है, वह है **प्रवीणता** अभिमुखीकरण। इस नज़रिए का लक्ष्य यह होता है कि हरेक छात्र सभी चीज़ों को सीखे, बिना इस चिंता के कि सीखने में कितना समय लगा है। यह इस महत्त्वपूर्ण पूर्वमान्यता पर आधारित है कि 'अगर कोशिश करूँ, तो मैं भी कर सकता हूँ', और इसमें छात्र अपना ध्यान और विचार '**चेष्टा**' पर केंद्रित करते हैं। प्रवीणता अभिमुखीकरण का एक ठेठ विकल्प वह है जिसे **प्रदर्शन** अभिमुखीकरण कहा जाता है, जिसमें छात्र इसलिए काम करते हैं ताकि वे अपने सहपाठियों के साथ बने रहें या उन्हें पछाड़ सकें। यहाँ सफलता को दूसरों की तुलना में स्वयं के प्रदर्शन से नापा जाता है, और शिक्षक भी सीखने के बदले प्रदर्शन पर ध्यान केंद्रित रखता है। फलतः छात्र अपना ध्यान और विचार **क्षमता** पर केंद्रित करते हैं।

प्रवीणता -- प्रदर्शन अंतर लगभग उस व्यक्तिगत-स्पर्धात्मक अंतर के समांतर है, जिसकी चर्चा मैंने कक्षाओं के वातावरण के संदर्भ में की थी। प्रवीणता का नज़रिया उत्प्रेरणा के स्तर को ऊँचा रख सकता है -- क्योंकि सभी छात्र यहाँ अपनी असफलता को क्षमता नहीं बल्कि अपने प्रयास की कमी के रूप में देखेंगे, और उनमें भविष्य में जुटे रहने की प्रेरणा जागेगी। प्रवीणता नज़रिए से ऐसे छात्र भी प्राप्त होते हैं, जो सीखने की अधिक रणनीतियों का उपयोग करते हैं, जो 'क्या मैं यह कर सकती हूँ?' से 'यह मैं कैसे कर सकती हूँ?' की दिशा में बढ़ेंगे।

बॉक्स-2

तुलना के लिए जन्मा

जिस भी व्यक्ति ने बच्चों के किसी समूह के साथ कुछ वक्त गुज़रा हो, उसे जल्दी ही यह अहसास हो जाता है कि वे किसी समय विशेष में किसी भी *चीज़ में*, एक-दूसरे के सापेक्ष स्तर के प्रति बेहद सचेत होते हैं। सीखने के प्रवीण वातावरण भी अपवाद नहीं है, जहाँ शिक्षक सायास तुलना को प्रोत्साहित नहीं करता और बच्चों को स्वतंत्र रूप से काम करने देता है। मैंने प्रवीण कक्षाओं में छोटे छात्रों के बीच कई वार्तालाप सुने हैं, जो बहुत कुछ स्पष्ट करते हैं :

'मैं तो 72 पृष्ठ तक पहुँच भी गया। तुम किस पन्ने पर हो -- सिर्फ 55?!'

'वह सात साल की है, पर पहला स्तर कर रही है, और मैं तो छह का हूँ, पर स्तर 2 कर रहा हूँ!'

वयस्कों तथा बड़े बच्चे भी शायद अधिक भिन्न नहीं होते, तब भी जब वे अपनी बात इतनी खुल कर और साफ-साफ नहीं कहते! मुझे लगता है कि तुलना करने की आवश्यकता को 'खत्म करना' न तो ज़रूरी है, न संभव ही। फिर भी, सामाजिक तुलना, वयस्कों तथा बच्चों में समान रूप से अपनी तरह का तनाव लाती है। और कम से कम इस कारण वैकल्पिक नज़रियों को तलाशना ज़रूरी है।

जिस समय तक हम सभी छात्रों के लिए एक समान पाठ-सामग्री का उपयोग करते रहेंगे, तुलना अपरिहार्य रहेगी। अगर सभी छात्र किसी काम में एक साथ बढ़ रहे हैं, तो कुछ छात्र दूसरों से बेहतर उसे समझेंगे और अधिक जानेंगे। इसके बावजूद अगर हम प्रत्येक छात्र को स्वयं उसके द्वारा तय की गई रफ्तार से बढ़ने दें, कुछ छात्र दूसरों की तुलना में अधिक तेज़ी से बढ़ेंगे। दोनों ही स्थितियों में, छात्रों तथा शिक्षकों के दिमाग में तुलनाएँ उठेंगी। अगर यह बात हमें परेशान करती है तो हमारे सामने दो विकल्प खुलते हैं। पहला तो यह कि हमारी सामग्री पदानुक्रम वाली या एकरेखीय रूप से व्यवस्थित न हो, ताकि छात्र किसी भी क्रम में अपनी गतिविधियों को चुन सकें। दूसरा विकल्प यह है कि प्रत्येक छात्र के लिए बिल्कुल ही भिन्न सामग्री या काम हो। ये दोनों विकल्प अव्यवहारिक सिद्ध हो सकते हैं (सिवाए, शायद भाषा की कक्षा में) -- और नकली भी लग सकते हैं। तुलना को कठिन बनाने वाली परिस्थितियों को रचने और कायम रखने के बदले शिक्षक सतत तुलना के तनाव को कम करने के तरीके भी अपना सकता है।

अव्वल तो हम स्वयं भी प्रोत्साहित करने वाले घटक के रूप में तुलना का उपयोग करने से बच सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम बच्चे से यह न कहें 'वह खत्म करे उससे पहले तुम कर दो', या 'तुम उसके जैसी क्यों नहीं बन सकतीं?' किसी काम को खत्म करने या किसी खास तरह से आचरण करने के निश्चित रूप से किसी दूसरे के समान बनने या उससे बेहतर करने के अलावा भी कई अन्य कारण होंगे! इसके बाद, हम तुलनाओं

को तथ्यात्मक रूप से स्वीकारने में छात्रों की मदद कर सकते हैं, ताकि तुलनाएँ उनके स्व-मूल्य की भावना को प्रभावित न करें। अर्थात् अगर कोई छात्र गणित में अच्छा है तो वह गणित से जूझने वाले छात्रों से किसी बुनियादी अर्थ में 'बेहतर' या अधिक 'चतुर' नहीं है। विभिन्न छात्रों को स्कूल में भिन्न-भिन्न चीज़ें आसान लगती हैं। अतः स्कूली वातावरण ऐसा होना चाहिए, जो अपने पाठ्यचर्या में कई गतिविधियों की अनुमति देता हो ताकि विभिन्न छात्रों की मज़बूतियों को तलाशा जा सके। उदाहरण के लिए, स्कूली वातावरण को यह सशक्त संदेश भी देना चाहिए कि कलात्मक क्षमता *उतनी ही मूल्यवान* है *जितनी* गणितीय क्षमता। ऐसा पाठ्यचर्या से इतर 'अतिरिक्त' या 'सह' गतिविधियों की एक लम्बी सूची जोड़ देने मात्र से हासिल नहीं होगा। भारत में इस क्षेत्र में हमें बहुत दूर जाना है; हम तो अब तक बच्चों को यह तक संप्रेषित नहीं कर पाए हैं कि *भाषा* की क्षमता उतनी ही मूल्यवान है जितनी गणित की क्षमता।

और अंत में हम स्पर्धा को संस्थागत बनाने से बच सकते हैं। इसका ज़ाहिर लाभ है बच्चे को तनाव-मुक्त बनाना, पर बात केवल मात्र इतनी नहीं है। हमारे आधुनिक समाज की अधिकतर संस्थाएँ स्पर्धा को उत्प्रेरणा की बुनियादी शक्ति मानने पर आधारित हैं। परन्तु यह तर्क कि हम सबमें स्पर्धात्मक, आक्रामक वृत्तियाँ होती हैं, कहानी का सिर्फ आधा हिस्सा ही है। हम सबमें सहकार तथा परोपकार की वृत्तियाँ भी होती हैं। शायद हमें विचार कर यह तय कर लेना चाहिए कि हम समाज में *किन* वृत्तियों को प्रोत्साहित और रेखांकित करेंगे, क्योंकि यही स्पर्धात्मक मनोवृत्ति उस अपक्रिया (डिस्फंक्शन) में भी परिणित होती है, जिसे हम अपने इर्दगिर्द देखते हैं (उदाहरण के लिए गरीबी और असमानता)।

शिक्षक कक्षा में प्रदर्शन तथा क्षमता पर बल देने के बदले समझने तथा कोशिश करने पर बल देकर प्रवीणता (मास्टरी) लक्ष्यों को महत्त्वपूर्ण बना सकते हैं। परन्तु व्यावहारिक स्तर पर बात करें, तो कई बच्चे स्वयं भी बेहद प्रदर्शन उन्मुख होते हैं। इससे मेरा तात्पर्य यह है कि वे बिना वयस्कों के उकसाए ही स्वयं स्वतःस्फूर्त रूप से अपनी तुलना अपने मित्रों से करते हैं। यही वह पहली बात है जो लोग तब प्रतिवाद में कहते हैं, जब स्कूल से स्पर्धा 'हटा देने' का सुझाव रखा जाता है; *क्या यह स्वाभाविक नहीं है कि बच्चे एक-दूसरे से अपनी तुलना करें और परस्पर स्पर्धा करें?* बॉक्स-2 शिक्षा के संदर्भ में इस रोचक प्रश्न पर चर्चा करता है।

क्षमता तथा प्रयास संबंधी छात्रों की मान्यताएँ शिक्षकों के आचरण से करीब से जुड़ी हुई हैं। इसलिए हम इस अध्याय को इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के एक भाग से समाप्त करते हैं।

छात्रों की मान्यताएँ व उत्प्रेरण

कैरल ड्वेक एक मनोवैज्ञानिक हैं, जो बुद्धिमत्ता के बारे में छात्र कैसे सोचते हैं, इस छानबीन कर रही हैं। उन्होंने इस क्षेत्र को छात्रों की बुद्धिमत्ता को दरअसल नापने से अधि

ाक समृद्ध शोध का विषय पाया है। ड्वेक के अनुसार अगर कोई छात्र यह मानता है कि बुद्धिमत्ता ऐसी चीज़ है जिसकी मात्रा में **वृद्धि** होती है, जो अधिक सीखने से बढ़ सकती है, तो वह सीखने के प्रति उत्प्रेरित होगा। परन्तु वैकल्पिक सोच यह है कि बुद्धिमत्ता ऐसी वस्तु है जो लगभग एक तयशुदा **तत्व** है, और अगर कोई छात्र इसमें विश्वास करता है तो उसमें चुनौतीपूर्ण सामग्री को सीखने की प्रेरणा भी कम होगी।

1970 के दशक में ड्वेक उन बच्चों का अध्ययन कर रही थीं जो चुनौतीपूर्ण स्कूली काम के सामने एक तरह की 'असहायता' प्रदर्शित करते थे। अन्य बच्चे स्वेच्छा से चुनौतीपूर्ण काम की दिशा में बढ़ते थे, या उसे स्वयं तलाशते भी थे। इस गुत्थी का जवाब बुद्धिमत्ता के विषय में उनके विश्वासों में छिपा लगता था। और ड्वेक ने पाया कि यद्यपि छोटे बच्चे बढ़ने वाली बुद्धिमत्ता में विश्वास करते थे, बड़े होने के साथ उनमें से कुछ उसे एक तयशुदा स्थाई वस्तु मानने लगते थे। तो वह क्या है, जो इस बदलाव को उकसाता है? एक घटक तो यही है, कि वयस्क प्रयत्न के बदले क्षमता की प्रशंसा करने लगते हैं। बच्चे से यह कहना 'यह तो बहुत बढ़िया है, तुम तो बड़े चतुर हो' तत्काल दो चीज़ें करता है। अव्वल तो यह उसे स्वयं के बारे में बहुत अच्छा महसूस करवाता है। पर यह 'अच्छा महसूस करने' की स्थिति वह चतुर है की छवि को कायम रखने पर आश्रित होती है। ऐसे में असफलता का पहला संकेत पाते ही वह छवि टूट भी सकती है। दूसरे, ऐसा कहने का निहितार्थ यह भी है कि अगर वह अच्छा *नहीं करता,* तो इसलिए क्योंकि वह चतुर *नहीं* है। इससे बालक भविष्य में उन परिस्थितियों से बचता है, जिनमें वह असफल हो सकता हो। यह चुनौतीपूर्ण कार्य के समक्ष निम्न उत्प्रेरण में रूपान्तरित होता है।

ड्वेक तथा उनकी सहकर्मी क्लॉडिया म्यूलर ने दस से बारह वर्षीय बच्चों के कई अध्ययन किए, और उनके नतीजों ने इसकी पुष्टि की। छात्रों को संयत रूप से आसान समस्याओं की शृंखला को हल करने को दिया गया; और इसके साथ कुछ बच्चों से कहा गया कि *'तुम इन समस्याओं में बहुत चतुर होगे',* और दूसरों से कहा गया कि *'तुमने इन पर बहुत मेहनत की होगी',* प्रयोग के दूसरे चरण में सभी बच्चों को यह चुनने का विकल्प दिया गया कि वे आगे किस तरह की समस्याओं पर काम करना चाहते हैं -- ऐसे सवाल जो आसान हों, जिनमें मैं अच्छा हूँ, या अधिक कठिन सवाल, जिनसे मैं सीख सकूँ। नतीजों ने दर्शाया कि जिन छात्रों की तारीफ उनकी बुद्धिमत्ता के लिए की गई थी उन्होंने दूसरे चरण के लिए आसान सवाल चुने, जबकि जिनकी प्रशंसा कोशिश के लिए की गई थी, उन्होंने अधिक कठिन सवाल चुने। ड्वेक ने छात्रों से एक अत्यावश्यक सवाल भी पूछा : उन्हें समस्याओं में कितना आनंद आया और क्या वे कुछ सवाल घर ले जाना चाहते हैं ताकि वहाँ उन पर काम कर सकें। यहाँ नतीजे बेहद विचित्र रहे। कुछ बच्चों से यह प्रश्न समस्याओं की पहली कड़ी पूरी होने और तारीफ के फौरन बाद पूछा गया इन बच्चों पर प्रशंसा जिस प्रकार की गई थी, का कोई अंतर नज़र नहीं आया। पर कुछ बच्चों ने

जब सवालों की दूसरी कड़ी भी पूरी कर ली, और उन्हें कहा गया कि उन्होंने पहली बार जितना अच्छा नहीं किया है, और तब जाकर उनसे सवाल पूछा गया। इन बच्चों में जिनकी पहले बुद्धिमत्ता के लिए प्रशंसा की गई थी, उन्होंने अपने आनंद के स्तर को उन बच्चों की तुलना में कम बताया, जिनकी प्रयास के लिए प्रशंसा की गई थी। साथ ही समस्याओं को घर ले जाने के विषय में भी उन्होंने कम आतुरता दिखाई। लगता यह है कि आनंद तथा उत्प्रेरणा में यह अंतर, असफलता अनुभव करने के बाद ही आया।

तो फिर क्या छात्र की क्षमता के वास्तविक स्तर का इस परिघटना से कोई वास्ता ही नहीं है? ड्वेक के अपने शब्दों में : 'छात्रों की क्षमताओं या बुद्धिमत्ता तथा प्रवीणता उन्मुख (मास्टरी ओरिएन्टेड) गुणों के विकास में कोई रिश्ता *नहीं* है। कुछ बेहद प्रतिभाशाली छात्र भी चुनौतियों से बचते हैं, मेहनत को नापसंद करते हैं, और कठिनाइयों के समक्ष मुरझा जाते हैं। और कुछ कम प्रतिभाशाली विद्यार्थी आगे बढ़ चीज़ों से भिड़ने को तैयार होते हैं, चुनौतियों से पनपते हैं, जब चीज़ें कठिन हो जाएँ तो उनसे डटकर जूझते हैं, और आपकी उम्मीदों से अधिक हासिल कर लेते हैं... (परन्तु) अगर प्रवीणता उन्मुख मनोवृत्ति हो तो वह समय के साथ छात्रों को अधिक सक्षम बनाने में मदद करती है।'

निष्कर्ष

उत्प्रेरणा एक स्वाभाविक मानवीय गुण है, जो हम सब में भारी मात्रा में होता है। दुर्भाग्य से सुबह से रात तक हमें जो गतिविधियाँ करनी पड़ती हैं, हम उनमें से प्रत्येक के लिए बेहद उत्प्रेरित नहीं होते। जब मुझे सिंक में ढेरों गंदे बर्तन दिखते हैं, तो मेरी प्रतिक्रिया मेरे उस छात्र से भिन्न नहीं होती, जिसका बस्ता गृहकार्य से भरा हो। उस पल जो भावना हावी होती है वह जो कर डालना है उसके प्रति **विरोध** की ही होती है। कई बार उत्प्रेरणा केवल सामने उपस्थित काम के प्रति विरोध का अभाव ही होता है। छात्रों के उत्प्रेरणा के स्तर को ऊपर उठाने के रास्ते ढूंढ़ने के बदले हम शिक्षक अपना ध्यान पलटकर विरोध ा की शक्ति पर केंद्रित कर सकते हैं। शिक्षक और विद्यार्थी साथ मिलकर यह सीख सकते हैं कि स्वयं में मौजूद विरोध का सामना करने में किस चीज़ की दरकार है। आखिर यह एक ऐसी ताकत है जिसका छात्र आजीवन सामना करेंगे, और स्कूल ही वह सबसे उपयुक्त अवसर है, जहाँ इसके बारे में सीखा जा सकता है।

जब हम अपने छात्रों को प्रेरित करने के लिए डंडे, गाजर या स्पर्धा को चुनते हैं, तो हम विरोध के मुद्दे को दरकिनार कर देते हैं। हमारे देश में हज़ारों-हज़ार बेहद प्रेरित बच्चे हैं, पर उनमें से बहुतों को कभी स्वयं को समझने या अपनी सहज प्रेरणाओं तथा इच्छाओं पर सोच-विचार करने को प्रोत्साहित नहीं किया गया है। अगर बाहरी स्पर्धा के अवलम्ब को हम हटा दें तो उनकी उत्प्रेरणा (मोटिवेशन) और सहज प्रेरणा (ड्राइव) पर क्या असर होगा? अगर आप मानते हैं कि शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी

आत्म-चिंतन करें और अपनी भावनाओं तथा उत्प्रेरणा की स्थिति को बेहतर समझें, तो आप अपनी शाला या कक्षा में, स्पर्धा को उत्प्रेरण की शक्ति के रूप में पूरी तरह से बाहर करने का निर्णय भी ले सकते हैं। पर ऐसे में आप तब निराश भी न हों, जब ऐसा करने के फौरन बाद आपके सभी छात्र जादूई तरीके से, अपना सर्वश्रेष्ठ कर, उम्दा काम करते, और उपलब्धि के आनंद से सराबोर होते नज़र न आएँ! प्रदर्शन तथा क्षमता पर बल देने से हट कर सीखने और कोशिश करने पर बल देने को महज 'हमारे छात्रों को उत्प्रेरित करने के बेहतर तरीके' के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। बल्कि यह तो नए सवालों, नई चुनौतियों, और बेशक नई कुण्ठाओं के लिए दरवाज़ा खोलता है -- इन सभी का अकूत शैक्षणिक मूल्य होता है।

संदर्भ व पुस्तक सूची

1. एम्स, सी., तथा आर.एम्स, 1984। 'सिस्टमस् ऑव स्टूडेंट एण्ड टीचर मोटिवेशनः टुवर्डस् ए क्वॉलिटेटिव डेफिनिशन'। *जर्नल आव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-76, संख्या-4, 535-56
2. एम्स, सी., तथा जे.आर्चर, 1988। 'अचीवमेंट गोल्स इन द क्लासरूम : स्टूडेन्स् लर्निंग स्ट्रैटजीस् एण्ड मोटिवेशन प्रोसेसेस्'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-80, संख्या-3, 260-67
3. एम्स, सी., 1992। 'क्लासरूम्स् : गोल्स्, स्ट्रक्चर्स एण्ड स्टूडेन्ट मोटिवेशन'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-84, संख्या-3, 261-71
4. कोविन्गटन, एम.वी., तथा सी.एल. ओमेलिच, 1979। 'एफर्ट : द डबल एज्ड स्वोर्ड इन अचीवमेंट'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-71, संख्या-2, 169-82
5. डेची, ई.एल., ए.जे. श्वार्ज़, एल. शइनमैन, तथा आर.एम.रायन, 1981। 'एन इन्स्ट्रुमेंट टू असेस एडल्टस्' ओरिएन्टेशन्स् टुवर्ड कंट्रोल वर्सेस ऑटॉनमी विद चिल्ड्रन : रिफ्लेक्शन्स् ऑन इन्ट्रिन्सिक मोटिवेशन एण्ड परसीव्ड कॉम्पीटेन्स'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-73, संख्या-5, 642-50
6. डेची, ई.एल., आर.कोएस्टनर, तथा आर.एम.रायन, 1999। 'अ मेटा-एनलिटिक रिव्यू ऑव एक्सपेरिमेंटस् एक्सामिनिंग द इफेक्टस् ऑव एक्सट्रिंसिक रिवॉर्डस् ऑन इन्ट्रिंसिक मोटिवेशन'। *साइकोलजीकल बुलेटिन,* खण्ड-125, संख्या-6, 627-68
7. आइसनबर्गर, आर., तथा जे. कैमेरॉन, 1996। 'डैट्रिमेंटल इफेक्टस् ऑव रिवॉर्ड : रिएलिटी ऑर मिथ?' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-51, संख्या-11, 1153-66
8. गिअरी, डी.सी., 1996। 'द एवल्यूशन ऑव कॉग्निशन एण्ड द सोश्यल कंस्ट्रक्शन ऑव नॉलेज'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-51, संख्या-3, 265-66
9. ग्राउत्जे एफ.एम.ई., टी.कैसर, ए.आहुविया, जे.एम.एफ.डोल्स, वाय.किम, एस.लाउ, आर.एम.रायन, एस.सॉन्डर्स, पी.श्मुक, तथा के.एम.शैल्डन, 2005। 'द स्ट्रक्चर ऑव गोल कन्टेनस् अक्रॉस 15 कल्चर्स'। *जर्नल ऑव पर्सनैलटी एण्ड सोश्यल साइकॉलजी,* खण्ड-89, संख्या-5, 800-16
10. हैन्डरलॉन्ग, जे., तथा एम.आर.लेप्पर, 2002। 'द इफेक्टस् ऑव प्रेज़ ऑन चिल्ड्रन्स इन्ट्रिंसिक मोटिवेशन : अ रिव्यू एण्ड सिन्थेसिस'। *साइकोलॉजिकल बुलेटिन,* खण्ड-128, संख्या-5, 774-95

11. हॉपकिन्स, जी., 2005, 'हाऊ कैन टीचर्स डेवलप स्टूडेन्टस् मोटिवेशन एण्ड सक्सेस? एन इन्टरव्यू विद कैरल एस.ड्वेक'। *एज्युकेशन वर्ल्ड,* स्कूल इश्यूस्, 2005

12. म्यूलर, सी.एम., तथा सी.एस.ड्वेक, 1998। 'प्रेज़ फॉर इन्टैलिजेन्स कैन अन्डरमाइन चिल्ड्रन्स् मोटिवेशन एण्ड परफॉर्मेन्स'। *जर्नल ऑव पर्सनैलिटी एण्ड सोश्यल साइकॉलजी,* खण्ड-75, संख्या-1, 33-52

13. रीव, जे., ई.बोल्ट, तथा वाय.काई, 1999। 'ऑटॉनमी सर्पोटिव टीचर्स : हाऊ दे टीच एण्ड मोटिवेट स्टूडेन्टस्'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-91, संख्या-3, 537-48

14. रीव., जे., तथा एच.यांग, 2006। 'वॉट टीचर्स से एण्ड डू टु सपोर्ट स्टूडेन्टस् ऑटॉनमी ड्यूरिंग अ लर्निंग एक्टिविटी'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-98, संख्या-1, 209-18

15. रायन, आर.एम., तथा ई.एल.डेची, 2000। 'सेल्फ-डिटर्मिनेशन थियोरी एण्ड द फेसिलिटेशन ऑव इन्ट्रिंसिक मोटिवेशन, सोश्यल डेवलपमेंट एण्ड वैल बीइन्ग'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-55, संख्या-1, 68-78

❑❑❑

अध्याय नौ

सीखने को नापना

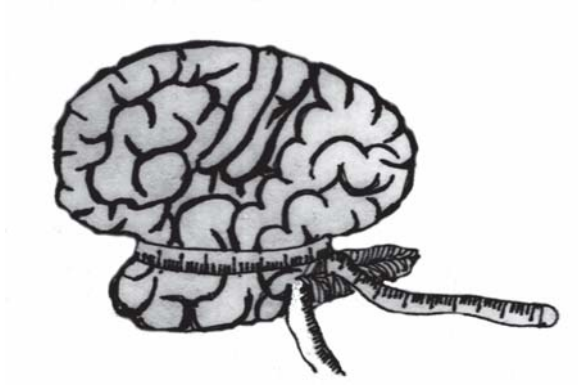

'मूल्यांकन', 'परीक्षण' तथा 'परीक्षाओं' के इतने अधिक नकारात्मक सहसंबंध हैं कि इस विषय पर एक संतुलित अध्याय लिखना एक असंभव कार्य लग सकता है! फिर भी यह नकारा नहीं जा सकता कि मूल्यांकन अध्यापन का एक अभिन्न हिस्सा है, चाहे वह औपचारिक हो या अनौपचारिक, एक-एक छात्र का अलग से किया जाए या अनेक छात्रों का सामूहिक रूप से। हम अक्सर किसी परीक्षा या जाँच को सीखने की प्रक्रिया के अंतिम बिन्दु के रूप में सोचते हैं। परन्तु मूल्यांकन को सीखने की प्रक्रिया के साथ भी बुना जा सकता है, और इसका एक अच्छा उदाहरण कक्षा परीक्षाएँ हैं -- जो शिक्षकों द्वारा बनाई जाती हैं, बीच-बीच में होती हैं, कक्षा कार्य से संबद्ध होती हैं, और जिनका उपयोग छात्रों और शिक्षकों को सतत् प्रतिपुष्टि देने के लिए किया जाता है। इसे **निर्माणात्मक मूल्यांकन** (फॉर्मेटिव असेसमेंट) कहते हैं, यह छात्रों को अपनी मज़बूतियों और कमियों को देखने में मदद करता है, और शिक्षक अपने निर्देशों को इसके अनुसार अधिक बेहतर बना पाते हैं। दूसरी तरह का मूल्यांकन **संकलित** मूल्यांकन (समेटिव असेसमेंट) होता है;

यह बाहर से थोपा जाता है, उसमें बहुत कुछ दाँव पर लगा होता है और छात्रों का तुलनात्मक मूल्यांकन करता है (साथ ही शिक्षकों तथा स्कूलों का भी)। यह अध्याय उन मुद्दों की चर्चा करता है जो निर्माणात्मक तथा संकलित, दोनों ही प्रकार के मूल्यांकन पर लागू होते हैं।

परीक्षा का एक मोहक इतिहास रहा है, नागरिक सेवाओं के लिए सामूहिक परीक्षा की प्राचीन चीनी प्रणाली (जिसमें आवेदकों को कविताएँ तथा दार्शनिक लेख लिखने पड़ते थे): से लेकर यूनानी (सुकरात) परीक्षण विधि, जिसमें शिक्षण भी साथ ही बुना होता था; और आज की तमाम परीक्षाओं तक, जिनका हमारे सभी छात्र सामना करते हैं। परीक्षा हमेशा से शिक्षा का शाप नहीं रही है; दरअसल परीक्षण में हुई प्रगति, जैसे कुख्यात 'बहु-विकल्प' प्रश्नों का उनके समय में स्वागत किया गया था और उनकी प्रशंसा की गई थी। मूल्यांकन पूर्णतः विचारहीन या अन्यमन्सक अन्वेषण नहीं रहा है -- परन्तु इसमें शंका भी नहीं है कि आज इसमें कई बातें गलत हैं। हमें भारत में मूल्यांकन की समस्याओं को स्वीकारना तथा उन्हें जाँचना चाहिए, तभी हमें उन्हें दुरुस्त भी कर सकेंगे। मैं इनमें से कुछ मुद्दों को नीचे केवल सूचीबद्ध कर रही हूँ -- वे सुविदित हैं अतः उनके लिए अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है:

- **पढाने का काफी समय** परीक्षाओं की तैयारी करने, उन्हें लेने, और उनसे उबरने में लगाया जाता है।
- शिक्षकों और छात्रों दोनों के ही लिए **उत्प्रेरणा** सीखने की प्रक्रिया से हटकर परिणामों पर केंद्रित हो गई है।
- पाठ्यचर्या परीक्षाओं द्वारा आकार पाती हैं (इसे **करिक्यूलम बैकवॉश** या पाठ्यचर्या उलट प्रवाह इफैक्ट कहते हैं) और जब परीक्षाएँ बेहद ज्ञान आधारित होती हैं, तो पाठ्यचर्या समझने या ज्ञान को उपयोग करने पर कम ध्यान देती है।
- छात्र परीक्षाओं के बारे में सतत **दुश्चिंता** महसूस करते हैं।
- परीक्षाएँ **शिक्षकों** को भी तब **चिंताग्रस्त** बनाती हैं, जब वे छात्रों के प्रदर्शन के लिए स्वयं को ज़िम्मेदार मानते हैं।
- परीक्षाएँ किशोरों में **नकल** को प्रोत्साहित करती हैं, जो यह सोचते हैं कि शिक्षा का मतलब किसी चीज़ को सीखने के बदले अच्छे अंक पाना है।
- 'ऊँचे दाँव' वाली परीक्षाओं के परिणाम **अन्यायपूर्ण** हो सकते हैं और असंख्य युवाओं के लिए अवसादजनक।

उपरोक्त सूची के पहले तीन मुद्दे दरअसल परंपरागत परीक्षाओं की संकीर्ण रटन्त तथा परिणाम-उन्मुख प्रकृति से उपजते हैं। अगर परीक्षाओं के आधार को अधिक व्यापक,

गुणात्मक तथा प्रक्रिया-उन्मुख बना दिया जाए, तो ये गायब भी हो सकते हैं। सरल शब्दों में कहें, तो *बच्चों को हम जो कुछ सिखाना चाहते हैं और जिसकी परीक्षा ली जाती है, हम जिस तरह सिखाना चाहते हैं और जिस तरह परीक्षा ली जाती है उसमें बेहतर मेल होना ज़रूरी है।* उदाहरण के लिए, अगर शिक्षिका सिन्धु घाटी की सभ्यता पर अपने छात्र-छात्राओं के साथ एक लम्बी और गहन परियोजना करती है, जिसमें साक्ष्यों का खुला विश्लेषण हो, तथा विवेचनात्मक चिंतन पर बल दिया गया हो, तो संभव है कि उसके छात्र ऐसी परीक्षा में अच्छा न करें जो 'तथ्यों' पर आधारित हो और जिसमें निम्नोक्त में मेल बैठाओ तथा सही-गलत जैसे प्रश्न शामिल हों। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्यार्थियों ने सिन्धु घाटी की सभ्यता या इतिहास के बारे में कुछ भी नहीं सीखा है। बल्कि इसके विपरीत संभवतः उन्हें इतिहास की विधियों और प्राचीन सभ्यताओं का अधिक बेहतर अहसास हुआ होगा जिसे दर्शाने की अनुमति उनकी परीक्षा नहीं दे रही। परन्तु अगर शिक्षिका ऐसी परीक्षा ले सके, तो यह मेल सही बैठ सकेगा। ऐसे परिदृश्य में 'परीक्षा के लिए पढ़ाना' तथा पाठ्यचर्या 'उलट प्रवाह' (बैकवॉश) समस्याओं के रूप में उभरेंगे भी नहीं।

क्या परीक्षा लेने के ऐसे तरीके भी हैं? कुछ वास्तविक समाधान विकसित हुए हैं, जैसे खुले प्रश्न (ओपन एन्डेड क्वैश्चन्स), निदर्शन (डेमान्स्ट्रेशन्स्), प्रदर्शनियाँ, अ-गतिक (नॉन-स्पीडेड) परीक्षाएँ, सहयोगी (कोलेबोरेटिव) परीक्षाएँ, तथा पोर्टफोलियो। इन सबको मिलाकर प्रामाणिक आँकलन (ऑथेन्टिक असेस्मेंट) तकनीक कहा जाता है, और इनको छोटे तौर पर कुछ स्थानों में सख्ती से लागू किया गया है। शोध ने दर्शाया है कि कई स्तरों पर प्राणामिक आँकलन, परंपरागत व्यापक परीक्षण पद्धतियों से कहीं श्रेष्ठ है। प्रामाणिक आँकलन परीक्षाओं से जुड़े भावनात्मक तथा नैतिक मुद्दों को भी संबोधित करता है। परन्तु प्रामाणिक आँकलन को व्यापक स्तर पर स्वीकृति पाने और उपयोग किए जाने में भारी अड़चने हैं। छात्रों को बड़ी संख्याओं के चलते प्रामाणिक आँकलन को अपनाने में जितने समय की ज़रूरत होगी वह हमारी शिक्षा पद्धति जितना समय देना चाहती है उससे कहीं अधिक होगा। परीक्षा पद्धति में पूरा बदलाव लाने में कठिनाई का

दूसरा कारण हमारा यह भय है कि आँकलन की वैकल्पिक विधियों को अपनाने पर हम वस्तुनिष्ठता को खो देंगे। यह महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, जिसे हम इस अध्याय के बाद में आने वाले भाग में संबोधित करेंगे। मौजूदा परीक्षा विधियों की समस्याओं को बेहतर समझने और विकल्पों का मूल्यांकन कर पाने के लिए, हमें पहले मापन सिद्धान्त की कुछ बुनियादी चीज़ों को समझना होगा।

मनोवैज्ञानिक परीक्षण का ककहरा

आँकलन जो कुछ सीखा गया है उसका मापन है और ऐसे किसी भी माप में दो मूल गुण होने आवश्यक हैं, **वैधता** तथा **विश्वसनीयता**। वैधता वह सीमा है, जिस सीमा तक कोई परीक्षा वह मापती है, जिसे नापने की उससे उम्मीद की जाती है; संभव है कि आपको यह कथन चक्रीय लगे, पर इस भाग के खत्म होने तक आप इसे बेहतर समझ सकेंगे। विश्वसनीयता वह सीमा है जिस हद तक परीक्षा मापन त्रुटि से मुक्त हो। इसका अर्थ उदाहरण के लिए यह है कि बार-बार परीक्षण करने पर भी आपको एक समान नतीजे मिलें। अध्ययन के किसी भी क्षेत्र में मापन में स्वीकार्य सीमा की वैधता तथा विश्वसनीयता होनी चाहिए, परन्तु आप देख ही सकते हैं कि स्वीकार्य दरअसल क्या है, यह उस क्षेत्र पर आश्रित होता है। मनोविज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्र में हम वैधता तथा विश्वसनीयता के उस उच्च स्तर की उम्मीद नहीं रख सकते, जितनी, उदाहरण के लिए भौतिकशास्त्र में होती है। आइए हम देखें कि मापन के ये दो गुण अकादमिक आँकलन के संदर्भ में कैसे काम करते हैं।

मान लें मैंने किसी छात्रा को सांख्यिकी की कक्षा में औसत, माध्यिका तथा बहुलक (मीन, मीडियन, मोड) के बारे में पढ़ाया है। मैंने उसे इनका आँकलन करना, उनके गुण, तथा उनका उपयोग व दुरुपयोग भी समझा दिया है। स्वाभाविक है कि मैं यह जानना चाहूँगी कि मेरी छात्रा ने उस पाठ में क्या-क्या समझ लिया है। नया सीखा गया उस छात्रा के मस्तिष्क में जटिल तरीकों से कूट संकेतों में दर्ज होता है, लाखों स्नायुकोशिकाओं में अंतर्संबंधों के नमूनों (पैटर्नों) के रूप में। काश कोई ऐसा तरीका होता जिससे उसके मस्तिष्क को 'स्कैन' कर हम यह सुनिश्चित कर पाते कि सब कुछ अंदर बैठ गया है। कल्पना करें कि, अगर परीक्षाओं और जाँचों के बदले छात्रों को हर साल के अंत में दर्दहीन मस्तिष्क स्कैन भर करवाना पड़ता। ऐसा माप बेहद विश्वसनीय तथा वैध भी होता -- पर वह ईजाद नहीं हुआ है।

उसने क्या सीखा यह जानने के लिए मुझे अपनी छात्रा को *एक संदर्भ देना होगा, ऐसा कोई काम जिसे करने के लिए उसे वह सब काम मुं लेना पड़ेगा जो उसने सीखा है।* यह एक कार्यपत्रक (वर्कशीट), 'एक गृहकार्य' या एक अकादमिक परीक्षा भी हो सकती है। छात्रा इसमें जैसा **प्रदर्शन** करती है उसे प्रदर्शन को मुझे उसकी कुशलता (कम्पीटेन्स) (ज्ञान, कौशल स्तर तथा समझ) के बारे में कुछ निष्कर्ष निकालने की अनुमति भी देनी होगी। इस प्रकार यह कार्य सीखने को मापने का उपकरण बन जाता है। ठीक उसी तरह जैसे कोई धातु की फुटपट्टी, या वज़न तोलने की मशीन, या रक्त चाप नापने का उपकरण अलग-अलग चीज़ों को नापते हैं। परन्तु धातु की फुटपट्टियाँ अकादमिक परीक्षाओं के विपरीत अविवादास्पद उपकरण होती हैं। धातु की फुटपट्टियों के फायदों पर बहस करते लोग आपको नहीं मिलेंगे, या वे उनको लेकर दुखी होते नहीं दिखेंगे। जिस कारण परीक्षाएँ इतनी विवादास्पद हैं और हमें उन पर इतना ध्यान देना पड़ता है उसका संबंध परिभाषा वैधता तथा विश्वसनीयता की समस्याओं से है। हम इन मुद्दों को बारी-बारी देखेंगे।

धातु की फुटपट्टी का उद्देश्य लम्बाई नापना है। लोग लम्बाई की परिभाषा पर सहमत हैं (एक शब्दकोश उसे 'सिरे से सिरे तक की दूरी' कहता है); उदाहरण के लिए, हम किसी को यह तर्क करते नहीं सुनते कि किसी रेखा की लम्बाई वह कोण होनी चाहिए जो वह पृथ्वी की उत्तर-दक्षिण धुरी से बनाती हो। परिभाषा पर सहमति के कारण धातु की फुटपट्टी लम्बाई नापने का काम बखूबी करती है। ज़ाहिर है कि फुटपट्टी वह नापती है, जिसे नापने की उससे अपेक्षा की गई थी 'सिरे से सिरे तक की दूरी' को -- और इस कारण यह एक **वैध** उपकरण है। साथ ही धातु की फुटपट्टी से बार-बार नाप लेने पर

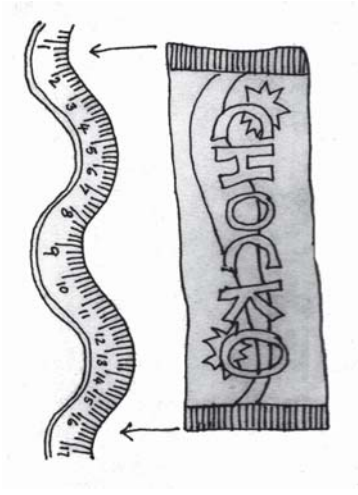

हमें तकरीबन वही लम्बाई मिलती है, और यह बात इस उपकरण को **विश्वसनीय** बनाती है। बिना वैधता और विश्वसनीयता के यह उपकरण वास्तव में बेकार होगा। किसी टेढ़ी फुटपट्टी की कल्पना करें या ऐसी फुटपट्टी की जिसके किनारे लहरदार हों -- यह अवैध उपकरण होगा। या किसी अंशांकित (कैलिबरेटेड) रबर बैण्ड से लम्बाई नापने की कल्पना करें -- यह अविश्वसनीय उपकरण होगा।

अब हम अकादमिक परीक्षा के मामले को देखें, जिसका उद्देश्य छात्रों के ज्ञान और उनकी समझ को नापना है। हम फौरन यह देख सकते हैं कि हमारे पास ठीक वैसा वैध और विश्वसनीय उपकरण नहीं है जैसी फुटपट्टी होती है। किसी इन्सान का कद नापना आसान है, परन्तु किसी अवधारणा की उसकी समझ का स्तर गुप्त व गत्यात्मक होता है, और उसका अनुमान इन्सान के आचरण से लगाना पड़ता है। अतः अव्वल तो हमें ज्ञान तथा समझ की परिभाषा पर सहमति की ज़रूरत है, उसी तरह की सहमति जैसी लम्बाई की परिभाषा पर थी।

एक शिक्षक के रूप में स्वयं से यह पूछना रोचक होगा कि आप ज्ञान तथा समझ को कैसे परिभाषित करेंगे। काफी संभव है कि आपका जवाब कुछ ऐसा हो : मेरा छात्र तब समझ गया होता है जब वह क, ख या ग कर सके। यह उत्तर अमूमन मापन प्रक्रिया के संदर्भ में होता है; हम कहते हैं कि समझ दरअसल प्रश्नों की एक शृंखला का सही उत्तर देने की क्षमता है। परन्तु समस्या प्रश्नों के चयन में होती है। प्रत्येक व्यक्ति समझ की एक खास परिभाषा से सहमत नहीं होगा, और सभी लोग प्रश्नों के एक खास चयन से भी सहमत नहीं होंगे। परिभाषा संबंधी इस बुनियादी समस्या को भूलना आसान है, खासकर समय के इस दौर में जहाँ परीक्षाओं में प्रदर्शन ही बुद्धिमत्ता तथा समझ का पर्याय बन चुका हो। शिक्षकों के लिए यह अभ्यास बेहद प्रबुद्ध करने वाला होगा, अगर वे पीछे हट कर स्वयं से पूछें 'क्या यह जाँच या परीक्षा उस सार तक पहुँचती है जो मैं चाहती हूँ कि मेरे छात्र सीखें? किसी विषय के कौन से ऐसे पक्ष हैं जिन पर मैं चाहती हूँ कि मेरे छात्र महारत हासिल करें? वे क्षमताएँ कौन-सी हैं जो कुशल (कॉम्पीटेंट) छात्रों और श्रेष्ठ (एक्सलेंट) छात्रों के बीच अंतर को स्पष्ट करेंगी?'

आप देख ही सकते हैं कि कोई परीक्षा *पूर्णतः वैध* हो यह असंभव है, परन्तु अवैधता के भी कई स्तर होते हैं। कुछ परीक्षाएँ इतनी अवैध होती हैं कि वे बेकार हों; तो कुछ अन्य

इतनी वैध कि उपयोगी हों। किसी परीक्षा की वैधता का मूल्यांकन करने के अलग-अलग तरीके हैं, पर दुर्भाग्य से प्रत्येक की अपनी-अपनी समस्याएँ भी हैं!

- एक आसान तरीका यह देख लेने का है कि क्या परीक्षा के प्राप्तांक छात्र की समझ के बारे में शिक्षक के अनुमान से सहसंबद्ध हैं या नहीं। दूसरे शब्दों में, अगर किसी परीक्षा के नतीजे आपको बिल्कुल आश्चर्यजनक लगें (जिन छात्रों की आप अच्छी दखल मानते थे, उन्हें बहुत कम अंक मिलें या फिर इससे ठीक उल्टा हो) तो आप उस परीक्षा को वैध नहीं मान सकते। इस मानदण्ड के अनुसार कई परीक्षाएँ काफी ठीक लगती हैं। अर्थात् अधिकांश शिक्षकों को लगता है कि परीक्षाएँ तब वैध हैं जब उनके अच्छे छात्र अच्छा करते हैं और कमज़ोर छात्रों का प्रदर्शन खराब होता है। परन्तु इस तर्क में एक संभाव्य चक्रिक खामी है। शिक्षकों के रूप में 'अच्छे' या 'कमज़ोर' छात्रों की हमारी छवियाँ हमारी कक्षा में जो काम हम उनके लिए रचते हैं, उस पर आधारित होती हैं। और ये सारे काम व्यवस्था जिस प्रकार की जाँचें और परीक्षाएँ लेती है उनसे सशक्त रूप से प्रभावित होते हैं। जब तक कि शिक्षकों के अनुमानों का कोई स्वतंत्र आधार न हो, ये अनुमान हमेशा ही परीक्षा प्राप्तांकों से सहसंबद्ध होंगे।
- परीक्षाओं की वैधता को जाँचने का एक दूसरा तरीका है यह देखना कि किसी परीक्षा के प्राप्तांक *अन्य परीक्षाओं के प्राप्तांकों से अच्छी तरह सहसंबद्ध हैं या नहीं*। इस प्रकार की वैधता की समस्या यह है कि सभी परीक्षाएँ, कुछ तथ्यों को रट लेने की छात्रों की क्षमता को ही नापती हैं। अतः अगर वे परस्पर अच्छी प्रकार से सहसंबद्ध लग सकती हैं, परन्तु इसका अर्थ यह फिर भी नहीं होता कि उनमें से कोई भी समझ को जाँच रही हो।
- परीक्षा की वैधता को जाँचने का एक और तरीका है यह देखना कि वह *वास्तविक जीवन में व्यक्ति के प्रदर्शन से कितनी सहसंबद्ध* है। अगर हम दावा करते हैं कि किसी विषय विशेष की समझ को उस 'क्षेत्र में' दक्षता की दिशा में ले जाना चाहिए, तो वह सहसंबध भी ऊँचा होना चाहिए। इसके साथ एक समस्या यह है कि वास्तविक जीवन की परिस्थितियाँ अकादमिक परीक्षा की परिस्थितियों से नाटकीय रूप से भिन्न होती हैं। वास्तविक जीवन में लोग एक-साथ मिलकर एक अधिक लम्बे समय तक, स्वयं को उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर, खुली समस्याओं पर काम करते हैं। परन्तु परीक्षा ठेठ रूप में; व्यक्तिपरक व समयबद्ध होती हैं। अमुक्त प्रश्नों (क्लोज़्ड-एन्डेड) तथा बन्द किताबों के साथ ली जाती हैं। इसलिए विभिन्न अध्ययनों ने पाया है कि स्कूली प्रदर्शन कॉलेज प्रदर्शन के साथ अच्छी सहसंबद्धता दर्शाता है, परन्तु कॉलेज के बाद सहसंबद्धता काफी टूटती सी लगती है। उदाहरण के लिए, भारतीय प्रशासनिक सेवाओं (आईएएस) की परीक्षाओं में काफी सामान्य

ज्ञान की ज़रूरत होती है, परन्तु एक सफल अफसर बनने के लिए अच्छे अन्तरवैयक्तिक कौशलों, सहज बुद्धि तथा ईमानदारी की ज़रूरत होती है।

अतः जहाँ अकादमिक परीक्षाओं का सवाल उठता है परिभाषा तथा वैधता दोनों ही पेचीदा मुद्दे हैं। अब विश्वसनीयता की ओर मुड़ते हैं, क्या हम कह सकते हैं कि बार-बार लेने से क्या परीक्षा के नतीजे तकरीबन एक से होंगे? एक लचीले रबर बैण्ड से लम्बाई नापने का मामला याद है? कोई शंका नहीं कि हमें ऐसा उपकरण निकम्मा ही लगेगा। ठीक इसी तरह अगर कोई परीक्षा, हमें हर बार दोहराए जाने पर समान परिणाम नहीं देती तो फिर भला वह उपयोगी कैसे हो सकती है?

विश्वसनीयता का प्रश्न दरअसल दीर्घकालिक स्मृति को कुछ संकेतों के सहारे, याद करते (रीकॉल) समय फिर से निकाल पाने (रिट्रीवल) से जुड़ा है। हेनरी रोएडिगर, जो बार-बार दोहराए जाने वाली परीक्षा के प्रभाव में रुचि लेने वाले मनोवैज्ञानिक हैं, उन्होंने पाया कि किसी बात को निकाल पाना परिवर्तनशील तथा संगतिहीन होता है। अर्थात् जब किसी छात्र की एक ही सामग्री पर अलग-अलग समय परीक्षा ली जाए, तो वह हमेशा एक-सा जवाब नहीं देगा। अक्सर उसे बाद की परीक्षाओं में ऐसी चीज़ें याद आएँगी जो पहले ली गई परीक्षाओं में नहीं आई थीं (और बेशक यह बीच में किसी दोहराव के बिना हो)। बार-बार परीक्षण नई स्मृतियों को उत्पादित करता लगता है! इन नई स्मृतियों को 'प्रतिप्राप्त' (रिकवर्ड) स्मृतियाँ कहते हैं, और रोएडिगर के अध्ययन दर्शाते हैं कि प्रतिप्राप्त स्मृतियाँ अपवाद होने के बदले मानक ही हैं। अक्सर प्रदर्शन में यह सुधार भूलने के कारण आई कमी से अधिक था।

हम जिन बातों को जानते हैं उन्हें स्मृति से निकालने में असंगतियों के कारण हम एक ही बार ली गई परीक्षा के परीणामों को अधिक अहमियत नहीं दे सकते (*खासकर* जब यह परीक्षा अधिकतर स्मृति की परीक्षा हो)। किसी भी परीक्षा के प्राप्तांकों में मापन की कुछ त्रुटि हमेशा रहती है। हालाँकि हम मापन त्रुटि को बिल्कुल सही-सही नहीं बता सकते, इतना तो निश्चित है कि यह कई प्रतिशत बिन्दुओं में होती है। बेशक यह त्रुटि इतनी तो होती है कि हम प्रतिशत बिन्दुओं के दशमलवों के आधार पर छात्रों में भेद करें तो यह अनुचित होगा। उदाहरण के लिए अगर किसी छात्र को 88 प्रतिशत अंक मिलते हैं, तो उसके वास्तविक प्राप्तांक 84 प्रतिशत से 92 प्रतिशत के बीच कहीं भी हो सकते हैं। अतः वह 85 प्रतिशत पाने वाले किसी छात्र से स्पष्टतः बेहतर नहीं है।

इसलिए, मुझे लगता है कि प्रश्न यह है : हम किसी परीक्षा को धातु की फुटपट्टी जैसा कैसे बना सकते हैं? और उत्तर यह है : हम किसी परीक्षा की गुणवत्ता को बेहतर बना सकते हैं, पर वह कभी भी धातु की फुटपट्टी के समान वैध या भरोसेमंद नहीं हो सकती।

इसका मतलब यह हुआ कि हमें अपनी प्राप्तांकों की व्याख्या को बदलने की ज़रूरत है। फिलहाल हम जिस भोलेपन से संख्याएँ जो कहती हैं उसे स्वीकारते हैं वह अनुचित है। अगला भाग संक्षेप में इस बात की चर्चा करता है कि परीक्षा के अंकों का उपयोग कैसे किया जाता है।

परीक्षा प्राप्तांकों की व्याख्या

अगर हमारी धातु की फुटपट्टी कुछ (हालाँकि पूरी तरह नहीं) त्रुटिपूर्ण होती तो हम उसके नतीजों की व्याख्या भी सतर्कता के साथ करते। इसी प्रकार जब कोई शिक्षक कक्षा में अपने छात्रों का आँकलन निर्माणात्मक आकलन (फार्मेटिव असैसमेंट) के आधार पर करता है, तो उसके परिणामों को परिशुद्ध निष्कर्षों के बदले, एक कार्यात्मक प्राक्कल्पना (हापोथिसेस) या अनुमान ही माना जाता है। यह अनुमान तब शीघ्र ही बदल या त्याग दिया जाता है, जब शिक्षक कुछ और छानबीन करे, और प्रश्न पूछे, या किसी दूसरी तरह से परीक्षा ले। शिक्षक यह जानते हैं कि छोटी कक्षा परीक्षाओं या उनके द्वारा दिए गए कार्यों के नतीजों के आधार पर दृढ़ निष्कर्षों तक नहीं पहुँचा जा सकता। परन्तु संकलनात्मक परीक्षाओं (समेटिव एक्ज़ामिनेशन) के परिणामों को प्राक्कल्पना या अनुमान नहीं माना जाता। हम इन संख्याओं को कुछ ऐसा मानते हैं, मानो वे एक बेहद उम्दा तरीके से बनाई गई धातु फुटपट्टी द्वारा दर्शाई गई लम्बाईयाँ हों! ऐसी परीक्षाओं के परिणाम बहुत देर से आते हैं और इतने अविशिष्ट (अनस्पेसिफिक) होते हैं कि प्रतिपुष्टि (फीडबैक) के रूप में भी उपयोगी नहीं होते। अतः इसके बदले उनका उपयोग छात्रों के बारे में **निर्णय** लेने के लिए किया जाता है (भावी अवसरों के रूप में किसे क्या मिलेगा)। साथ ही उनका उपयोग **शिक्षकों,** स्कूलों तथा शिक्षा बोर्डों के **मूल्यांकन** के लिए भी किया जाता है। ये उपयोग ऐसी परीक्षाओं को 'ऊँचे दाँवों' वाली परीक्षाएँ बना डालते हैं।

भारत में परीक्षा प्राप्तांकों का उपयोग मुख्यतः बच्चों के विषय में बेहद महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने के लिए किया जाता है। अगर कोई प्रवेश बोर्ड या भावी नियोक्ता किसे चुनना और किसे अस्वीकार करना है के विषय में निर्णय लेने के लिए किसी एक संख्या पर निर्भर करता है, तो गलतियाँ हो सकती हैं। क्योंकि यह संख्या दरअसल परीक्षा प्राप्तांकों के एक नमूने (सैम्पल) की प्राक्कल्पित कथावस्तु (हाइपोथैटिकल प्लॉट) को किसी नौकरी में कार्य प्रदर्शन के माप के विरुद्ध रखती है -- *अगर सभी आवेदकों को नौकरी दी जानी हो।* इन दोनों के बीच का सहसंबंध काफी सशक्त होता है : आप यह देख सकते हैं कि सबसे ज़्यादा अंक पाने वाला नौकरी में अच्छा प्रदर्शन करेगा, और कम अंक पाने वाले अच्छा प्रदर्शन नहीं करेंगे। परन्तु कम अंक पाने वालों का एक छोटा समूह ऐसा भी होता है जिनका प्रदर्शन संतोषजनक हो, और अधिक अंक पाने वालों का एक दूसरा छोटा समूह ऐसा भी होता है जिनका कार्य प्रदर्शन संतोषजनक न हो। अगर केवल उन लोगों

को नौकरियों दी जाएँ जिनके प्राप्तांक (जो ग्राफ में एक रेखा के रूप में दर्शाए गए हों) विभेदक रेखा (कट-ऑफ) से ऊपर हों, तो यह निर्णय दोनों ही छोटे समूहों के लिए गलत होगा। और संभव है कि ये समूह दरअसल उतने छोटे भी न हों।

जैसे-जैसे परीक्षा प्राप्तांकों तथा कार्य-प्रदर्शन के बीच का संबंध कमज़ोर होता जाता है (और यह मसला वैधता से जुड़ा है) गलतियों की संख्या भी बढ़ती जाती है, जैसा आप दूसरी आकृति में देख सकते हैं। बेशक बिल्कुल विशुद्ध निर्णय जैसी कोई चीज़ भी नहीं होती, जो उपरोक्त त्रुटियों से मुक्त हो। परन्तु अगर हम परीक्षा की वैधता को सुधारने के लिए कुछ नहीं कर सकते, फिर भी हम कम से कम निर्णय लेने के लिए एकाधिक मानदण्ड तो अपना ही सकते हैं।

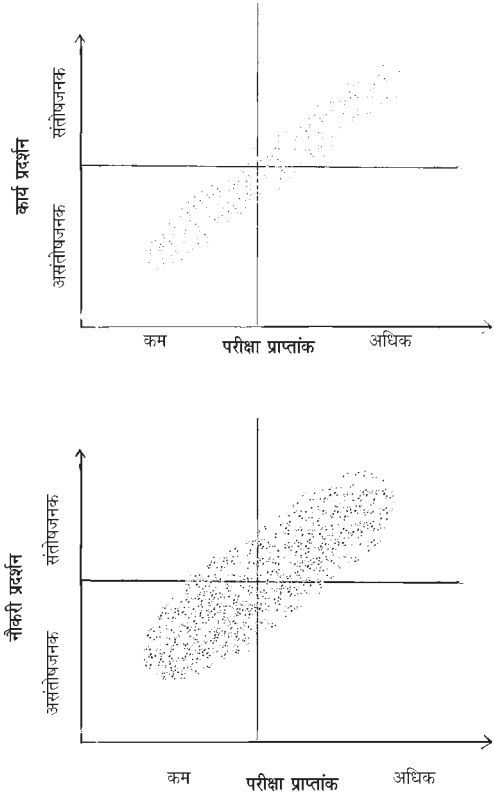

शिक्षकों तथा कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिए भी परीक्षा प्राप्तांकों का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका में, शिक्षकों तथा स्कूलों को प्राप्तांकों के

आधार पर पुरस्कृत या दण्डित किया जाता है -- शिक्षकों को वेतन वृद्धि मिल सकती है या उन्हें नौकरी से निकाला जा सकता है, और कम औसत अंक वाली शालाओं पर सरकार द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ 'काबिज' हो सकते हैं। यह रोचक है कि संयुक्त राज्य में किए गए एक अध्ययन ने, शिक्षकों के एक समूह ने उन पर लादे जाने वाले उच्च दाँवों वाले परीक्षण के ज़ोरदार विरोध का दस्तावेज़ीकरण किया था। उनकी नकारात्मक भावनाएँ कुछ तो स्वाभाविक रूप से इसलिए भी थीं, क्योंकि इन परीक्षाओं द्वारा उनका 'परीक्षण' भी हो रहा था और खराब नतीजों के लिए उन्हें जवाबदेह माना जा रहा था। परन्तु इस अध्ययन ने यह भी दर्शाया कि शिक्षक इस तथ्य से भी चिंतित थे कि परीक्षाएँ अच्छी अध्यापन विधियों तथा सार्थक सीखने की अनुमति नहीं देतीं। इस आलेख की लेखिकाएँ, जो मेरी ए. बार्क्सडेल-लैड तथा कैरन थॉम्पसन थीं, ने शिक्षकों के कई उद्वेलित करने वाले उद्धरण शामिल किए हैं, मैं उनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत कर रही हूँ:

'ज़रा सोचें कि आप तब क्या कर सकते, अगर आप परीक्षा लेने और परीक्षा देने की तैयारी करने में लगने वाले समय का पढ़ाने में उपयोग कर पाते। परीक्षाएँ बहुत ज़्यादा ही ली जाती हैं';

'बच्चों को परीक्षा के लिए तैयार करने के वास्ते उन्हें असली शिक्षकों की ज़रूरत ही नहीं है। दरअसल मुझे तो यह लगता है कि वे ऐसा करने के लिए कम्प्यूटर प्रोग्राम विकसित कर सकते हैं';

'परीक्षा के लिए सीखना सार्थक नहीं है... प्राप्तांक ज़रूर बढ़ते हैं, पर बच्चे कम जानते हैं, और लोगों के रूप में भी कमतर होते हैं'; और,

'मेरा खयाल है कि उनकी (परीक्षाओं की) परिकल्पना इसलिए की गई क्योंकि सब सोचते हैं कि खराब शिक्षकों की संख्या बहुत अधिक है, और इनसे खराब शिक्षक सुधर सकेंगे। पर ऐसा होता नहीं है; बल्कि सच तो यह है कि परीक्षाएँ खराब शिक्षकों को बहाना उपलब्ध करवाती हैं ताकि वे वह जारी रख सकें जो वे हमेशा से करते आए हैं -- ढेरों कौशल (स्किल) तथा दोहराव (ड्रिल)। यह तो खराब अध्यापन का ही लाइसेंस है।'

लोगों तथा कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिए परीक्षा के उपयोग में जो समस्या है, वह मुख्यतः आँकलन की खराब गुणवत्ता से उपजती है। इस अंतिम भाग में, हम अकादमिक परीक्षाओं की वैधता तथा विश्वसनीयता को बढ़ाने के तरीकों को देखेंगे।

मूल्यांकन को सुधारना

परीक्षण किस चीज़ का किया जाना है, उसकी परिभाषा अगर अधिक समृद्ध हो तो मूल्यांकन को लाभ हो सकता है, और प्रामाणिक मूल्यांकन के लक्ष्यों में एक यह भी है। जहाँ खराब परीक्षाएँ केवल स्मृति को ही मापती हैं, बेहतर परीक्षाएँ स्मृति, समझ तथा

उपयोग को माप सकती हैं। इससे भी बेहतर परीक्षाएँ कई महत्त्वपूर्ण कौशलों का मूल्यांकन कर सकती हैं, जैसेः

- खुली समस्याओं का समाधान,
- समस्याओं का गठन,
- पूर्वधारणाओं का गठन व उन्हें स्पष्ट करना,
- समूह में काम करना,
- नए विचारों के प्रति खुलापन,
- आंकड़ों से निपटना,
- बहु-संदर्भों का उपयोग करना,
- असफलता के बावजूद जुटे रहना,
- स्व-मूल्यांकन तथा स्व-संशोधन,
- सूचनाओं की मौखिक प्रस्तुति,
- अव्यवस्था में व्यवस्था लाना।

मूल्यांकन को ऐसी व्यापक सूची पर आधारित करना दो कारणों से अच्छा है। अव्वल तो ये कौशल ऐसे हैं जिनको वास्तविक जगत में मूल्यवान माना जाता है; जो मूल्यांकन इनको शामिल करता है वह अधिक वैध भी होगा। दूसरे, ऐसे मूल्यांकन का जो 'पलट-प्रवाह' (बैक वॉश) प्रभाव शिक्षण तथा पाठ्यचर्या पर होगा वह भी सुधार ही लाएगा। याद करें कि पलट-प्रवाह का मतलब शिक्षकों तथा पाठ्यचर्या की उस प्रवृत्ति से है जिसके चलते वे स्वयं को परीक्षाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप बना डालते हैं। अतः बेहतर मूल्यांकन बेहतर शिक्षण विधियों की दिशा में ले जाएगा -- कम से कम परीक्षाओं में सुधार लाने के कई व्यापक प्रयासों के पीछे यही आशा रही है।

प्रामाणिक मूल्यांकन के एक सु-शोधित स्वरूप को **पोर्टफोलियो विधि** कहा जाता है। मनोवैज्ञानिक स्कॉट पेरिस तथा उनके सहकर्मी पोर्टफोलियों को छात्रों के उन कार्यों के एक संचयन के रूप में परिभाषित करते हैं जो उसकी दैनिक कक्षा पाठ्यचर्या तथा अध यापन का प्रतिनिधित्व करते हों। अमरीका के कई स्कूलों में छात्रों के पोर्टफोलियो का उपयोग पूरक तथा अधिक सार्थक मूल्यांकन के रूप में सफलतापूर्वक किया गया है। प्रत्येक पोर्टफोलियो किसी छात्र या छात्रा के कक्षा कार्य, तथा कक्षा में उसके प्रदर्शन के विविध प्रमाणों का प्रतिनिधित्व करता है। किसी भी अतिरिक्त कार्य की आवश्यकता नहीं पड़ती, सिवा उपयुक्त उदाहरणों को चुनने के, और यह चयन छात्रों के साथ मिलकर किया जा सकता है। इस प्रकार छात्रा स्वयं स्व-मूल्यांकनकर्ता बन जाती है। वह स्वयं से पूछती है, 'क्या यह काम उस चेष्टा या कौशल को दर्शाता है, जिसे मैं साझा करना चाहती

हूँ?' पेरिस सुझाते हैं कि पोर्टफोलियो में तीन भिन्न प्रकार के प्रमाण शामिल किए जाएँः प्रदर्शन (छात्र जो कुछ पढ़/लिख/कलन कर सकता है उसके रोज़मर्रा के उदाहरण), प्रक्रिया (रणनीतियों तथा विधियों का प्रमाण) तथा बोध (पर्सेप्शन) (लिखित आत्म-चिंतन या स्व-मूल्यांकन)।

मूल्यांकन में एक हालिया नवाचार है **सहयोगी परीक्षण** (कोलैबोरेटिव टेस्टिंग)। फिलिप ज़िम्बार्डो, जो गत पचासेक वर्षों से एक विख्यात मनोवैज्ञानिक हैं, ने हाल में परीक्षा को लेकर दुश्चिंता तथा उसे कैसे कम किया जाए पर ध्यान देना प्रारंभ किया है। उन्होंने अपने ही मनोविज्ञान के पाठ्यक्रमों में एक नए विचार को आजमाने का निर्णय लिया। छात्रों को यह विकल्प दिया गया कि वे अपनी परीक्षा अपने सहपाठियों में से अपनी इच्छा से चुने गए किसी एक साथी के साथ मिलकर या अकेले दे सकते हैं! उन्हें कहा गया कि सहयोगी युगल एक ही पर्चा प्रेषित करेगा और उन्हें एक ही ग्रेड (समान अंक) दिया जाएगा -- कोई भी व्यक्तिगत काम नहीं होगा। एक दिलचस्प विचार; आपको क्या लगता है कि छात्रों ने इस प्रस्ताव पर कैसी प्रतिक्रिया की होगी? तकरीबन 40 प्रतिशत छात्रों ने एक साथी के साथ परीक्षा देना चुना। जिन छात्रों ने अकेले परीक्षा देना चुना उनमें से अधिकांश ने ऐसा इसलिए किया क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं उनका साथी कम काम न करे। परन्तु 'जोड़ों' में से 20 प्रतिशत ने ही बताया कि उन्होंने पढ़ाई का 'काम' बाँटा'; अधिकतर ने पूरे हिस्सों को या जितना भी वे अकेले परीक्षा के लिए पढ़ते, उतनी पढ़ाई की। परिणामों ने दर्शाया कि जिन छात्रों ने सहयोग से परीक्षा दी उन्हें औसतन कई बिन्दु अधिक अंक मिले, बजाए उनके जिन्होंने अकेले परीक्षा दी। साथ ही उन्हें पाठ्यक्रम में भी अधिक मज़ा आया, उन्होंने अपना ज्ञान अधिक बाँटा, और उन्हें परीक्षा को लेकर चिंता भी कम हुई। उन्होंने ज़िम्बार्डो से कहा कि वे अपने पाठ्यक्रम में सहयोगी परीक्षा का अधिक उपयोग पसंद करेंगे। जैसा ज़िम्बार्डो कहते हैं, हालाँकि दुश्चिंता को साझा करना तनाव को कम करता है, यह इसलिए अधिक मूल्यवान है क्योंकि यह वास्तविक दुनिया की ही तरह साझे काम पर बल देता है। छात्रों को एक-दूसरे के साथ तालमेल करना पड़ता है, बाँटना, और सहकार करना पड़ता है, और ये कौशल आज किसी भी कार्यस्थल के लिए बेहद कीमती कौशल हैं।

तीसरा उदाहरण है **रुबरिक्स** (निर्देश शीषर्क) का उपयोग। मान लें कि

किसी छात्र ने अरब-इज़्रायल संघर्ष पर एक लेख लिखा है, और उसके शिक्षक को उसे दस में से अंक देने हैं। उसे जो अंक मिलते हैं वे एक साथ कई मानदण्डों को परिलक्षित करते हैं : स्पष्टता, संबंधित मुद्दे, समझ की गहराई, भाषा का परिष्कार, आदि। इस परिस्थिति के लिए निर्देश शीर्षक गढ़ने हों तो हमें इन मानदण्डों को सूचीबद्ध करना होगा। तब, प्रत्येक मानदण्ड में छात्र के प्रदर्शन स्तर को शब्दों में वर्णित किया जा सकेगा। उदाहरण के लिए स्पष्टता के मानदण्ड के विभिन्न स्तर इस प्रकार हो सकते हैं।

1. विभिन्न बिन्दुओं को स्पष्ट नहीं किया गया है, लेख मोटेतौर पर अस्पष्ट (कन्फ्यूज़्ड) है।
2. कुछ बिन्दु स्पष्ट है, शेष अस्पष्ट हैं।
3. कई स्पष्ट बिन्दु हैं, पर कुछ अस्पष्ट क्षेत्र हैं।
4. सभी बिन्दु बिल्कुल स्पष्ट हैं, पूरा लेख बिल्कुल स्पष्ट है।

इसी तरह का काम हमें उपरोक्त सभी मापदण्डों के लिए करना होगा और तब हमें जो मिलेगा वह एक आव्यूह (मैट्रिक्स) या रुबरिक्स होगा। कई स्कूली प्रणालियों में रुबरिक्स का उपयोग उम्दा नतीजों के साथ किया गया है। रुबरिक का सबसे बड़ा फायदा है छात्रों पर पड़ने वाला उसका प्रभाव, तब जब उन्हें अपना काम पूरा करने के पहले रुबरिक दिखा दिया जाए। इससे वे मानकों के प्रति सचेत हो जाते हैं और अपनी क्षमतानुसार उन्हें हासिल करने को प्रोत्साहित होते हैं।[1]

---

1. 'पशुओं का वज़न लेने से वे मोटे-ताज़े नहीं हो जाते!' ये शब्द सुविख्यात शिक्षाविद एल्बर्ट शैंकर द्वारा कहे गए थे, जो संकेत करना चाहते थे कि केवल परीक्षा लेने से बच्चे अधिक चतुर नहीं बन जाते। इस बात को स्वीकारने तथा उनके कहने की शैली की प्रशंसा के बाद हम इस उपमा को इस प्रकार आगे बढ़ा सकते हैं। अगर पशु वज़न तोलने की मशीन को पढ़ सकते, स्वयं मोटे होना चाहते, और यह भी जानते होते कि मोटा कैसे हुआ जा सकता है, तो क्या होता? इसे 'मानकों को अपनाना' कहते हैं, और यह परीक्षाएँ देने वाले छात्रों पर लागू होता है। अगर छात्रों को अपने ही सीखने से सक्रिय रूप से जोड़ा जा सके, अगर उन्हें अच्छे प्रदर्शन के स्तर बता दिए जाएँ, वे उन स्तरों को 'अपना' लेंगे। वे किसी मूल्यांकन के नतीजों का उपयोग अपने सीखने को सुधारने के लिए करेंगे। और तब गायों का वज़न लेना उन्हें दरअसल मोटा *बनाएगा*।

मूल्यांकन के विभिन्न वैकल्पिक तरीकों की सफलता तथा उनके फायदों को देख यह विचार उठता ही है कि उनको सभी स्थानों पर अपनाया क्यों नहीं गया है। अगर हम उन्हें अपना लें तो हमें क्या खो देने का भय सताता है? उत्तर संभवतः यह हैः वस्तुनिष्ठता और आसान संख्यात्मक विभाजन रेखाएँ। प्रामाणिक मूल्यांकन में गुणवत्ता के कई आयामों के विषय में मानवीय फैसले की आवश्यकता पड़ सकती है। जो शिक्षक लेखों पर अंक देते हैं, वे ऐसा पहले ही करते हैंः वे शैली, स्पष्टता, विस्तार, आदि-इत्यादि पर निर्णय करते हैं। लेखों के मूल्यांकन की विश्वसनीयता पर की गई प्रारंभिक शोध काफी निराशाजनक थी। उससे यह स्पष्ट हुआ कि जब दो अलग-अलग व्यक्ति एक ही लेख पर अंक देते हैं तो सहमति बहुत कम होती है, और जब एक ही व्यक्ति एक ही लेख को अलग-अलग समय जाँचता है, तब भी उसका मत भिन्न होता है। इस तथ्य ने हमें ऐसे मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठता के प्रति बेहद शंकालु बना दिया है। दूसरी समस्या बेशक, यह है कि हमें सरल सार अंकों (समरी नम्बर्स) की आदत पड़ चुकी है, जिनके आधार पर हम किसी छात्र की 'लियाकत' पर निर्णय करते हैं।

इस गतिरोध से निकलने का क्या कोई रास्ता है? हमें गुणात्मक मूल्यांकन (क्वॉलिटेटिव असेसमेंट) पर फिर से दृष्टि दौड़ानी होगी, क्योंकि इसे पूरी तरह खारिज करने से हमारे पास मौजूदा प्रणाली तथा उसकी समस्याओं के कोई विकल्प ही नहीं रहेंगे। गुणात्मक मूल्यांकन की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो हमें चिंताजनक लग सकती हैं।

- हम जानते हैं कि कुछ मामलों में प्रदर्शन के मानदण्ड काफी पैने होते हैं, इस अर्थ में कि वहाँ स्पष्टतः सही और गलत नज़र आते हैं। इसके उदाहरण हमें गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र, और शायद वर्तनी तथा व्याकरण में मिलते हैं। परन्तु इस भाग के प्रारंभ में सूचीबद्ध किए गए कई कौशलों के मानदण्ड संभवतः 'धुंधले' होंगे। उदाहरण के लिए एक लेख में 'बिल्कुल स्पष्ट' व 'बिल्कुल अस्पष्ट' के बीच कई संभाव्य स्थितियाँ हो सकती हैं।
- गुणात्मक मूल्यांकन व्यक्तिनिष्ठ होता है, अतः जाँचते समय संख्या आगे ले जाने के (कैरी ओवर) प्रभाव (किसी एक छात्र के प्रदर्शन को इसलिए अच्छा मान लेना, क्योंकि उससे पहले के छात्र का प्रदर्शन बेहद कमज़ोर था); प्रभामंडल प्रभाव या हेलो इफैक्ट का (जब छात्रों की व्यक्तिगत छवियाँ हमारे मूल्यांकन को प्रभावित करती हैं); जो व्यक्ति जाँच रहा हो उसके व्यक्तित्व के प्रभाव का (कठोर या उदार स्वभाव); और बाह्य प्रभाव का (सफाई या हस्तलेख); शिकार हो सकता है।
- प्रदर्शन कई मानदण्डों का एक साथ होने वाला मिला-जुला कार्य है। इसका मतलब यह हुआ कि आप दो छात्रों की किसी एक आयाम में तुलना कर ही नहीं सकते।

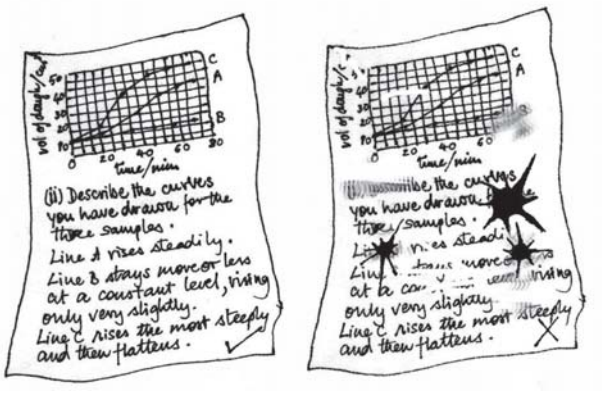

लग यह सकता है कि इन समस्याओं से बचा जा ही नहीं सकता परन्तु शायद इस अहसास से मदद मिले कि 'व्यक्तिनिष्ठ' का अर्थ आवश्यक रूप से स्वेच्छाचारी या पूर्वग्रह युक्त नहीं होता, और वस्तुनिष्ठता स्वयं भी एक भ्रम मात्र हो सकती है। एक बहु-विकल्प प्रश्नपत्र बनाने के विभिन्न चरण -- प्रश्नों का चयन, उन्हें पूछने के लिए प्रयुक्त शब्द, विभिन्न मदों की व्याख्या -- भी अपने आप में व्यक्तिनिष्ठ होते हैं। हालाँकि अंतिम चरण, जिसमें कितने उत्तर 'सही' हैं इसका निर्णय लिया जाता है, वह वस्तुनिष्ठ ही होता है। गुणात्मक मूल्याँकन के मामले में वस्तुनिष्ठता को प्रशिक्षित शिक्षकों के एक समूह का मतैक्य कह परिभाषित किया जाना चाहिए। यह मतैक्य तब हासिल किया जा सकता है जब (1) मूल्यांकन की प्रक्रियाओं को सावधानी से स्पष्ट किया जाए; (2) शिक्षकों को इन प्रक्रियाओं में प्रशिक्षित किया जाए; और (3) शिक्षकों में पारस्परिक परामर्श की व्यवस्था की जाए ताकि वे मतैक्य निर्मित कर सकें। और भी बेहतर हो कि इन मानदण्डों को सार्वजनिक कर दिया जाए और अन्य शिक्षकों, बच्चों के माता-पिताओं कॉलेजों, नियोक्ताओं तथा स्वयं छात्रों को उपलब्ध करवा दिया जाए। जब शिक्षक इन प्रक्रियाओं में प्रशिक्षित हो जाएँ और उनसे परिचित हो जाएँ तो गुणात्मक मूल्याँकन भी परंपरागत मूल्यांकन से अधिक कठिन नहीं सिद्ध होना चाहिए।

एक अंतिम बिन्दु यह है कि किसी एकल बार ली गई परीक्षा या परीक्षण घटना को सर्वोच्च महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। निर्णय लेने को कई बार में और परीक्षाओं में फैलाया जाना चाहिए। इस तरीके से हम शिक्षकों तथा छात्रों की असंगतियों के प्रभाव को न्यूनतम कर सकेंगे और अंतिम परिणाम को अधिक विश्वसनीय बना सकेंगे। फिर भी यहाँ एक अधिक गहरा सूत्र भी है : जो इस अध्याय को भली-भाँति समेट लेता है। **हालाँकि हम अधिकांशतः प्रदर्शन को मापते हैं, हम दरअसल जिसे मापना चाहते**

हैं वह दक्षता है। दक्षता को बेहतर मापने का एकमात्र तरीका है विभिन्न कौशलों के प्रदर्शन के उदाहरणों को, एक अवधि के दौरान विभिन्न संदर्भों में मापना।

निष्कर्ष

भारत की 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा में एक भाग आँकलन तथा मूल्यांकन पर है। हमने यहाँ जो मुद्दे उठाए हैं, उनमें से कई को स्वीकारने के अलावा यह दस्तावेज सुधार संबंधी कुछ ठोस सुझाव भी जोड़ता है। इसके उदाहरण हैं, खुली किताब के साथ परीक्षा, समय सीमाहीन परीक्षा, गणित तथा अंग्रेज़ी की परीक्षाओं को दक्षता के दो या तीन स्तरों में प्रस्तावित करना, शिक्षकों तथा अन्य पेशेवरों की सहायता से बढ़िया परीक्षाओं का एक कोष तैयार करना, और दसवीं तथा बारहवीं कक्षा के अंत में ली जाने वाली परीक्षाओं के अलावा शेष सभी बोर्ड परीक्षाओं को समाप्त कर देना। ये सुझाव विवेकवान मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं, जैसा कि इस अध्याय ने दर्शाया है। अगर इन्हें लागू किया जाए तो ये भारत में मूल्यांकन की शक्ल को सच में बदल देंगे।

आँकलन तथा मूल्यांकन को बदलने का सबसे बड़ा कारण है, छात्रों द्वारा महसूस किया जाए वाले दबाव का बोझ। सामान्यतः स्कूल कई बच्चों के लिए एक तनावपूर्ण अनुभव हो सकता है। बालकों को विविध प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। आगामी अध्याय शिक्षा के संदर्भ में भावनात्मक स्वास्थ्य के मुद्दों को देखता है।

संदर्भ तथा पुस्तक सूची

1. बार्क्सडेल-लैड, एम.ए., तथा के.एफ.थॉमस, 2000। 'व्हॉट्स एट स्टेक इन हाई-स्टेक्स् टैस्टिंग : टीचर्स एण्ड पेरेन्ट्स स्पीक आउट'। *'जर्नल ऑव टीचर एज्युकेशन,* खण्ड-51, संख्या-5, 384-97

2. ब्ज़ॉर्क, आर.ए.,1999। 'असेसिंग आवर ओन कॉम्पीटेन्स : ह्यूरिस्टिक्स एण्ड इल्यूशन्स्'। डी.गोफर तथा ए.कोरिएट (संपादित) अटेन्शन एण्ड परफॉर्मेन्स XVII, *कॉग्निटिव रेग्युलेशन ऑव परफॉर्मेन्सः इन्टरएक्शन ऑव थियोरी एण्ड एप्लिकेशन में शामिल*। केम्ब्रिज एमए : एमआईटी प्रेस।

3. चेंग, एल., 1997। 'हाऊ डज़ वॉशबैक इन्फ्लुएन्स टीचिंग? इम्पलिकेशन्स् फॉर हाँगकाँग'। *'लैंग्वेज एण्ड एज्युकेशन',* खण्ड-11, संख्या-1, 38-54

4. डिएटेल, आर.जे., जे.एल.हर्मन, तथा आर.ए.क्नूथ, 1991। 'व्हॉट डज़ रिसर्च से अबाउट असेसमेंट?' नॉर्थ सेंट्रल रीजनल एज्युकेशनल लैबोरेटरी, http://www.ncrel.org/sdrs/areas/stw_esys/4ssess.htm।

5. हॉपकिन्स, जी., 2005। 'हाऊ कैन टीचर्स डेवलप स्टूडेन्टस्' मोटिवेशन एण्ड सक्सेस? एन इन्टरव्यू विद कैरल एस.ड्वेक' *'एज्युकेशन वर्ल्ड,* स्कूल इश्यूस्, 2005

6. मून, टी.आर., सी.एम.ब्राइटन, सी.एम.कैलहैन, तथा ए.रॉबिन्सन, 2005, 'डेवलपमेंट ऑव ऑथेन्टिक असेसमेंट फॉर द मिडल स्कूल क्लासरूम'। *द जर्नल ऑव सैकेण्डरी गिफ्टेड एज्युकेशन,* खण्ड-XVI, संख्या-2/3, 119-33

7. रोएडिगर III, एच.एल., तथा ई.जे.मार्श, 2005। 'द पॉज़िटिव एण्ड नेगेटिव कॉन्सिक्वेन्सेस् ऑव

मल्टीपल चॉएस टेस्टिंग।' *जर्नल ऑव एक्सपेरिमेंटल साइकॉलजी : लर्निंग, मेमरी एण्ड कॉग्निशन,* खण्ड-31, संख्या-5, 1155-59

8. शॉग्नेस्से, एम.एफ., 2002। 'एन इन्टरव्यू विद हेनरी एल.रोएडिगर III', *एज्युकेशनल साइकॉलजी रिव्यू',* खण्ड-14, संख्या-4

9. स्टैचर, बी.एम., *कॉन्सीक्वेन्सेस् ऑव लार्ज स्केल, हाई-स्टेक्स् टेस्टिंग ऑन स्कूल एण्ड क्लासरूम प्रैक्टिस। 79-100*

10. ज़िम्बार्डो, पी.जी., एल.डी.बटलर तथा वी.ए.वॉल्फ, 2003। 'कोऑपरेटिव कॉलेज एक्सामिनेशन्सः मोर गेन, लैस पेन व्हेन स्टूडेन्टस् शेयर इन्फरमेशन एण्ड ग्रेडस्'। *जर्नल ऑव एक्सपेरिमेंटल एज्युकेशन,* खण्ड-71, संख्या-2

❑❑❑

अध्याय दस

भावनाएँ, सीखना तथा भावनात्मक स्वास्थ्य

विश्व की सैकड़ों भाषाओं में से जिस भाषा को सीखना शिक्षकों के लिए सबसे ज़रूरी है वह संभवतः 'शरीर की भाषा' (बॉडी लैंग्वेज) है। शिक्षकों को कुछ संकेतों को पढ़ना आना चाहिए, जैसे पथराया भाव, शैतानी भरी नज़रें, रूखे और फूले मुँह, क्योंकि ये छात्रों की आंतरिक भावनाओं के सुराग हैं। अकादमिक संदर्भों में छात्रों को जो महसूस होता है, उन्हें *अकादमिक भावनाएँ* कहते हैं और ये भावनाएँ छात्रों के विभिन्न प्रकार के परिणामों को प्रभावित करती हैं, जैसे उत्प्रेरण, बोध, उपलब्धि, शारीरिक स्वास्थ्य और मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य। हम सब जानते हैं कि अगर कोई छात्र दुखी, चिंतित या गुस्से में हो, तो उसे पाठ का बहुत कम हिस्सा समझ में आएगा। और अगर वह एकाग्रचित्त, रुचिवान, और भयमुक्त हो तो वह बेहतर सीखेगी। पर यह तो हिमशैल की नोक भर है; स्कूली कार्य तथा स्कूली प्रदर्शन से संबंधित तमाम तरह की भावनाओं को छात्र अनुभव करते हैं।

आदर्श स्थिति में, हमें हमारे छात्रों की भावनात्मक स्थिति पर उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना हम उनके अकादमिक शिक्षण पर देते हैं। इसके बावजूद किसी ठेठ स्कूली परिस्थिति में किसी शिक्षिका या शिक्षक के लिए अपने प्रत्येक छात्र-छात्रा की भावनात्मक आवश्यकताओं को संबोधित करना बेहद कठिन होता है -- छात्रों की संख्या इतनी

अधिक और समय कितना कम जो होता है। क्योंकि अकादमिक भावनाओं को संबोधित करने में जो समय व ऊर्जा की ज़रूरत होती है वह हम दे नहीं पाते, शायद इसलिए हम उनको पूरी तरह नज़रअंदाज कर देते हैं। यहाँ तक कि हम सीखने में उनके महत्त्व तक को नकार सकते हैं, स्वयं को यह भरोसा दिला सकते हैं कि भावनाएँ 'अप्रासंगिक' हैं, और पढ़ाई तथा परीक्षाओं की तैयारी जैसे ज़रूरी कामों के लिए उन्हें परे धकेला जा सकता है। पर ऐसा करना एक गंभीर गलती होगी।

एक बात तो यह है कि सीखने में भावनाओं की उपस्थिति और उनकी शक्ति को अगर हम नहीं स्वीकारते, तो पढ़ाने की अपनी कीमती ऊर्जा को ही नाली में बहा देने का जोखिम हमारे समक्ष रहता है। अधिक बुनियादी स्तर पर भावनाएँ उत्प्रेरण तथा बोध से जटिल रूप से गुंथी होती हैं और ये तीनों मिल-जुल कर स्कूली शिक्षण का आधार बनाती हैं। हालाँकि हमें लगता यह है कि अपने वर्णनों में उनको पृथक किया जा सकता है, वास्तविकता में वे अलग-थलग की ही नहीं जा सकतीं। उदाहरण के लिए कोई छात्रा कक्षा में खिंची-खिंची, सीखने का विरोध करती, या महज आक्रामक हो सकती है। इन तीनों आचरणों के स्रोत *साझे रूप में* उसकी मान्यताओं या दृष्टिकोणों में स्थित होते हैं, *साथ ही* क्रोध, शर्म तथा अपराधबोध जैसी नकारात्मक भावनाओं में भी। इसी तरह कक्षा की शैक्षणिक गतिविधियों के प्रति छात्रों का आकर्षण और जुड़ाव भी इन गतिविधियों के मूल्य या महत्त्व में छात्रों की आस्था में स्थित होता है *साझे रूप में,* और साथ ही ऊब, रुचि, प्रेम व आनंद जैसी भावनाओं में भी।

मनोवैज्ञानिक आन्टोनियो दामासियो तथा मेरी हैलेन इम्मॉरदीनो-यांग ने एक हालिया आलेख में यह बात बेहद सशक्त रूप से रखी है। भावनाओं को एक काँच के सामान की दुकान में चीज़ों को छेड़ने वाले एक नन्हे बच्चे के रूप में न देख, हमें उन्हें एक ऐसे आले के रूप में देखना चाहिए जिस पर काँच का सामान रखा हुआ हो! हम जब विशुद्ध तार्किक विचार या बोध को पटरी से उतारने वाली भावना की बात करते हैं तो हम 'या तो यह या-फिर वह' के रूप में सोचने लगते हैं। परन्तु जैसे यांग तथा दामासियो संकेत देते हैं कि विवेचना तथा सीखने में दरअसल प्रत्यक्ष बोध (पर्सेप्शन) तथा सामाजिक प्रतिपुष्टि (सोश्यल फीडबैक) की भूमिका होती है, जो एक भावनात्मक प्रक्रिया है।

अगर हम छात्रों की भावनाओं पर ध्यान देने के महत्त्व को स्वीकार लें, पर साथ ही ऐसा कर पाने की अपनी क्षमता में सीमित भी हों तो, हमारे समक्ष क्या कोई समाधान बचता है? छात्रों के भावनात्मक स्वास्थ्य की देखभाल का एक दूसरा, अधिक व्यापक नज़रिया है, और वह ऐसे स्कूली वातावरण को तैयार करना है, जो अवैयक्तिक (इम्पर्सनल) तथा स्पर्धात्मक होने के बदले, स्नेहपूर्ण और समर्थन देने वाले हो। इस अध्याय से मैं यह संप्रेषित करने की आशा करती हूँ कि परंपरागत रूप से प्रदर्शन तथा तुलनात्मक

मूल्यांकन पर जो बल दिया जाता है, वह छात्रों में हानिकारक भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ जगाता है। मैंने जानबूझकर 'हानिकारकार' जैसे सशक्त शब्द का प्रयोग किया है -- कुछ भावनात्मक स्थितियाँ सीखने की प्रक्रिया को, सहपाठियों के साथ संबंधों को, माता-पिता तथा शिक्षकों के साथ रिश्तों को, और छात्रों के मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य को हानि पहुँचा सकती हैं। और यह बात तब भी सच होती है, जैसा आप देखेंगे, जब मसला 'सकारात्मक' भावनाओं, जैसे गर्व और आशा से जुड़ा हो। प्रदर्शन पर दिए जाने वाले शैक्षणिक बल के चलते, हम अपने बच्चों के लिए कुछ खास कर नहीं सकते, सिवा हानिकारक भावनाओं से निपटने में उनकी मदद करने के। और निपटना बेहद असंतोषजनक समाधान है! दूसरी ओर बच्चों के लिए एक समर्थक वातावरण अकादमिक भावना के मुद्दे को अधिक सकल रूप से संबोधित करता है। बेशक, बच्चों के लिए समर्थक वातावरण, जो सर्वाधिक व्यापक अर्थ में हो, का मतलब होगा कि आज हमारे जो सामाजिक, शैक्षिक तथा पारिवारिक मूल्य हैं, उससे बिल्कुल भिन्न मूल्य हमारे हों। यद्यपि हम सबको उस स्तर पर भी काम करने की ज़रूरत है, अगर हममें से प्रत्येक अपने छात्रों के भावनात्मक जगत से तालमेल बैठा सके, तो हमें इसका भारी प्रतिफल मिलेगा।

आगामी हिस्सा अकादमिक भावनाओं से आपको परिचित करवाएगा और उनमें से दो की गहन छानबीन करेगा -- ये हैं आनंद तथा दुश्चिंता।

अकादमिक भावनाएँ

एक अभ्यास के रूप में आप उन अकादमिक भावनाओं की सूची बना सकते हैं, जो आपको लगता है कि छात्र ठेठ स्थितियों में अनुभव करते हैं, और तब उनकी तुलना बॉक्स-1 में दी गई सूची से कर सकते हैं। यह सूची

बॉक्स-1

गतिविधि संबंधित भावनाएँ	
मज़ा (उत्तेजना तथा विश्रांति,	जब गतिविधि को मूल्यवान माना जाए और सीखने पर
दोनों ही स्थितियों में)	नियंत्रण हो।
कुण्ठा	जब गतिविधि को मूल्यवान माना जाए और नियंत्रण कम हो।
ऊब	जब गतिविधि को मूल्यवान न समझा जाए।
परिणाम संबंधित भावनाएँ	
प्रत्याशित भावनाएँ	
प्रत्याशित आनंद	जब सफलता की उम्मीद हो।
निराशा	अब असफलता की उम्मीद हो।

आशा	जब परिणाम अनिश्चित हो, पर ध्यान सफलता पर केंद्रित हो।
चिंता	जब परिणाम अनिश्चित हो, पर ध्यान असफलता पर हो।
संस्मरणात्मक भावनाएँ	
आनंद	जब सफलता हासिल हो जाए।
दुख	जब सफलता हासिल न हो सके।
हताशा	जब उम्मीद सफलता की हो, पर ऐसा हो न सके।
राहत	जब उम्मीद असफलता की हो पर ऐसा न हो।
सामाजिक भावनाएँ	
गर्व	जब स्वयं को सफलता का कारण माना जाए।
शर्म	जब बेहद कोशिश के बावजूद असफलता मिले।
कृतज्ञता	जब सफलता को किसी दूसरे की सहायता, जैसे शिक्षिका की मदद के कारण माना जाए।
क्रोध	जब असफलता को किसी दूसरे व्यक्ति के कारण माना जाए।

मनोवैज्ञानिक राइनहार्ड पेकरन तथा उनके सहकर्मियों द्वारा, जर्मनी के स्कूलों से प्राप्त, गुणात्मक आंकड़ों के आधार पर संकलित की गई है।[1] छात्रों से कहा गया था कि वे कक्षा के दौरान, घर में पढ़ाई करते समय, और परीक्षाओं के समय अपनी भावनाओं का वर्णन करें। इन मौखिक बयानों से मनोवैज्ञानिकों ने उनका वर्गीकरण किया तथा उनका स्पष्टीकरण भी दिया, जैसा कि बॉक्स-1 में दर्शाया गया है। दुश्चिंता सबसे आम भावना थी (जिन भावनाओं को छात्रों ने बताया उनमें 15 प्रतिशत से 25 प्रतिशत चिंता की भावना रही)। परन्तु अगर हम इन भावनाओं को ज़ाहिर अर्थ में 'सकारात्मक' तथा 'नकारात्मक' का ठप्पा लगा वर्गीकृत करें तो, परिणामों ने यह दर्शाया था कि सकारात्मक तथा नकारात्मक भावनाओं की बारंबारता लगभग बराबर थी।

उपरोक्त तालिका एक रोचक बिन्दु यह भी दर्शाती है कि उपलब्धि-संबंधी भावनाओं की

1. शोध के किसी नए क्षेत्र की छानबीन के लिए अमूमन यह एक अच्छा नज़रिया सिद्ध होता है, क्योंकि गुणात्मक, वर्णनात्मक, खुली प्रतिक्रियाएँ तमाम जटिलताओं तथा संभावित परिवर्तनशील घटकों को उद्घाटित कर देती हैं।

यहाँ भरमार है -- अर्थात् ऐसी भावनाओं की जो सफलता या असफलता की प्रत्याशा में अनुभव की जाती हैं। यहाँ हमें इस बात का ठोस सबूत मिलता है कि स्कूल सीखने से कहीं अधिक प्रदर्शन का स्थान बन गए हैं। परन्तु गतिविधि-संबंधी कुछ भावनाएँ जो तालिका में शामिल हैं -- मज़ा, कुण्ठा तथा ऊब -- वे बेहद महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनका ताल्लुक सीखने में जुटने तथा जुड़ने से है। जब परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं, तब छात्रों को एक **'प्रवाह'** का अहसास (फीलिंग ऑव फ्लो) होता है, किसी गतिविधि को स्वयं उसके लिए करने में जुटने का अहसास होता है, और बिल्कुल सही स्तर की चुनौती का सामना करने का अहसास जगता है। डेबरा मेयर तथा जुलिएन टर्नर वे मनोवैज्ञानिक हैं जिनकी रुचि उन घटकों को जानने में है जो सीखने के अनुभवों की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं, या जो 'प्रवाह' के अहसास में योगदान देते हैं। इस अस्पष्ट स्थिति का सबसे सरल वर्णन इन मनोवैज्ञानिकों के एक पर्चे में मिलता है। उन्होंने एक बालिका का एक उद्धरण प्रस्तुत किया है जिसमें वह उस गतिविधि के दौरान अपनी भावनाओं को बताती है, जिसमें उसे मज़ा आया था -- वह 'खूब सोच रही थी... उसे लग रहा था कि मैं उसे सचमें समझ रही हूँ और उससे कुछ पा रही हूँ... मैं वास्तव में उसमें घुसी हई थी।'

स्वाभाविक ही है कि अकादमिक भावनाओं तथा सीखने के अनुभव की गुणवत्ता के बीच एक सशक्त जुड़ाव होता है। इसके बावजूद जब मेयर तथा टर्नर ने कई वर्ष पूर्व सीखने के अनुभवों संबंधी छानबीन प्रारंभ की, उन्होंने शुरुआत में भावनाओं पर विचार नहीं किया। उन्होंने कक्षाओं में छात्रों की *मान्यताओं तथा दृष्टिकोणों* का जाँचा थाः लक्ष्य, जोखिम उठाने का आचरण, अपनी क्षमताओं का बोध, आदि-इत्यादि। ठेठ रूप में इस प्रकार के अध्ययन में जो तरीका अख्तियार किया जाता है, उसमें छात्रों को अमुक्त प्रश्नावलियाँ दी जाती हैं, जिसमें बहु विकल्प उत्तर या फिर श्रेणी माप (रेटिंग स्केल्स) होते हैं। ऐसी विधियाँ मनोवैज्ञानिकों को केंद्रित, आसानी से विश्लेषित होने वाले आंकड़े संकलित करने देते हैं परन्तु ऐसा केवल उसी विस्तार (रेंज) में ही किया जा सकता है जिसकी पहले से ही अपेक्षा कर ली गई हो। सौभाग्य से मेयर तथा टर्नर ने एक भिन्न तरीका अपनाया। उन्होंने ऐसे खुले प्रश्न भी पूछे जिनके उत्तर छात्र अपने शब्दों में दे सकते थे (उनके आंकड़ों का एक बड़ा हिस्सा गुणात्मक तथा वर्णनात्मक था)। यों उन्होंने पाया कि तटस्थ मान्यताओं

तथा दृष्टिकोणों के बदले उनके द्वारा संकलित आंकड़ों में छात्रों ने वे भावनाएँ दर्ज कीं जो सीखने के विभिन्न पक्षों के विषय में छात्रों ने अनुभूत की थीं। लगता यह है कि सीखने के अनुभव की गुणवत्ता, व्यक्ति के अंतस में भय, गर्व, क्रोध, अचरज, प्रेम, उल्लास तथा मज़े की भावनाओं द्वारा निर्धारित होती है। 'प्रवाह' अनुभवों का इनमें से कुछ भावनाओं की उपस्थिति और कुछ की अनुपस्थिति से गहरा सह-संबंध होता है।

मूलतः सीखने का मज़ा तब सबसे ज़्यादा आता है जब व्यक्ति के कौशल स्तर तथा गतिविधि के चुनौती स्तर में संतुलन हो। इसका निहितार्थ यह है कि क्षमता के सभी स्तरों के छात्रों को सीखने में मज़ा आ सकता है। संभव है कि यह आपको बेहद छिछला सत्य कथन लगे, पर दरअसल यह बेहद महत्त्वपूर्ण है। ज़रा उन छात्रों को याद करें जिन्हें पिछले तमाम वर्षों से आप सोचते रहे थे कि उन्हें सीखने में सच में मज़ा आता है -- संभावना यह है कि वे सब ऊँची क्षमता स्तर वाले छात्र थे। शिक्षकों के रूप में हमें ऐसे कल्पनाशील तरीकों को तलाशने की आवश्यकता है, जो अधिक छात्रों को क्षमता व चुनौती का 'सही मेल' उपलब्ध करवाएँ। अध्याय आठ में मैंने कक्षा में सीखने को छात्रों के लिए इष्टतम रूप में चुनौतीपूर्ण बनाने संबंधी कई सुझाव प्रस्तुत किए थे। ये सभी छात्रों को आपकी कक्षा में 'प्रवाह के अहसास' को अनुभव करने का मौका देते हैं।

आप सोच सकते हैं कि 'मज़े' जैसी किसी चीज़ में सीखने संबंधी ठोस फायदे भला क्या हो सकते हैं। क्या कोई मनोवैज्ञानिक प्रमाण इस बात का है कि कोई छात्र अपना पाठ तब बेहतर सीखेगा अगर उसे पाठ में मज़ा आया हो और सीखते समय वह खुश हुआ हो? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, खासकर इसलिए क्योंकि आजकल स्कूल तथा शिक्षक सीखने में छात्रों के आनंद को बढ़ाने के प्रयास कर रहे हैं। कोई छात्रा बारह सालों तक सीखने के आनंद के अनुभव से गुज़र सकती है, पर अंतिम विश्लेषण में यह पता नहीं होता कि दरअसल उसने किसी ऐसे छात्र से अधिक या बेहतर सीखा है, जो बारह वर्षों तक नीरस श्रम से गुज़रा हो। सच तो यह है कि कुछ शिक्षाविद् यह तर्क तक कर सकते हैं कि नीरसता के स्थान पर आनंद लाने पर हम सीखने का ही बलिदान कर देते हैं। इस तर्क को आसानी से संबोधित किया जा सकता है। हम चाहते हैं कि यह बच्चे स्कूल में खुश रहें क्योंकि **भावनात्मक हित अपने आप में एक ध्येय है,** इसलिए नहीं कि आनंद वार्षिक परीक्षा में अधिक अंकों की ओर ले जाएगा। इसके बावजूद कक्षा में जो मज़ा है वह सीखने की प्रक्रिया से आना चाहिए, इसलिए नहीं कि पाठ या शिक्षक *मनोरंजक थे* या उन्होंने खास माँग नहीं रखी थी।

हम मूल प्रश्न पर लौटते हैं, आनंद का सीखने पर जो प्रभाव पड़ता है, उस विषय पर प्रत्यक्ष रूप से प्रासंगिक कोई शोध नहीं है, परन्तु काफी सारा संबंधित प्रमाण अवश्य है, जिसका सार संक्षेप एक बढ़िया से वाक्य में समेटा जा सकता है : आनंददायक स्थितियाँ रचनात्मक चिंतन को प्रोत्साहित करती हैं। विविध प्रकार के अध्ययनों में -- जिनमें कुछ

प्रयोगशालाओं में किए गए थे, तो कुछ वास्तविक स्थितियों में। इन अध्ययनों में वयस्कों या बच्चों से सामाजिक या संज्ञानात्मक कार्य करवाए गए थे। इन शोधों ने यह प्रदर्शित किया कि मस्तिष्क की थोड़ी-सी भी सकारात्मक स्थितियाँ हों तो संज्ञानात्मक विस्तरण (कॉग्नेटिव इलैबोरेशन) तथा लचीलेपन में वृद्धि होती है। इससे अधिक विचार उपजते हैं, जो सामान्य तथा असामान्य, दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। यह लचीलापन बेहतर समस्या समाधान क्षमता की ओर ले जाता है, खासतौर से उन कार्यों में जिनमें रचनात्मक, असामान्य अनुक्रिया (रिस्पॉन्स) की आवश्यकता हो। कई मनोवैज्ञानिकों में से दो ने इस **सकारात्मक प्रभाव** के क्षेत्र में काफी काम किया है। ये मनोवैज्ञानिक हैं एलिस आइसन तथा बारबरा फ्रेड्रिकसन। वे आनंद, कृतज्ञता, मज़ा, रुचि, जिज्ञासा आदि भावनाओं के लाभों का वर्णन करती हैं। आइसन का कार्य तात्कालिक लाभों जैसे बेहतर समस्या समाधान या अधिक समाज-अभिमुख आचरण को प्रदर्शित करता है। फ्रेड्रिकसन का काम सकारात्मक प्रभाव की क्षणिक अवधियों तक के दीर्घकालिक फायदों से संबंधित है। उनके अपने शब्दों में 'सकारात्मक भावनाएँ न केवल लोगों को वर्तमान में अच्छा महसूस करवाती हैं, बल्कि विस्तृत चिंतन पर उनके असर के कारण सकारात्मक भावनाएँ यह संभावना भी बढ़ाती हैं कि लोग भविष्य में भी अच्छा महसूस करेंगे।' वे इस स्थिति की तुलना अवसादपूर्ण मनोभावों के 'नीचे की ओर' जाने वाले 'सर्पिल चक्रों' से करती हैं, जो संकीर्ण विचारों तथा आचरणों की ओर ले जाते हैं और व्यक्ति को और अधिक अवसादग्रस्त बनाते हैं। फ्रेड्रिकसन का **फैलाओ-और-निर्माण करो** (ब्रॉडन-एण्ड-बिल्ड) सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि जब हमारा मिजाज़ (मूड) बढ़िया हो, हमें अधिक विचार आते हैं और हम अधिक छानबीन करते हैं और अधिक मिलनसार होते हैं। यह उन्मुक्त विस्तरण स्थाई संसाधन निर्मित करता है (बौद्धिक, शारीरिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक) जो भविष्य में भी हमारी मदद करते हैं।[2]

इससे जुड़ा एक प्रश्न यह भी है कि क्या किसी पाठ में आने वाला मज़ा का पाठ की स्मृति को भी बेहतर बनाता है। यहाँ प्रमाण उतने स्पष्ट नहीं हैं। भावना तथा स्मृति के बीच

2. खुश स्थितियों के प्रभाव पर काफी मात्रा में मस्तिष्क-आधारित शोध भी किए गए। सौम्य सकारात्मक प्रभाव से मस्तिष्क के भागों में एक रसायन अधिक मात्रा में निकलता है, जिसे **डोपामाइन** कहते हैं। डोपामाइन मस्तिष्क के कई अन्य स्थानों पर भी असर करता है, जिससे हमें विचारों को नए और उपयोगी तरीकों से जोड़ने में मदद मिलती है। उदाहरण के लिए, एक ऐसा स्थान है सिंग्युलेट कॉर्टेक्स, जिसका वर्णन अध्याय एक में किया गया था। मस्तिष्क का यह छोटा सा हिस्सा 'कार्यकारी ध्यान' (एक्ज़ेक्यूटिव अटेंशन) के लिए ज़िम्मेदार है। इस स्थान पर डोपामइन का बढ़ा स्तर संभवतः मस्तिष्क को परस्पर स्पर्धात्मक संज्ञानात्मक परिप्रेक्ष्यों में से किसी एक को चुनने में, या उनके बीच अदला-बदली करने में मदद करता है। डोपामाइन पूर्व-अग्रपालीय वल्कुट (प्रीफ्रंटल कोर्टेक्स), हिप्पोकैम्पस तथा एमीग्डाला पर पर भी असर करता है, जो सभी स्मृति के भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए ज़िम्मेदार हैं।

जो रिश्ता है उसका अच्छा दस्तावेजीकरण हो चुका है। परन्तु इस प्रकार की शोध ने अधिकतर नकारात्मक भावनाओं तथा प्रासंगिक (*व्यक्तिगत, आत्मकथात्मक*) स्मृति पर बल दिया है। हम सब अपने निजी अनुभव से जानते हैं कि सशक्त भावनात्मक घटनाएँ हमें अन्य घटनाओं से अधिक लम्बे समय तक तथा अधिक जीवन्तता के साथ याद रहती हैं। ऐसा मुख्यतः हिपोकैम्पस तथा उसके निकट स्थित एमीग्डाला के कार्यों से होता है, जो मिलकर भावनात्मक उद्दीपकों पर दिए जाने वाले ध्यान के स्तर को बढ़ाते हैं। मस्तिष्क के ये दोनों भाग *स्मृति सुदृढ़ीकरण* की प्रक्रिया को भी प्रभावित करते हैं -- वे तुलनात्मक रूप से नाजुक प्रारंभिक स्मृतियों को नव-वल्कुट (नीओ-कोर्टेक्स) में 'स्थित' करते हैं (अध्याय एक तथा तीन में इनमें से कुछ प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है)। परन्तु जैसा मैंने कहा, ये निष्कर्ष अधिकांशतः उन उद्दीपकों के लिए थे जो हममें भय, जुगुप्सा या दुश्चिंता पैदा करते हों।

यह हमें सीखने पर नकारात्मक भावनाओं के प्रभाव पर लाता है। यहाँ हम अकादमिक दुश्चिंता को देख सकते हैं, जिसकी मौजूदगी की बात दुनिया भर के छात्रों में आम बताई गई है। गत दशकों में हुई परीक्षाओं को लेकर दुश्चिंता संबंधी शोध ने समान रूप से दर्शाया है कि यह भावना कितनी ध्वंसात्मक हो सकती है, परीक्षा में प्रदर्शन के और साथ ही सामान्य हित, दोनों के ही लिए। परीक्षा संबंधी दुश्चिंता कार्यात्मक स्मृति के कीमती संसाधनों को घटाती है, जिसके कारण जटिल कार्यों में प्रदर्शन (जिसके लिए अधिक संसाधनों की आवश्यकता पड़ती है) को क्षति पहुँचती है। यहाँ जो समस्या उठती है वह मूलतः यह है कि दिमाग में ऐसे विचार घुसपैठ करते हैं जो कार्य से अप्रासंगिक तथा अनुत्पादक हों। इन विचारों का विस्तार तो सीमित होता है, पर वे परीक्षा प्रश्न-पत्र का उत्तर देने की प्रक्रिया को पूरी तरह पटरी से उतार देते हैं। परीक्षा को लेकर चिंतित छात्र अपने कमज़ोर प्रदर्शन, दूसरे कैसा प्रदर्शन कर रहे होंगे के चिंतन, तथा उसके प्रदर्शन का शिक्षक कैसा आँकलन करेंगे आदि को लेकर उलझा होता है। इन तमाम संज्ञानात्मक निष्कर्षों के कारण, क्या आश्चर्य कि वह परीक्षा में अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाता।

प्रारंभिक शोध ने दर्शाया था कि अन्य छात्रों की तुलना में कुछ छात्र परीक्षा दुश्चिंता से अधिक ग्रस्त होते हैं। और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह भी स्पष्ट हुई थी कि *परीक्षा-हीन (नॉन-टेस्ट) स्थितियों में वे उन अधिक शांत छात्रों के समान ही अच्छा प्रदर्शन करते हैं।* इस क्षेत्र में जिस मनोवैज्ञानिक ने सर्वाधिक काम किया है, वे इरविन सारासन हैं। परीक्षा दुश्चिंता पर सारासन की शोध 1950 के दशक से 1980 के दशक तक चली। अपने एक अध्ययन में उन्होंने छात्रों में परीक्षा दुश्चिंता को दो तरीकों में से किसी एक से कम करने की चेष्टा की : आश्वासन ('फिक्र न करो तुम ठीक कर सकोगे') तथा सामने आए काम पर ध्यान केंद्रित करने की याद दिलाना (सवालों पर सारा ध्यान केंद्रित रखना, मन को भटकने न देना')। सारासन ने पाया कि दूसरे की तुलना में पहला तरीका

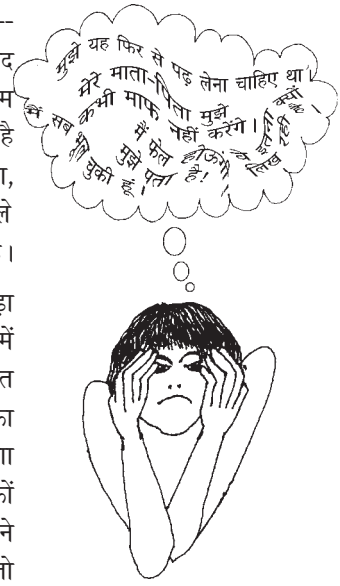

परीक्षा प्रदर्शन को सुधारने में कम मददगार रहा -- अर्थात् छात्रों को पुनः ध्यान केंद्रित करने में मदद करने की तुलना में, शांत होने को कहना कम कारगर था। उनका यह निष्कर्ष तब सही लगता है जब पूर्वमान्यता यह हो कि परीक्षा दुश्चिंता, तनाव-दबाव परिघटना होने के बदले संज्ञानात्मक-अन्यमन्सकता की परिघटना अधिक है।

परन्तु दुर्भाग्य से हमारे छात्रों के जीवन का एक बड़ा हिस्सा तनाव तथा दबाव का होता है। भारत में छात्र छोटी उम्र से ही, कम अंतरालों पर नियमित रूप से कक्षा परीक्षाओं तथा अन्य परीक्षाओं का सामना करते हैं। साथ ही उन पर लगभग हमेशा यह दबाव भी रहता है कि वे किन्हीं मनमाने मानकों के अनुरूप प्रदर्शन करें। भारतीय मनोचिकित्सकों ने इस परिघटना का दस्तावेजीकरण किया है (जो मुख्यतः मध्यवर्ग की परिघटना है)। उन्होंने ग़ौर किया है कि स्कूल में असफलता के भय से मानसिक स्वास्थ्य के मुद्दों में, और आत्महत्याओं तक में काफी बढ़ोतरी हुई है। परन्तु मानसिक रूप से स्वस्थ छात्रों के रोज़मर्रा के अनुभवों पर भी ताज्जुब होता है।

एक हालिया शोध हमें चंड़ीगढ़ के शहरी, मध्यवर्गीय, आठवीं कक्षा के छात्रों के दैनिक जीवन तथा भावनाओं की एक झलक देता है। इस शोध में एक रोचक तकनीक का उपयोग किया गया है जिसे *अनुभव प्रतिदर्श* (एक्सपीरियंस सैम्पलिंग) कहते हैं। सुमन वर्मा, दीपाली शर्मा तथा रीड लार्सन ने सौ छात्रों को एक-एक अलार्म घड़ी दी, जो दिन भर में अनिश्चित बार, सप्ताह भर टनटनाती रही। जब भी टनाटनाहट द्वारा याद दिलाया जाता, छात्र को कई बातें दर्ज़ करनी होतीं। इसमें यह भी शामिल था कि वह छात्रा/छात्र कहाँ है, क्या कर रही/रहा है, क्या उसे यह लग रहा है कि काश वह कहीं और होती/होता, तथा उसे भावनाओं के मापक्रम में कैसा लग रहा है (उदाहरण : खुश-दुखी, प्रफुल्ल-खीझ से भरा, इत्यादि)। इस अध्ययन के परिणाम सम्मोहक हैं। छात्र अपना लगभग एक तिहाई समय स्कूली काम करते बिताते हैं (जिसमें कक्षा का समय, गृहकार्य, ट्यूशन शामिल थे), तकरीबन एक तिहाई से कुछ अधिक समय विश्राम करते (टेलिविज़न, संगीत, बातचीत और खेलकूद, ठीक इसी क्रम में) और एक तिहाई से कुछ कम समय स्वयं को कायम रखने की (मेनटिनेन्स) गतिविधियों पर (मुख्यतः खाने में) बिताते पाए गए। परन्तु इन तीनों समयों में उनकी भावनात्मक स्थितियों में स्पष्ट अंतर पाया गया। छात्रों ने बताया कि स्कूली कार्य संबंधी गतिविधियों में वे स्वयं को कम प्रसन्न, कम शांत

तथा उत्तेजित और अधिक एकाकी, निराश तथा चिंतित पाते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने अभिव्यक्त किया कि वे 'बेहद ऊबे हुए हैं, मुझे पढ़ना, और पढ़ना है', 'थका हुआ, मैं स्कूल में बहुत काम करता रहा था', और 'चिंतित, मेरी गणित परीक्षा के लिए मेरी तैयारी नहीं थी'। छात्रों ने यह सूचना भी दी कि वे अपने काम पर सर्वाधिक ध्यान तब लगा पाते हैं जब वे प्रसन्न हों, जब उन्हें लगे कि गतिविधि का चयन उन्होंने स्वयं किया है, और जब उन्हें कहीं और होने की इच्छा न सताती हो। लेखकों का निष्कर्ष यह था कि गृहकार्य न करने पर सज़ा मिलने का भय स्कूली छात्रों में तनाव का प्रमुख स्रोत है, और यह कि 'स्कूली शिक्षा को सीखने तथा सकारात्मक भावनात्मक अनुभवों के बीच एक संतुलन बैठाने की आवश्यकता है।

दबाव!

एक छोटा छात्र लंबी घास से घिरे एक रास्ते पर स्कूल की ओर चल रहा है। अचानक बिना किसी चेतावनी के एक बाघ उसके सामने राह पर कूदता है, और उसके सामने गुर्राता व होंठ चटकारता खड़ा हो जाता है। लड़का तत्काल जड़ हो जाता है, उसे यह पता तक नहीं चलता, पर बिजली की गति से उसका शरीर इस खतरे से या तो जूझने या फिर उससे भागने की तैयारी कर चुका है। जिस पल खतरे का बोध होता है, एक अंतःस्राव (हार्मोन), जिसे **एड्रेनलिन** कहते हैं, उसकी रक्त नलिकाओं में भारी मात्रा में छूटता है। फलस्वरूप उसका खून अधिक ऑक्सीजन वाला बन जाता है और उन माँसपेशियों को उपलब्ध होता है जो इस खतरनाक बाघ से उसकी रक्षा में मदद करेंगी; साथ ही उस पल रक्त का बहाव पाचन प्रणाली जैसी अनावश्यक प्रणाली से हटा कर दूसरी ओर कर दिया जाता है। मस्तिष्क में बढ़े हुए ध्यान तथा केंद्रीकरण के तंत्रिकीय-जाल (न्यूरल नेटवर्क्स) सक्रिय हो जाते हैं।

इसी के साथ लड़के के शरीर में एक तुलनात्मक रूप से कुछ धीमी प्रतिक्रिया भी प्रारंभ होती है : कोर्टिसोल नामक एक हार्मोन रक्तनलिकाओं में प्रवाहित होता है जो वसा तथा माँसपेशियों के भण्डारों से ऊर्जा को छोड़ता है। यह प्रक्रिया उस प्रथम ऊर्जा-सघन प्रतिक्रिया का स्थान लेने के लिए होती है, यों इस दूसरी प्रतिक्रिया को हम शरीर को, खतरा गुज़र जाने के बाद ठीक होने

में मदद करने वाली प्रक्रिया के रूप में देख सकते हैं। इस बीच, मस्तिष्क में रक्त कोर्टिसोल के बढ़े स्तर को वे अभिग्राही (रिसेप्टरस्) भांप लेते हैं जो कोर्टिसोल के प्रति खासतौर से संवेदनशील हों -- और ये अभिग्राहक हमारे पुराने मित्र, हिपोकैम्पस में संकेंद्रित होते हैं। यह महज संयोगवश नहीं होता; हिपोकैम्पस, जो स्मृतियों को कूट रूप में दर्ज करने के लिए ज़िम्मेदार होता है, वह इस बाघ-भिड़न्त की सशक्त स्मृति को दर्ज करने को प्रोत्साहित किया जाता है, ताकि यह छोटा छात्र अगली बार इस रास्ते से बचे। आखिरकार, जब कोर्टिसोल का स्तर रक्त में एक निश्चित मात्रा तक पहुँच जाता है, तो दिमाग उत्पादन प्रणाली को 'बंद' कर देता है, ठीक एक थर्मोस्टेट (गर्मी मापने वाला यंत्र) की तरह, और तब सब कुछ सामान्य की ओर लौट आता है। ठेठ मानव प्रतिक्रिया बेहद खूबसूरती से इंजिनियर की गई होती है!

बेशक, आज केवल कुछ ही छात्र स्कूल के रास्ते में किसी बाघ का सामना करेंगे। संभव यह है कि इसके बजाए वह लड़का शायद किसी परीक्षा के लिए जा रहा हो। या शायद, क्योंकि उसने पिछली शाम अपना गृहकार्य पूरा नहीं किया है, वह फटकार सुनने और सज़ा पाने की दिशा में बढ़ रहा हो। ये स्थितियाँ जो वैसे तो जीवन के लिए कोई खतरा पेश नहीं करती, पर लड़के में तनाव की प्रतिक्रिया संभवतः ज़रूर जगाती हैं। ऐसे में उसके रक्त में कोर्टिसोल की बढ़ी हुई मात्रा आगे जो होने वाला है, उसकी *प्रत्याशा* में होगी। सच तो यह है कि छात्रों के जीवन आज ऐसे ही निम्न स्तरीय दबावों की शृंखला से भरे होते हैं, जो रक्त में बार-बार कोर्टिसोल की मात्रा में छोटी-छोटी वृद्धि लाते हैं। इनका कुल प्रभाव यह होता है कि मस्तिष्क अपने 'थर्मोस्टेट' के विन्यास को बढ़ा देता है, और रक्त में अधिक से अधिक मात्रा में कोर्टिसोल को प्रवाहित होने की अनुमति दे देता है। एक अर्से बाद कोर्टिसोल का लगातार बढ़े हुए रहना उच्च-रक्तचाप, नासूर (अल्सर), हृदय रोग व अन्य रोगों की दिशा में ले जाता है।

तनाव शरीर या मस्तिष्क के लिए अच्छा नहीं होता, और न ही अकादमिक उपलब्धि के लिए।[3] दबाव की स्थितियों से स्मृति को जो लाभ होता है उस विषय में जो बिन्दु पहले स्पष्ट किया गया था, उसको लेकर कुछ भ्रम यहाँ पैदा हो सकता है। मैंने उल्लेख किया था कि कोर्टिसेल का बढ़ा हुआ स्तर हिपोकैम्पस को सशक्त स्मृतियाँ स्थापित करने को उकसाता है। और क्योंकि हमारे स्कूलों में स्मरण शक्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता

3. अकादमिक प्रदर्शन पर दबाव के प्रभाव को हमें, एक अर्से से ज्ञात **उभार** (अराउज़ल) का तथ्य नहीं समझ लेना चाहिए; यह वह विख्या 'प्रतिलोम यू' संबंध है, जिसे मनोविज्ञान के सभी प्रारंभिक छात्र सीखते हैं। यह कहता है कि जागरण का संयत स्तर सुअभ्यासित या अति-सीखे गए कार्यों में प्रदर्शन को सुधार सकता है, परन्तु जटिल कार्यों में, जो व्यक्ति की क्षमता की सीमा पर हों, प्रदर्शन को कम करता है। इसके निहितार्थ स्पष्ट हैं : दबाव का उभरना छात्रों की बेहतर प्रदर्शन में सहायता, सीखने की क्षमता की सर्वाधिक नगण्य परीक्षाओं से अधिक में नहीं कर सकता।

है, ऐसे में क्या तनाव वास्तव में बच्चों के लिए 'अच्छा' हो सकता है? नहीं, हज़ार बार नहीं। अव्वल तो इस प्रक्रिया से जो स्मृति सबसे अधिक प्रभावित होती है, वह एक प्रकार की स्थानिक स्मृति या स्पेशियल मेमरी है (संभवतः इसलिए क्योंकि खतरा कहाँ स्थित है वह जानना बेहद महत्त्वपूर्ण होता है)। और ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि यह स्कूली विषयों, जैसे गणित या इतिहास, की बेहतर स्मृति तक भी विस्तृत हो। दूसरे, ऐसा भी कोई सबूत नहीं है कि किसी तनावपूर्ण घटना से पहले जो दबाव महसूस किया जाए वह स्मृति को कोई लाभ पहुँचाएगा। कोर्टिसोल का बढ़ा हुआ स्तर वर्धित स्मृति की ओर ले जाता है, ताकि आप भविष्य में जब ऐसी ही परिस्थिति का सामना करें तो खतरे से स्वयं का बचाव कर सकें। परन्तु जहाँ *प्रत्याशा* ही तनाव का कारण हो, कोर्टिसोल खास मदद नहीं करता। आप भविष्य को बेहतर याद कैसे रख सकते हैं! तीसरी, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात, विकासशील मस्तिष्क संबंधी शोध ने हाल में यह दर्शाया है कि दबाव तथा उसके सहवर्ती कोर्टिसोल का बढ़ा हुआ स्तर दरअसल **हिपोकैम्पस में अत्यावश्यक तंत्रिकाओं को नष्ट करता है,** यों दीर्घकालिक अर्थ में स्मृति तथा सीखने की क्षमता को दुर्बल बनाता है।

छात्रों में तनाव व चिंता का स्रोत केवल अकादमिक स्थितियाँ ही नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, उनके लिए सामाजिक दबाव भी उतना ही दर्दनाक होता है जो अपने साथियों द्वारा नकारे जाने पर, या अपने माता-पिता के बीच संघर्ष को देखने पर उभरता है। स्थिति यह है कि कई ऐसे जोखिम घटक हैं जो एक खुशनुमा, स्वस्थ बचपन को पटरी से उतार सकते हैं। इन्हें हम निम्नोक्त रूप से श्रेणीबद्ध कर सकते हैंः

- मनोवैज्ञानिक तथा संज्ञानात्मक घटक, जैसे अति-क्रियाशीलता (हाइपर एक्टिविटी), लापरवाही, सामाजिक अंतःक्रिया को समझ पाने में होने वाली कठिनाई, और साथ ही सीखने में आने वाली परेशानियाँ।
- पारिवारिक परेशानियाँ जिनका संबंध कठोर अनुशासन या समस्यात्मक रिश्तों से हो।
- पारिस्थितिकीय घटक, जैसे खतरनाक मुहल्ले और मित्र-मंडली का असामाजिक होना।
- हमउम्र साथियों के साथ समस्यात्मक संबंध, जैसे धौंस जमाना या अस्वीकार करना।
- स्कूली अभ्यास, जैसे स्पर्धात्मक कक्षा वातावरण, शारीरिक दण्ड, लगातार किया जाने वाला तुलनात्मक मूल्यांकन।

बाल्यावस्था या किशोरवस्था में गंभीर भावनात्मक समस्याएँ अमूमन एक से अधिक जोखिम घटकों के एक साथ होने के फलस्वरूप उभरती हैं। आप कल्पना कर सकते हैं कि, जिन स्थितियों में केवल एक जोखिम घटक उपस्थित हो, वहाँ उसकी परेशानियों में दूसरी सकारात्मक प्रक्रियाएँ छात्र की मदद कर सकती हैं। उदाहरण के लिए सहयोग देने वाला परिवार और स्कूल, छात्र को अपने वाचन वैकल्य (डायलैक्सिया) की परेशानियों से गुज़रने में मदद कर सकता है। या कोई बच्चा जो स्कूल में अकादमिक माँगों से जूझ रहा हो, अपने माता-पिता के तलाक के कठिन दौर से अपने अच्छे दोस्तों की मदद से निपट सकता है। परन्तु जिन बच्चों के कई घटक जोखिम में हो, उनके लिए नतीजा स्थाई भावनात्मक या आचरण संबंधी समस्याओं का रूप ले सकता है। बच्चों को अवसाद व दुश्चिंता की समस्याएँ हो सकती हैं, साथ ही आचरण संबंधी समस्याएँ भी, जिनके लिए शिक्षक या माता-पिता को पेशेवर मदद लेनी पड़े। बच्चों के भावनात्मक असंतुलन के मूल कारण को समझना, हमें सर्वश्रेष्ठ समाधानों को तलाशने की अनुमति देने के साथ ही यह अनुमान भी लगाने देता है कि क्या-क्या गड़बड़ी हो सकती है और उनकी रोकथाम कैसे की जा सकती है।

बच्चों का एक समूह जो हमेशा ही एकाधिक स्तरों पर जोखिम का सामना करता है, वह है गरीब परिवारों से आने वाले छात्रों का। उदाहरण के लिए कम आय वाले परिवारों के बच्चों को घर पर उतना संज्ञानात्मक उद्दीपन नहीं मिलता जितना मध्य या उच्च आय वाले परिवारों के बच्चों को मिलता है। यह उनके संज्ञानात्मक तथा विकासात्मक वृद्धि को प्रभावित करता है। तुर्की, चीन, वियतनाम, ब्राज़ील, जमाइका तथा दक्षिण अफ्रीका

के गरीब परिवारों पर किए गए अध्ययनों ने दर्शाया है कि जब माताओं को अपने बच्चों के साथ अधिक प्रभावी रूप से बतियाने और खेलने को प्रशिक्षित किया जाता है तो बच्चे की मौखिक क्षमता, बुद्धि लब्धि तथा स्कूल प्रदर्शन में दृश्य सुधार आता है। अन्य बच्चों की तुलना में गरीब बच्चे तनावपूर्ण जीवन घटनाओं तथा दैनिक समस्याओं का सामना भी अधिक करते हैं, अतः यह अपेक्षा भी अधिक रहती है कि उन्हें भावनात्मक समस्याएँ भी होंगी। किसी बढ़ते बच्चे के लिए भावनात्मक रूप से अस्वस्थ वातावरण वह है जो उसकी सुरक्षा को खतरा पहुँचाए, हिंसक या प्रताड़ित करने वाला हो, अस्तव्यस्त तथा अनिश्चित हो; और ग़रीबी इन खतरों में से कई को बच्चे के जीवन में खींच लाती है। अगर उनके जीवन गंभीर रूप से अपक्रियात्मक (डिस्फंक्शनल) न हों, तो भी, शोध ने दर्शाया है कि गरीब बच्चों को उनके जीवन में उपस्थित वयस्कों से अधिक शारीरिक दण्ड मिलता है, और उनके शिक्षक अधिक सत्तावादी होते हैं, उनसे ऐसे प्रश्न भी कम पूछते हैं जो उत्तरों को प्रोत्साहित करें।

बॉक्स-2

सुसंपन्न बच्चे

अमरीकी किशोरों के बारे में एक विचित्र वक्तव्य जो मनोवैज्ञानिक मिखाइल क्स्किकत्ज़ेन्ट्मिहाल्यी का था, जिसे मैं यहाँ उद्धृत करना चाहूँगीः 'किशोर जिस प्रसन्नता की सूचना देते हैं... वह जिस समुदाय की सामाजिक श्रेणी में वे रहते हैं उससे एक दृश्य प्रतिलोम संबंध दर्शाती है... निम्नतम सामाजिक-आर्थिक स्तर के बच्चे अमूमन उच्चतम प्रसन्नता की सूचना देते हैं, और उच्च तथा मध्यवर्ग के बच्चे अमूमन सबसे कम प्रसन्नता के होने की बात कहते हैं।' इसका हम क्या अर्थ समझें? हालाँकि हम यह बात कई बार सुनते हैं कि पैसा हमें खुशी नहीं दे सकता, हम उसके उलटे प्रभाव की उम्मीद भी नहीं करते! बेशक, यह भी हो सकता है कि संपन्न बच्चे स्वयं को प्रसन्न बच्चों के रूप में प्रस्तुत करने से बचते हों। परन्तु अमरीका में स्थित मनोवैज्ञानिक सुनिया लूथर का कार्य खासतौर से इन बच्चों में भावनात्मक तनाव के कई स्रोतों की ओर संकेत करता है। इनको मैं संक्षेप में आपके लिए पेश करूँ, उसके पहले हमें स्वयं को यह स्मरण दिला देना चाहिए कि यह शोध पश्चिम में की गई है, और संभव है कि भारतीय संदर्भ में इसका उपयोग सीमित हो। व्यक्तिगत स्तर पर मुझे उनके निष्कर्ष भारतीय शहरी मध्य तथा उच्च वर्ग के युवक-युवतियों संबंधी मेरे अपने अवलोकनों के काफी समान लगते हैं।

लूथर ने समृद्ध किशोरों में दुश्चिंता, अवसाद तथा नशीले पदार्थों के सेवन का स्तर हमेशा अधिक ऊँचा पाया। दुर्भाग्य से, ऐसे संपन्न परिवार आसानी से अपने बच्चों में भावनात्मक अशांति के छोटे संकेतों को नहीं स्वीकारते, हालाँकि वे तब श्रेष्ठतम

मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं का अवश्य उपयोग करते हैं जब यह गड़बड़ी ज़ाहिर और गंभीर हो जाए। संभव है कि इस मानसिकता के पीछे निजता (प्राइवेसी) के मुद्दे हों, या फिर संभव है कि सामर्थ्यवान लोगों को यह स्वीकारना कठिन लगता हो कि चीज़ें गड़बड़ा सकती हैं, और वे इसके बदले, जैसा लूथर कहती हैं, 'सब-कुछ-ठीक की आड़ बनाए रखना चाहते हैं'। प्रतीत होता है कि उनके बच्चों की भावनात्मक परेशानियों के दो स्रोत हैं -- उपलब्धि का दबाव तथा वयस्कों से कटाव। इन बच्चों से उनके माता-पिता की अपेक्षाएँ बेहद ऊँची होती हैं और अक्सर स्कूल के बाहर की कई गतिविधियों में भी उनका नामांकन होता है। यह 'अति-व्यस्तता' (ओवरशिड्यूलिंग), जैसा कि उसे नाम दिया गया है, स्कूल में श्रेष्ठ प्रदर्शन करने के उनके दबाव में और भी इज़ाफा करती है।

यह असामान्य नहीं है कि भारतीय बच्चों को भी आप टेनिस की कक्षा से तबला की कक्षा में कूदते पाएँ ...पर जो हमारे संदर्भ में अनूठा है वह है, ट्यूशन का कुरूप जिन्न। उच्च आय वर्ग की श्रेणियों के अधिकांश बच्चे अपनी शामें समांतर कक्षाओं में, वह सब पुनः सीखते बिताते हैं, जो उन्होंने पहले ही स्कूल में सीख लिया हो। इधर उनके माता-पिता अक्सर सफल करियरों में ऊँचे पदों पर होते हैं, जो उन्हें इतना व्यस्त रखते हैं कि वे बच्चों के साथ समय नहीं बिता पाते। यह सोचने का लालच तो होता ही है कि अपने बच्चे के सघन भावनात्मक संबंध शब्दशः *साथ बिताए समय* पर निर्भर नहीं होता, परन्तु शोध ने पर्याप्त संकेत दिया है कि इस प्रकार का समय नितांत आवश्यक है।

लूथर को अपने उच्च वर्गीय अमरीकी किशोरों के प्रतिदर्शों (सेम्पल्स्) में समकक्षी मानकों (पीयर नॉर्म्स) की रोचक शृंखला भी मिली, उन्होंने पाया कि लड़कों की लोकप्रियता, आक्रामक होने, और नशीले पदार्थों के उपयोग पर, और लड़कियों की शारीरिक आकर्षण पर निर्भर करती है। आश्चर्य नहीं कि ये समकक्षी मानक भावनात्मक तथा शरीरिक स्वास्थ्य के लिए परेशानी का सबब थे। ये निष्कर्ष भारतीय शहरी कुलीनों पर लागू हो भी सकते हैं और नहीं भी (शायद भारतीय किशोरों को पढ़ाई से ही फुर्सत न मिलती हो), परन्तु भारतीय संदर्भों में इन मुद्दों का अध्ययन करना बेहद रोचक होगा।

अंतिम बात, समस्या **प्रसन्नता के भौतिक स्रोतों पर** अत्यधिक बल देने की भी हो सकती है। विगत कई वर्षों में अब 'सकारात्मक मनोविज्ञान' की ओर बढ़ा जाने लगा है, अर्थात् प्रसन्नता तथा संतुष्टि जैसे घटकों पर ध्यान केंद्रित किया जाने लगा है। अध्ययन यह स्पष्ट कर रहे हैं कि हालाँकि इन्सान प्रसन्नता के बाहरी स्रोतों के पीछे भागता है, वे उसे हासिल नहीं करवा पाते। लूथर कहती हैं, '...आज के वित्तीय सुविधा प्राप्त बच्चे... बिरले ही जीवन के ध्येयों के रूप में बौद्धिक चुनौतियाँ या मानवता को योगदान का नाम लेते हैं।' वे संकेत करती हैं कि मुख्यधारा का मीडिया लगातार अधिक शक्ति, अधिक पैसा, अधिक शारीरिक आकर्षण के मूल्यों को धकेलता है, जो अंततः संपन्नता में पले बच्चों में तनाव बढ़ाता है। इन तरुणों के भावनात्मक स्वास्थ्य का सामान्य

समाज पर व्यापक असर होगा, क्योंकि संभावना यह है कि वयस्कों के रूप में वे अपने कार्यक्षेत्रों में प्रभावशाली लोग बनेंगे। अवसाद तथा दुश्चिंता उनकी उत्पादकता को कम करेंगे, पर अधिक सूक्ष्म स्तर पर, मनौवैज्ञानिक शोध दर्शाती है कि दुखी लोग परोपकारी होने के बजाए अधिक परिग्रही होते हैं।

संभव है आप आसानी से यह समझ जाएँ कि गरीबी में पलने वाले बच्चों को भावनात्मक समस्याएँ आएँगी, पर शायद आपको यह जान कर अचरज हो कि संपन्न परिवारों के बच्चे भी अपनी तरह के भावनात्मक तनाव झेलते हैं। इस शोध का वर्णन बॉक्स-2 में आपको मिलेगा। आगामी भाग में हम देखेंगे कि भावनात्मक स्वास्थ्य या भावनात्मक परिपक्वता क्या होती है और अपने छात्रों में इसे पनपाने के लिए कोई शिक्षक क्या कर सकता है।

भावनात्मक परिपक्वता विकसित करना

मनोवैज्ञानिकों ने भावनात्मकता के जिन दो महत्त्वपूर्ण पक्षों का अध्ययन किया है वे हैं **भावना उभरना** (इमोशन अराउज़ल) तथा उसे **नियामित करने की क्षमता** (कैपैसिटी फॉर रेग्युलेशन)। उभारने को भावनात्मक अनुभव की सघनता के रूप में तथा नियमन को इस सघनता पर नियंत्रण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, और साथ ही उस भावनात्मक स्थिति की प्रतिक्रिया स्वरूप दर्शाए गए चेहरे तथा शरीर के हावभाव व अन्य आचरणों की अवधि के रूप में भी। ये दो घटक बच्चों के लिए कई महत्त्वपूर्ण और विविध परिणामों से संबंधित होते हैं, जैसे सामाजिक समायोजन (एडजेस्टमेंट), अकादमिक प्रदर्शन। यहाँ तक कि मनोव्याधिकीय (साइकोपैथेलॉजिकल) नतीजे, जैसे अवसाद या अटेंशन डेफिसिट हाइपरएक्टिविटी डिसऑर्डर (जिसमें व्यक्ति एकाग्रता की कमी के साथ अत्यधिक क्रियाशीलता का रोगी होता है) भी हो सकते हैं। ज़ाहिर ही है कि दुख और क्रोध जैसी नकारात्मक भावनाओं में उनका उभार तथा नियमन, दोनों ही अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, और जिन बच्चों में उच्च भावनात्मक जागरण की प्रवृत्ति होती है, उनमें नियमन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

भावनात्मक उभार और नियमन को आप कैसे नापेंगे, खासकर बच्चों में? यह प्रश्न बेहद रोचक है क्योंकि यह एक ओर तो उन कठिनाइयों को चित्रित करता है जो मनोवैज्ञानिक मापन में आती हैं, साथ ही दूसरी ओर वह उन मनोवैज्ञानिकों की चतुराई को भी स्पष्ट करता है जो उस तत्व मापने को कृतसंकल्प हैं जिसे नापा ही नहीं जा सकता है। सबसे आम तरीका है बच्चों से सवाल पूछना और उनके उत्तरों को वास्तविक स्थिति के सन्निकट मान लेना। इस प्रकार की स्व-प्रतिवेदन विधियों को विभिन्न नामों से बुलाया जाता है, या वे अलग-अलग तरह की होती हैं। उदाहरण के लिए पीएएनएएस-सी (पॉज़िटिव एण्ड नेगेटिव अफेक्ट स्केल फॉर चिल्ड्रन या बच्चों के लिए सकारात्मक व

नकारात्मक प्रभाव मापक्रम) दस से चौदह वर्षीय बच्चों को जीवन्त, निरानंद, निर्भीक तथा उदास जैसे विशेषण देता है। और उनसे पूछता है कि पिछले कुछ दिनों या सप्ताहों में उन्हें किस सीमा तक ऐसा महसूस होता रहा है। सीएससीआरएस (चाइल्ड सेल्फ-कंट्रोल रेटिंग स्केल, या बाल आत्म-नियंत्रण मूल्यांकन मापक्रम) उनसे कहता है कि वे यह बताएँ कि वे किस हद तक अपने वादे निभाते हैं, उत्तेजित होने पर शांत हो जाते हैं, और उत्तर देने के पहले सोचते हैं। एचआईएफ (हाऊ आई फील या मैं कैसा महसूस कर रही/रहा हूँ) मापक्रम बच्चों से गत तीन महीनों के बारे में ऐसे वक्तव्यों का आकलन करने को कहता है जैसे, *मैं अक्सर खुश थी, मैं अधिकतर समय डरा हुआ था, जब मुझे दुख हुआ मेरी दुख की भावनाएँ बड़ी ताकतवर थीं, और जब मुझे गुस्सा आया मैं अपने गुस्से को नियंत्रित कर पाया या उसकी मात्रा को बदल पाया।* एक से दूसरे पल की भावनात्मक स्थितियों के लिए ईएसएफ (एक्स्पीरियन्स सैंपलिंग फॉर्म या अनुभव प्रतिदर्श प्रपत्र) है जिसका वर्णन किया जा चुका है। ज़ाहिर है कि ऐसे आत्म-प्रतिवेदनों के नतीजों का उपयोग सावधानी के साथ किया जाना चाहिए, बेहतर तो यह होगा कि उनका उपयोग बच्चों की भावनात्मकता के अन्य मापों के साथ किया जाए। नीचे दिया जा रहा अध्ययन यह कैसे हासिल किया जा सकता है, इसका सरल-सा उदाहरण है।

नैन्सी आइसनबर्ग (जिनके नैतिक विकास पर काम के विषय में आप अध्याय छह में पढ़ चुके हैं) ने जैफरी लिउ तथा स्री उन्तारी पिडाडा के साथ इन्डोनेशिया के बच्चों के समूह की भावनात्मकता का अध्ययन किया था। इन मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों की भावना की सघनता, नियंत्रण की क्षमता तथा सामाजिक कार्यत्मकता का आकलन करने के लिए शिक्षकों से अपने छात्रों, माता-पिता से अपने बच्चों, और छात्रों से एक-दूसरे का मूल्यांकन करने को कहा। माता-पिता और शिक्षकों के ठेठ उत्तर थे, 'मेरा बच्चा आस-पास की चीजों पर बेहद भावनात्मक प्रतिक्रिया करता/करती है', 'यह बालक अगर उससे कहा जाए तो नई गतिविधि में प्रवेश करने के पहले रुक सकता है', 'यह बच्ची अगर उसका मन न भरा हो तो खेलने से रोकने पर नाराज़ हो जाती है', 'नए लोगों से मेरी बच्ची शर्माती है', और 'इस बच्चे का अपने से कम भाग्यशाली लोगों पर अक्सर दया आती है'। छात्रों से कहा गया कि वे अपने सहपाठियों में से चार ऐसे बच्चों को सूचीबद्ध करें जिनकी नाराज़ होने की संभावना सबसे ज़्यादा है, चार जो उन्हें सबसे अधिक पसंद आते हैं, और चार जिन्हें वे सबसे कम पसंद करते हैं। 'शीर्ष चार' स्थानों को बाद में सभी साथियों के मूल्यांकन के साथ भारित और औसत (वेटेड एण्ड एवरेज्ड) कर प्रत्येक छात्र के लिए एक एकल अंक निकाला गया। मनोवैज्ञानिकों की जिज्ञासा यह जानने की भी थी क्या किसी भिन्न संस्कृति में भावनाओं की सघनता तथा उनके नियमन के नमूनों का सामाजिक दर्जे तथा साथियों द्वारा स्वीकृति से भी संबंध है, क्योंकि यह पश्चिमी संस्कृतियों के छात्रों में कई बार दर्शायी गई थी। इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' था। इन्डोनेशिया

के इस प्रतिदर्श में भी अनियामित (अनरेग्युलेटेड) बच्चों को सामाजिक रूप से अस्वीकारा गया। अगर इन बच्चों ने क्रोध जैसी नकारात्मक भावना को बार-बार अभिव्यक्त किया तो उनके सहपाठियों ने उन्हें अस्वीकार किया। इसके विपरीत अगर उन्होंने दुख या दुश्चिंता जैसी नकारात्मक भावना को आत्मसात कर लिया, तो यह उन्हें शर्म और अपने साथियों से एक फर्क किस्म के एकाकीपन की ओर ले गया।

क्योंकि भावनाओं का उभार तथा नियमन इतना महत्त्वपूर्ण है, आप यह जानना चाहेंगे कि इन क्षेत्रों में बच्चों की मदद के लिए कोई वयस्क क्या कर सकता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हम अपने छात्रों को खासतौर से नकारात्मक भावनाओं के नियमन के विषय में चार बातें बता सकते हैं, ये हैं:

- भावना से प्रत्यक्ष रूप से निपटो (उदाहरण, शांत करने की तकनीकें या औषधि का सेवन)।
- किसी ऐसे क्षेत्र में अपनी आधारभूत क्षमता को सुधारो, जो सकारात्मक भावनाएँ जगाए।
- आप जैसा महसूस कर रहे हैं उसके निजी स्पष्टीकरण को विवेचनात्मक रूप से जाँचो।
- अगर कोई परिस्थिति आपकी मानसिक शांति पर नाज़ायज माँगें कर रही हो, तो उस परिस्थिति को बदलो।

उपरोक्त विकल्पों में पहला तथा दूसरा, सीधे-सादे विकल्प हैं पर विकल्प तीन व चार शैक्षिक दृष्टि से अधिक रोचक हैं। पहले हम विकल्प तीन को देखते हैं, जो छात्र से कहता है कि वह अपनी भावना का जिस तरह स्पष्टीकरण देता है, उसे जाँचे।

भावनात्मक स्थायित्व में योगदान करने वाला एक महत्त्वपूर्ण घटक है अपने व्यक्तित्व तथा क्षमताओं के विषय में छात्र की निजी मान्यताएँ। सभी छात्र अपने स्कूली वर्षों में अकादमिक उपलब्धि, खेलकूद उपलब्धि, व्यक्तिगत संबंधों तथा सामाजिक सफलता के क्षेत्रों में असफलता तथा गतिरोध को अनुभव करते हैं। किसी नकारात्मक अनुभव के समक्ष, जैसे किसी परीक्षा में खराब प्रदर्शन करने, किसी साथी द्वारा नकारे जाने, या किसी शिक्षक द्वारा सज़ा पाने पर -- वे कैसे उबरते हैं और पुनः अपने लक्ष्यों का पीछा करना प्रारंभ करते हैं? उत्तर की कुंजी संभवतः असफलता तथा गतिरोध को दिए गए *अर्थ* में निहित है। जब असफलता मिलती है, तो निहितार्थ यह होता है कि परिवर्तन की ज़रूरत है, फिर चाहे यह बदलाव अगली बार अधिक मेहनत करने का हो, या किसी भिन्न रणनीति को अपनाने का। अगर छात्र यह मानता है कि ऐसा बदलाव संभव है, तो वह बदलाव लाने में अपनी पूरी ऊर्जा लगा देगा और 'फिर से एक चेष्टा करेगा'। परन्तु अगर वह यह मानता हो कि उसकी क्षमताएँ तथा/या व्यक्तित्व तयशुदा हैं, तो वह

सुरक्षात्मक प्रतिक्रिया करेगा और असफलता ने उसे उसकी सीमाओं के बारे में जो 'ज्ञान' दिया है वह उससे निपटने की कोशिश करेगा। अर्थात् गतिरोध को एक ओर बदलाव की चुनौती के रूप में देखा जा सकता है, तो दूसरी ओर उसे अनर्थकारी भी माना जा सकता है, अतः ऊर्जा सोखने वाली स्थिति के रूप में देखा जा सकता है। यही तय करता है कि छात्र की प्रतिक्रिया निष्क्रिय, सुरक्षात्मक, अथवा सक्रिय होगी। यही निर्धारित करेगा कि वह अपना समय स्वयं को सिद्ध करने में लगाएगा, या आतुरता से सीखने की चुनौतियों को तलाशेगा। और इसलिए यह उसके स्कूली जीवन की भावनात्मक गुणवत्ता को भी निध ार्रित करेगा।

हमें अपने छात्रों को मदद यह देखने में करनी चाहिए कि **प्रदर्शन सीखने का साधन है, न कि सीखना प्रदर्शन का साधन।** ज़ाहिर ही है कि शिक्षकों के रूप में हम गलतियों या खराब प्रदर्शन पर जैसी प्रतिक्रिया करते हैं, उससे भारी फर्क पड़ता है। संभव है कि हम स्वयं ही प्रदर्शन को (चाहे वह गृहकार्य, परीक्षाएँ, सौंपे गए काम या प्रस्तुतियाँ हों) अंतिम ध्येय मानने के दोषी हों। प्रदर्शन को सुधार के कीमती मार्गदर्शन के छात्र के मूल्य का संकेत मानते हों। इस सीमा तक हमें तब अचरज भी नहीं होना चाहिए कि हमारे छात्र भी प्रदर्शन और असफलता को वही मानते हैं, जो हम स्वीकारते हैं।

अब हम भावना नियमन संबंधी चौथे सुझाव की ओर मुड़ते हैं -- जो स्थिति भावनात्मक तनाव पैदा करे उसे बदलना। किसी व्यथित छात्रा को यह सुझाना बेशक अविवेकपूर्ण लगता है कि वह स्वयं 'अपनी स्थिति बदले', परन्तु स्कूल तथा शिक्षक अपने छात्रों के लिए जिन वातावरणों को बनाते हैं उसमें बदलाव ला सकते हैं। रॉबर्ट रोएसर नामक मनोवैज्ञानिक ने स्वस्थ शैक्षणिक वातावरणों के विषय में बहुत कुछ लिखा है। वे कक्षाओं तथा स्कूल स्तर के चार सुधारों को सुझाते हैं : पाठ्यचर्या, दक्षता, समुदाय तथा देखभाल।

- पाठ्यचर्या विविध प्रकार की पृष्ठभूमियों के छात्रों के लिए माकूल हो, और उसमें सहकार से सीखना तथा क्रमबद्ध व प्राप्त हो सकने वाले लक्ष्य शामिल हों।
- शिक्षकों का लक्ष्य यह हो कि प्रत्येक छात्र दक्षता के एक स्तर को हासिल करे, यह स्वीकारते

हुए कि गलतियाँ सीखने का ही हिस्सा हैं, बजाए उन्हें सफलता और असफलता के रूप में देखने के।

- छात्रों को स्कूल समुदाय की निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी का अवसर मिले, ताकि वे स्कूल को मूल्यवान मानें और उससे 'जुड़ाव' महसूस करें।
- छात्रों को एक-दूसरे से और साथ ही वयस्कों से घनिष्ठ संबंध बनाने के अवसर मिलें, ऐसा संभवतः स्कूल में छोटे सीखने के समूहों की रचना द्वारा किया जा सकता है।

पेकरन ने भी ऐसे ही सकारात्मक तरीकों की सूची बनाई जिनसे स्कूल तथा शिक्षक छात्रों के भावनात्मक स्थायित्व में योगदान कर सकते हैं। वे दक्षता तथा नियंत्रण के क्षेत्रों पर और विस्तार से बताते हैं। हमें अपने छात्रों को ऐसे काम सौंपने चाहिएँ जो उनसे अधिक माँगे करते हैं पर जो फिर भी उनकी क्षमता के दायरे में हों। ये काम केवल संज्ञानात्मक तथा उत्प्रेरणात्मक कारणों से न सौंपे जाएँ। इनके भावनात्मक लाभ, जैसे एक कठिन काम को खत्म करने पर अच्छा महसूस करना भी होते हैं। दूसरे शब्दों में स्वयं को लायक *मानना* भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना दक्ष *होने की इच्छा रखना और दक्ष होना।* नियंत्रण का भाव तब पैदा होता है जब स्व-निर्देशित तरीके से काम करने की अनुमति हो, फिर चाहे ऐसा समूह में किया जाए या अकेले। व्यक्तिगत स्थिति में छात्र या छात्रा को यह ज़िम्मेदारी दी जा सकती है कि वह स्वयं यह योजना बनाए कि उसे सामग्री पर किस प्रकार काम करना है। वह अपनी गति स्वयं तय करती है और यह सुनिश्चित करती है कि सामग्री पर दखल बनाने के लिए उसे जिस तरह की प्रतिपुष्टि की दरकार है वह उसे मिले। सामूहिक परिस्थिति में छात्रों के समूह को यह निर्णय लेने की साझी ज़िम्मेदारी सौंपी जा सकती है कि वे काम को कैसे बांटेंगे, किसे कौन-सा काम सौंपा जाएगा और सदस्य जवाबदेह कैसे बनेंगे। यहाँ शिक्षक की भूमिका आस-पास मंडराकर यह सुनिश्चित करने की होती है कि प्रत्येक छात्र के सीखने के लक्ष्य हासिल हों। परन्तु छात्रों को स्पष्टतः सामूहिक नियंत्रण सौंपना ज़रूरी है। पेकरन कहते हैं कि इस प्रकार का सहकारी सामूहिक काम इसलिए भी कीमती है क्योंकि यह दूसरों की मदद करने और मददगार बनने की हमारी सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करता है।

यह अध्याय तब तक अधूरा रहेगा जब तक हम एक अन्य परिवर्तनशील घटक का उल्लेख नहीं करते, जिसका उद्गम मनोवैज्ञानिक शोध में है, परन्तु जिसने जन-सामान्य की कल्पना को भावनात्मक उभार तथा नियमन से भी अधिक, चिनगारी दी है। प्रसन्नता तथा भावनात्मक स्वास्थ्य को अक्सर उच्च आत्म-सम्मान से जोड़ा जाता है, इस परिवर्तनशील घटक का इतिहास बेहद रोचक है। जैसा अक्सर पहले भी हो चुका है, इस परिवर्ती घटक में भी हुआ, कि लोकप्रिय मनोविज्ञान ने इसकी एक ऐसी छवि प्रस्तुत की जो आकर्षक

और सरल थी। लगने यह लगा कि यह शिक्षकों के लिए सरल उत्तर उपलब्ध करवाएगा और सरल विधियों की दिशा में ले जाएगा : बच्चों को स्वयं के बारे में अच्छा महसूस करवाओ और वे बेहतर काम करने लगेंगे। इस अध्याय का अंतिम भाग आत्म-सम्मान की कथा कहता है, और उन प्रश्नों को रखता है जो मनोवैज्ञानिक इसके विषय में उठा रहे हैं। मुझे यह भी जोड़ देना चाहिए कि यह अवधारणा शहरी भारतीय शैक्षणिक वृत्तों में लोकप्रिय बन रही है, इस कारण इसके अर्थ की आलोचनात्मक समझ तथा मूल्य को समझना हमारे लिए भी आवश्यक है।

आत्म-सम्मान

1970 के दशक की शुरुआत से पंद्रह हज़ार से भी अधिक ऐसे लेख पत्रिकाओं में लिखे जा चुके हैं जो आत्म-सम्मान पर या कोई व्यक्ति स्वयं अपना मूल्यांकन कैसे करता है के विषय में है। तीन दशकों के दौरान इस क्षेत्र में जो प्रचण्ड उत्पादन हुआ, उसमें लोकप्रिय मनोविज्ञान का संदेश यह था कि यह परिवर्तनशील घटक बेहद महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके कई सकारातमक नतीजे जैसे, भविष्य को लेकर आशावान होना, शराब का उपयोग घटना, आक्रामकता में कमी आना, काम में सफलता, शारीरिक स्वास्थ्य तथा दीर्घायु हो सकते हैं। शिक्षाविदों के लिए दावा यह किया गया था कि उच्च आत्म-सम्मान बेहतर स्कूली प्रदर्शन की दिशा में ले जाएगा। स्वाभाविक था कि शिक्षकों और माता-पिता को तत्काल परामर्श दी गई कि वे आलोचना से बचें और तारीफ करें, तारीफ और अधिक तारीफ... और दासियों हज़ार शिक्षकों ने (मुख्यतः पश्चिम में) इस परामर्श पर गंभीरता से अमल किया।

आत्म-सम्मान के बारे में जो बात समझना सबसे ज़रूरी है वह यह है कि इस अवधारणा में **सटीकता की आवश्यकता नहीं** है। अर्थात् जिस व्यक्ति में कई सकारात्मक गुण और उपलब्धियों हों, उसका भी आत्म-सम्मान क्षीण या कम हो सकता है। जबकि कोई अन्य जो न खास कुशल हो न प्रतिभाशाली उसका आत्म-सम्मान इसके बावजूद प्रबल हो सकता है। बेशक ऐसे भी लोग हैं, जिनका आत्म-सम्मान एक वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन से वास्तव में मेल खाता हो। यों देखें तो आत्म-सम्मान स्वयं के विषय में एक सच्चाई नहीं बल्कि एक बोध होता है। इस आंदोलन का दावा यह था कि आत्म-सम्मान का, जो मूलतः एक बोध है, छात्रों के प्रदर्शन पर दृश्य प्रभाव हो सकता है, जो उनकी क्षमताओं और कौशलों की वास्तविकता से बिल्कुल पृथक हो। और अगर इस आंदोलन को पंद्रह हज़ार से अधिक अध्ययनों का समर्थन मिला, तो उसे सही भी होना चाहिए, है ना?

गलत! सच यह था कि इन तमाम वर्षों में कई अध्ययन आत्म-सम्मान तथा परिणामों में एक सशक्त संबंध दर्शाने में असफल रहे। ये नकारात्मक निष्कर्ष उन मनोवैज्ञानिकों तथा जन-सामान्य के उत्साह तले दब गए, जो पूरी उत्कटता से यह मानते थे कि विश्वभर के

लोगों में मौजूद आत्म-सम्मान लाभदायक आचरण और यों एक बेहतर समाज को ला सकेगा। आत्म-सम्मान आंदोलन के अग्रणी नेताओं में एक थे मनोवैज्ञानिक रॉय बाउमाएस्टर, जिन्होंने इस विषय पर किसी भी अन्य व्यक्ति से अधिक पर्चे लिखे थे। 2003 में उन्हें कहा गया कि वे इस क्षेत्र में एक वस्तुनिष्ठ सर्वेक्षण करें, और उन्होंने अपने सहकर्मियों के साथ पूरी नेकनीयत से काम प्रारंभ किया। परन्तु वे तब हताशा से घिर गए जब सर्वेक्षण के पंद्रह हज़ार दस्तावेजों ने में से बड़ी संख्या में वैज्ञानिक त्रुटि दिखी। बचे हुए सही दस्तावेजों ने जो संदेश दिया वह यह था कि आत्म-सम्मान दरअसल उपलब्धि को या अन्य कई परिणामों में किसी भी दूसरे को *नहीं* बढ़ाता है। कहा जाता है कि बाउमाएस्टर ने इसे अपने कार्यजीवन की सबसे बड़ी निराशा कहा। वे अब ऐसी शोध कर रहें है जो यह दर्शाए कि आत्म-सम्मान को तूल देना *कमतर* प्रदर्शन और यहाँ तक कि कुछ परिस्थितियों में असफलता की दिशा में ले जा सकता है। इस भ्रम का एक कारण यह था कि आत्म-सम्मान पर किए गए अधिकांश अध्ययन **सहसंबंधी** (कोरिलेशनल) थे और इस प्रकार प्राप्त आंकड़ों से **कारण** (कॉज़ेशन) का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अर्थात्, संभव है कि अच्छे स्कूली या नौकरी में प्रदर्शन का नतीजा उच्च आत्म-सम्मान हो, या शायद कोई तीसरा ही परिवर्ती घटक हो, जैसे सामाजिक वर्ग, जो आत्म-सम्मान तथा प्रदर्शन दोनों का साझा कारणात्मक (कॉजल) घटक हो। भ्रम का एक अन्य स्रोत यह भी हो सकता है कि अधिकांश शोध आत्म-सम्मान तथा सफलता दोनों के स्व-प्रतिवेदनों (सेल्फ रिर्पोटस्) पर आधारित था। इनमें पहले यानी आत्म-सम्मान के लिए स्व-प्रतिवेदन आत्म-सम्मान की परिभाषा से ही ज़रूरी होता है। परन्तु दूसरे के लिए, अर्थात् सफलता के लिए, एक अधिक वस्तुनिष्ठ माप की ज़रूरत होती है। अन्यथा परिणामों का हमारा माप उस दिशा में पूर्वाग्रह युक्त होगा, जिस ओर व्यक्ति का आत्म-सम्मान झुका हो! दूसरे शब्दों में, उच्च आत्म-सम्मान वाले व्यक्ति अक्सर अपनी उपलब्धियों को अतिरंजित रूप में देखते हैं, और स्वाभाविक है ही कि इससे आंकड़े गड़बड़ा जाते हैं।

यहाँ बाउमाएस्टर को उद्धृत करने का लोभ संवरण मैं नहीं कर पा रही हूँ:

अतः मुझे काफी व्यक्तिगत निराशा के साथ यह प्रतिवेदन करना पड़ रहा है कि आत्म-सम्मान आंदोलन के उत्साही दावे अतिकल्पना से लेकर अनर्गल बकवास के बीच रखे जा सकते हैं। आत्म-सम्मान के प्रभाव स्वाल्प, सीमित और सभी अच्छे भी नहीं हैं। बेशक, यहाँ-वहाँ, कुछ लोग इसलिए भी खराब स्थिति में होते हैं क्योंकि उनका आत्म-सम्मान बेहद नीचा था। पर कुछ दूसरे लोग इसलिए भी खराब स्थिति में पहुँचते हैं क्योंकि उनका आत्म-सम्मान बेहद ऊँचा था। और अधिकतर समय आत्म-सम्मान से फर्क भी बहुत कम पड़ता है... उदाहरण के लिए, मुझे लगता है कि दुनिया एक बेहतर जगह होती अगर हम एक-दूसरे से कुछ बेहतर बरताव कर पाते। परन्तु ऐसा करना

कठिन है : हम सबको बदलने के लिए स्वयं को अनुशासित करना पड़ेगा। आत्म-सम्मान का नज़रिया, इसके विपरीत अपने कृत्यों को बदलने के कठिन परिश्रम करने के बदले हमें यह सोचने देता है कि हम दरअसल अधिक अच्छे हैं। इससे तो दुनिया बेहतर नहीं बन सकती।

आप कह सकते हैं कि आज आत्म-सम्मान का बुलबुला फूट चूका है। शोध ने दर्शाया है कि आत्म-सम्मान आंदोलन के साथ, अमरीका में लोगों के आत्म-सम्मान का स्तर भी बढ़ा है, पर साथ ही अवसाद, दुश्चिंता तथा आत्महत्या की घटनाएँ भी बढ़ी हैं। बेशक यहाँ कोई कार्य-कारण जुड़ाव स्थापित नहीं किए जा सकते, परन्तु यह सह-संबंध चौकन्ना कर आपको इस ओर ध्यान देने पर बाध्य करता है। आत्म-विश्वास को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भावनात्मक मुद्दे जुड़े हैं, और हमें इन्हें सावधानी से कुरेद कर निकालना होगा। आत्म-सम्मान के विभिन्न पक्षों पर अधिक वस्तुनिष्ठता से ध्यान देने में मनोवैज्ञानिकों की मदद की है और वे कई मुख्य समस्याओं को चिह्नित कर पाए हैं, जिनको नीचे संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

- आत्म-सम्मान आंदोलन छात्रों को 'स्वयं के बारे में अच्छा महसूस करवाने' पर बल देता है, पर इसके साथ ही उन वास्तविक कौशलों और दक्षताओं पर अपर्याप्त ध्यान दिया जाता है जिन पर वे अपने आत्म-सम्मान को आधारित कर सकें।
- अपने आप में उच्च आत्म-सम्मान तथा **आत्म-सम्मान की तलाश** के बीच फर्क करना चाहिए। छात्र के आत्म-सम्मान को अस्थाई रूप से बढ़ना उनकी दुश्चिंता को *कम करता* है। परन्तु जब छात्र या छात्रा अपने निजी आत्म-सम्मान की सुरक्षा करने, उसे कायम रखने और उसे संवर्धित करने का बीड़ा उठा ले, तो वह दुश्चिंता को *बढ़ाता* है। यह इन्सानों के विषय में एक सामान्य स्वयंसिद्ध बात है; हम सब

अपनी मानसिक शांति की कीमत पर आत्म-सम्मान का पीछा करते हैं!

- हालाँकि आत्म-सम्मान की *सफल* तलाश दुश्चिंता को तथा अन्य नकारात्मक भावनाओं को घटाती है, कई कक्षाओं में आत्म-सम्मान एक ऐसा विरल संसाधन भी बन सकता है, जो केवल दूसरों की कीमत पर ही हासिल किया जा सके। अतः आत्म-सम्मान की विफल तलाश कई छात्रों को उदासी, क्रोध तथा शर्म की दिशा में ले जाती है।
- क्योंकि असफलता से आत्म-सम्मान खोता है, जिन छात्रों का आत्म-सम्मान अकादमिक प्रदर्शन पर आश्रित हो वे सफल होने का भारी दबाव महसूस करते हैं। और यह दबाव सीखने की आंतरिक उत्प्रेरणा को कम करता है।
- अगर आत्म-सम्मान छात्रा का लक्ष्य बन जाए तो वह नकारात्मक घटनाओं का अति-सामान्यीकरण कर व्यक्ति के रूप में अपने समूचे लियाकत के भाव को घेर लेने देगी। यह उसे अवसाद की दिशा में ले जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक जोनिफर क्राकर ने एक पारिभाषिक जुमला ईजाद किया था 'आत्म-सम्मान की महंगी तलाश'। आत्म-सम्मान के विषय में तमाम निंदनीय बिन्दुओं में से इसकी छानबीन संभवतः सबसे अधिक रोचक है। क्राकर तथा उनके सहकर्मियों ने समूचे आत्म-सम्मान आंदोलन की एक गहन तथा सूक्ष्मतर समझ में भारी योगदान दिया है। ऐसा उन्होंने इस बात पर ध्यान केंद्रित करके किया कि अगर आत्म-सम्मान जीवन का ध्येय हो तो उसके क्या प्रभाव होंगे। क्राकर कहती हैं कि आत्म-सम्मान या आत्म-मूल्य *व्यक्तिगत हित की अत्यावश्यक ज़रूरत नहीं है*, जबकि दक्षता, संबद्धता तथा स्वायत्तता ऐसी ज़रूरतें हैं। इसके बावजूद आत्म-सम्मान अक्सर कई लोगों के लिए जीवन का ध्येय बन जाता है, और यह अनचाहे तथा अवांछनीय परिणामों की दिशा में ले जा सकता है। उदाहरण के लिए, लगता यह है कि ऐसे लक्ष्य का हमारे अंतर्वैयक्तिक संबंधों की गुणवत्ता पर, तथा वे परस्पर सहयोगी बन सकते हैं या नहीं पर प्रभाव पड़ेगा। शोध ने दर्शाया है कि जिन लोगों का लक्ष्य आत्म-सम्मान होता है उनमें जब स्व पर आँच आए तो उसके लिए दूसरों को दोषी ठहराने की वृत्ति होती है। हालाँकि दूसरों पर दोषारोपण करना आत्म-सम्मान की रक्षा करता है, यह संबंधों के लिए अच्छा नहीं होता। एक अन्य निष्कर्ष यह सुझाता है कि जिन लोगों का आत्म-सम्मान पहले से ही ऊँचा हो, वे इसका पीछा प्रभुत्व व दक्षता द्वारा करते हैं, जबकि निम्न आत्म-सम्मान वाले इसका पीछा दूसरों द्वारा स्वीकारे जाने के माध्यम से करते हैं।

संभव है कि ये सभी बिन्दु आपको अध्याय आठ में प्रशंसा वाले भाग की याद दिलाएँ। बेशक इन दोनों विचारों में घनिष्ठ जुड़ाव है, और यहीं शिक्षक की भूमिका भी होती है। जब वयस्क किसी छात्रा के काम के बजाए उसके व्यक्तित्व तथा क्षमता की प्रशंसा करता

है (यह ध्वनित करते हुए कि ये दोनों ही स्थिर या स्थाई हैं) वह स्वयं से पूछने लगती है : क्या मैं चतुर हूँ? मैं विजेता हूँ या फिर हारने वाली? इसके बजाए अगर छात्रों को (बाऊमाएस्टर के शब्दों में) 'अपनी वास्तविक प्रतिभाओं और उपलब्धियों की एक संयत, सटीक कद्रदानी मिले' तो वे स्वयं से पूछ सकते हैं : मैं क्या बनना चाहती हूँ? मैं क्या सीखना चाहता हूँ? अपने कौनसे पक्ष को मैं विकसित करना चाहती हूँ? चन्द पृष्ठों पहले छात्र असफलता या गतिरोध पर किस प्रकार की अनुक्रिया करते हैं के विषय में जो चर्चा की गई थी, यह चर्चा भी उसी के समान है। वहाँ भी हमने देखा था कि कुछ मान्यताएँ छात्रों को अपने प्रदर्शन को प्रतिपुष्टि के रूप में देखने के बदले स्थाई क्षमता मानने की ओर ले जाती हैं। वे अपने प्रदर्शन को इस बात का संकेत नहीं मान पाते कि अगली बार वे अपने प्रदर्शन को कैसे सुधारें। आत्म-सम्मान से इसका संबंध भी ज़ाहिर ही है।

निष्कर्ष

इस अध्याय में मूल मुद्दा छात्रों का भावनात्मक स्वास्थ्य तथा परिपक्वता का रहा है। हमने कई तरह की अवधारणाओं जैसे प्रवाह तथा आनंद, दुश्चिंता तथा तनाव, भावनात्मक नियमन तथा आत्म-सम्मान को देखा। एक और 'अहसास' है, अगर हम उसे यह कह सकते हैं तो, जिसकी चर्चा मनोवैज्ञानिक साहित्य में पहली बार हाल ही में उभरी है, और यह है **संतुष्टि**। आंतरिक संतुष्टि का विचार प्रसन्नता के बारे में हम जिस तरह सोचने के आदी है, उससे सूक्ष्म रूप से भिन्न है। प्राचीन आध्यात्मिक तथा दार्शनिक परंपराएँ, उदाहरण के लिए बौद्धधर्म, कहती हैं कि संतुष्टि स्वयं के 'स्व' को मज़बूत बनाने से नहीं आती। संभवतः विरोधाभासी रूप में स्व की सशक्त अवधारणा दरअसल कमज़ोर होती है, क्योंकि वह हमेशा खतरे में रहती है, उसे लगातार सुरक्षा की दरकार पड़ती है, और इसलिए वह हमेशा बाहरी परिस्थितियों के रहम पर निर्भर होती है। कुछ मनोवैज्ञानिक, जिनमें रोएसर भी शामिल हैं, इन दार्शनिक विचारों को सफलतापूर्वक मुख्यधारा की मनोवैज्ञानिक शोध में ला रहे हैं।

क्रॉकर, डेची व कई अन्य मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि भावनात्मक हित के स्रोत तीन मुख्य क्षेत्रों में अवस्थित होते हैं : दक्षता, संबद्धता तथा स्वायत्तता। रोचक यह है कि ये तीनों ही क्षेत्र 'स्व' के सशक्त भाव पर निर्भर होते हैं -- स्व जो इस या उसमें अच्छा हो, जो अन्य स्वओं से संबंधित हो, और जिसका अपने जीवन पर स्वयं नियंत्रण हो। क्या यह बात 'वास्तविक' संतुष्टि के उस विचार के विरुद्ध है जिसका वर्णन दार्शनिक शताब्दियों से करते रहे हैं? क्रॉकर के अनुसार मामला शायद ऐसा ही है, जब वे कहती हैं '...ऐसे लक्ष्य (दक्षता, संबद्धता या स्वायत्तता पाने के) ध्यान को स्व से परे नहीं हटाते बल्कि स्व के लिए कुछ पाने पर केंद्रित होते हैं और इसलिए बजाए लोगों को अपने भयों और दुश्चिंताओं के बावजूद आगे बढ़ने को प्रेरित करने के वे भयों और दुश्चिंताओं को जगा सकते हैं।

इस गहरे स्वार्थ का भावनात्मक नतीजा तब ज़ाहिर होता है जब हम स्वयं को तथा हमारे छात्रों को करीब से देखते हैं। एक बार पुनः क्रॉकर को उद्धृत करें, '...लोग आत्म-सम्मान का अनुसरण उन्हें क्या बनना है या महत्त्व तथा मूल्य पाने के लिए क्या करना है के विषय में अपनी मान्यताओं को संतुष्ट करने की चेष्टा द्वारा करते हैं; इस तलाश के अस्थाई भावनात्मक लाभ तब होते हैं जब लोग सफल हों पर अगर असफल हुए तो इसकी भारी कीमत उन्हें चुनावी पड़ती है।' क्रॉकर तथा उनके सहकर्मियों ने जो विकल्प रखा वह है अधिक समावेशी लक्ष्य अपनाना, जो अपनी ज़रूरतों के साथ दूसरों की आवश्यकताओं को भी सम्मिलित करें। यह विचार मौजूदा शैक्षणिक अभ्यासों के विरुद्ध है जो व्यक्तिगत लाभ पर सर्वाधिक बल देते हैं।

दार्शनिक तथा शिक्षाविद् स्वर्गीय जे.कृष्णमूर्ति ने अपनी रचना *कमेंट्रीज़ ऑन लिविंग* (प्रथम शृंखला) में लिखा था :

स्वयं के विषय में आपका कोई अनुमान होगा, है ना?

हम स्वयं को विभिन्न स्तरों पर रखते हैं, और हम लगातार उन ऊँचाइयों से गिरते हैं। इन गिरावटों से ही हमें शर्म आती है। स्वाभिमान ही हमारी शर्म का कारण है, हमारे गिरने का कारण है। अगर आपने खुद को किसी पीठिका पर बैठाया ही न हो, तो फिर गिर कैसे सकेंगे? ...आपने खुदको स्वाभिमान, मानवीय प्रतिष्ठा, आदर्श आदि-इत्यादि नामक पीठिका पर बैठाया ही क्यों? अगर आप यह समझ लें तो अपने अतीत पर आपको कोई शर्म नहीं आएगी; वह पूरी तरह जा चुकी होगी। आप वही होंगे जो आप बिना उस पीठिका के हैं। अगर पीठिका न हो, जो ऊँचाई आपको नीचे या ऊँचे देखने पर बाध्य करती है वह न हो, तो आप वह हैं जिससे आप हमेशा बचते आए थे। जो दरअसल है, जो आप हैं, उससे बचना ही भ्रम तथा प्रतिरोध, शर्म तथा विद्वेष पैदा करता है। आपको मुझे या किसी दूसरे को यह नहीं बताना है कि आप क्या हैं, पर जो आप हैं उसके प्रति सचेत रहें, वह जो कुछ है, प्रिय या अप्रिय : उसका औचित्य प्रस्तुत किए बिना या उसका विरोध किए बिना उसके साथ जिएँ।

हम जो कुछ भी करते हैं उसके मूल में यह पूर्वमान्यता दबी होती है कि हममें से प्रत्येक एक पृथक, स्थाई और वास्तविक स्व है। यह पूर्वमान्यता इतनी स्वाभाविक है कि इस पर प्रश्न उठाने को अमूर्त दर्शन का विषय माना जाता है, जिसे कक्षा में किसी शिक्षक और उसके छात्रों के बीच वार्तालाप में निश्चित रूप से घुसने नहीं दिया जा सकता। इसके बावजूद हालिया वर्षों में मनोवैज्ञानिक स्व की वास्तविकता पर सवाल उठाने लगे हैं। मस्तिष्क तथा जीवशास्त्र की दृष्टि से ऐसा कोई विशेष स्थान नहीं है जहाँ 'स्व' निवास करता हो। मौजूदा सिद्धान्त अक्सर 'स्व' को एक भ्रम मानते हैं जो पल-प्रतिपल तांत्रिकीय प्रक्रियाओं से गढ़ा जाता है।

भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए इन नई खोजों के संभावित निहितार्थों के विषय में अधिक जानना बेहद रोचक होगा। इस अध्याय के अंत में दिए गए संदर्भों में मैंने इस क्षेत्र के कई स्रोतों को शामिल किया है। और भी बेहतर हो कि हम इन प्रायोगिक विचारों को अपने छात्रों के साथ खुली चर्चा में साझा करें, खासकर बड़े छात्रों के साथ। किशोरावस्था ऐसा समय होने के लिए विख्यात है जिसमें तरुण अपनी 'अस्मिता' या 'पहचान' को स्थापित करने की चेष्टा करते हैं; यह वह समय भी हो सकता है जब वे इस दिलचस्प सुझाव से भी जूझें कि असली भावनात्मक सुरक्षा कोई भी पहचान नहीं होने से ही आती है! पुस्तक का अंतिम अध्याय किशोरों और वे जो चुनौतियाँ प्रस्तुत करते हैं के बारे में है। इन चुनौतियों में एक, जो कमतर चुनौती नहीं है, वह यह है कि उनके जीवन में उपस्थित वयस्कों के रूप में हमें उनसे मानव अस्तित्व संबंधी सबसे गहन और बुनियादी प्रश्नों पर बातचीत करने के इस उत्तेजक अवसर को स्वीकारना चाहिए।

संदर्भ और पुस्तक सूची

1. एशबी, एफ.जी., ए.एम.आइसन, तथा ए.यू तुर्केन, 1999। 'अ न्यूरोसाइकोलॉजिकल थियोरी ऑव पॉज़िटिव अफेक्ट एण्ड इटस् इन्फ्लुएन्स ऑन कॉग्निशन'। *साइकोलॉजिकल रिव्यू,* खण्ड-106, संख्या-3, 529-50
2. बुखानेन, टी.डब्ल्यू., 2007। 'रिट्रीवल ऑव इमोशनल मेमरीज़'। *साइकोलॉजिकल बुलेटिन,* खण्ड-133, संख्या-5, 761-79
3. क्स्किलेन्टमिहाल्यी, एम. (1999)। 'इफ वी आर सो रिच, व्हाय आरन्ट वी हैप्पी?' *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-54, संख्या-10, 821-827
4. आइसनबर्ग, एन., जे लिउ, तथा एस.यू. पिडाडा, 2004। 'द लॉगिट्यूडनल रिलेशन्स ऑव रेग्युलेशन एण्ड इमोशनैलिटी टू क्वालिटी ऑव इन्डोनेशिन चिल्ड्रन्स सोश्योइमोशनल फंक्शनिंग'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-40, संख्या-5, 790-804
5. फार्मर, टी.डब्ल्यू., तथा ई.एम.ज़ेड. फार्मर, 2001। 'डेवलपमेंटल साइन्स, सिस्टम्स् ऑव केयर एण्ड प्रिवेंशन ऑव इमोशनल एण्ड बिहेवियरल प्राब्लम्स् इन यूथ'। *अमेरिकन जर्नल ऑव ऑर्थोसाइकिएट्री,* खण्ड-71, संख्या-2, 171-81
6. इम्मोरडिनो-यांग, एम.एच., तथा ए. डामासियो, 2007। 'वी फील देयरफोर वी लर्न : द रेलेवेन्स ऑव अफेक्टिव एण्ड सोश्यल न्यूरोसाइंस टू एज्युकेशन'। *माइन्ड ब्रेन एण्ड एज्युकेशन,* खण्ड-1, संख्या-1, 3-10
7. कृष्णमूर्ति, जे., 1956। *'कंमेट्रिज ऑन लिविंग : फर्स्ट सिरीज़'*, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया, मद्रास।
8. लूथर, एस.एस., तथा एल.जे.लेटनड्रेसे, 2005। ' 'चिल्ड्रन ऑव द एफ्ल्यूएन्ट : चैलेन्जेस् टु वेल-बीइंग', *अमेरिकन साइकोलॉजिकल सोसाइटी,* खण्ड-14, संख्या-1, 49-53
9. लूथर, एस.एस., 2006। 'ओवर-शेड्यूलिंग वर्सेस अदर स्ट्रेसर्स : चैलेन्जेस् ऑव हाई सोश्योइकोनॉमिक स्टेटस फैमिलीज़'। *सोश्यल पॉलिसी रिपोर्ट,* खण्ड-20, संख्या-4, 16-17
10. मेयर, जी.के., तथा जे.सी.टर्नर, 2002। 'डिस्कवरिंग इमोशन इन क्लासरूम मोटिवेशन रिसर्च', *एज्युकेशनल साइकॉलजिस्ट,* 37(2), 107-14
11. मोल्डन, डी.सी., तथा सी.एस. ड्वेक, 2006। 'फाइन्डिंग मीनिंग इन साइकॉलजी : अ ले थियोरीज़

अप्रोच टू सेल्फ रेग्युलेशन, सोश्यल परसेप्शन एण्ड सोश्यल डेवलपमेंट', *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-61, संख्या-3, 192-203

12. नेल्सन, सी.ए., तथा एल.जे.कार्वर, 1998। 'द इफेक्टस् ऑव स्ट्रैस एण्ड ट्रॉमा ऑन ब्रेन एण्ड मेमरी'। *डेवलपमेंट साइकॉलजी,* 10, 793-809
13. फ्लैप्सु, ई.ए., 2004। 'ह्यूमन इमोशन एण्ड मेमरी : इन्टरएक्शनस् ऑव द एमीग्डला एण्ड हिप्पोकैम्पल कॉम्पलैक्स'। *करेन्ट ओपिनियन इन न्यूरोबायोलॉजी,* 14: 198-202
14. रोएसर, आर.डब्ल्यू., जे.एस. एक्कलेस, तथा ए.जे.सामेरॉफ, 1998। 'अकैडमिक एण्ड इमोशनल फंक्शनिंग इन अर्ली अडोलसेन्स'। *डेवलपमेंट एण्ड साइकोपैथॉलजी,* 10, 321-52
15. रोएसर, आर.डब्ल्यू., सी.मिडग्ले, तथा टी.सी.अर्बन, 1996। 'परसेप्शन्स ऑव द स्कूल साइकोलॉजिकल एन्वायरन्मेंट एण्ड अर्ली अडोलसेन्टस् साइकलॉजिकल एण्ड बिहेवियरल फंक्शनिंग इन स्कूल : द मीडिएटिंग रोल ऑव गोल्स् एण्ड बिलौंगिंग'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-88, संख्या-3, 408-22
16. वॉल्डन, टी.ए., वी.एस. हैरिस, तथा टी.एफ. कैटरॉन, 2003। 'हाऊ आई फील : अ सेल्फ रिपोर्ट मैज़र ऑव इमोशनल अराउज़ल एण्ड रेग्युलेशन फॉर चिल्ड्रन'। *साइकोलॉजिकल असैसमेंट,* खण्ड-15, संख्या-3, 399-412

❑❑❑

अध्याय 11

किशोरावस्था एक जैवमनोसामाजिक बदलना

दुनिया के कई समाजों में यौनिक परिपक्वता प्राप्त करने तथा एक 'वयस्क' बनने के बीच कई सालों का अंतराल होता है। इस अंतराल का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि तरुण वास्तव में आत्मनिर्भर हो सकें, उसके पहले उन्हें कई जटिल कौशलों में प्रवीणता हासिल कर लेनी होती है। और औद्योगिक समाजों में यह तब तक पूरा नहीं हो पाता जब तक वे अठारह साल के या उससे भी बड़े न हो जाएँ। इस काल-अवधि को किशोरावस्था कहा जाता है, और मनोवैज्ञानिक इस पर एकमत नहीं हैं कि यह एक सामाजिक संरचना (सोश्यल कंस्ट्रक्ट) है या विकास का एक वास्तविक चरण। कुछ का मानना है कि यह **औद्योगीकृत समाज का एक शिल्प-तथ्य** (आर्टीफैक्ट) है, परन्तु अन्यों का मानना है कि *किसी भी* समाज में बाल्यावस्था तथा वयस्कावस्था के बीच समायोजन (एडजस्टमेंट) की एक अवधि अवश्य होती ही है। नई सामाजिक भूमिकाओं से समायोजन करना शरीर में हो रहे जैविक बदलावों के कारण और जटिल बनता है, और यह कल्पना करना हमारा भोलापन ही होगा कि कोई तरुण इन चुनौतियों से बिना तनावों के आसानी से गुज़र सकता है। इस दृष्टि से किशोरावस्था तथा उसकी तमाम विशेषताएँ तुलनात्मक रूप से एक **सार्वजनीन परिघटना** है।

भारतीय छात्र जब पश्चिम की मनोविज्ञान की पाठ्यपुस्तकें पढ़ते हैं तो अक्सर यह टिप्पणी करते हैं कि उनमें किशोरावस्था का जो वर्णन मिलता है उससे वे बहुत कम जुड़ाव महसूस कर पाते हैं। फिर भी, ऐसा शायद जिस प्रकार अध्याय लिखी गई हैं उसके कारण होता है -- इन पुस्तकों के पाठक मुख्यतः पाश्चात्य होते हैं और वे भारतीय संदर्भों के लिए नहीं लिखे गए होती हैं। किशोरों पर अच्छे स्तर की पर्याप्त मनोवैज्ञानिक शोध है जो हम पर भी लागू की जा सकती है। बेशक, आदर्श स्थिति में हमें भारतीय किशोरों पर अपनी शोध करनी चाहिए। परन्तु भारत में किशोरावस्था पर अपने सिद्धान्त गढ़ने के पूर्व हमें एक व्यापक व पर्याप्त शोध आधार की ज़रूरत होगी, जिस स्थिति से फिलहाल हम काफी दूर हैं। अतः इस अध्याय में मैं मुख्यधारा के मनोविज्ञान की महक आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगी, और उससे हमारे लिए कुछ उपयोगी तथा रोचक सीखें भी निकालूँगी।

मनोवैज्ञानिक शोध किशोरावस्था की पश्चिमी अवधारणा के प्रति पूर्वाग्रहयुक्त होने के अलावा, इस विकासात्मक चरण की नकारात्मक अवधारणा की दिशा में भी पूर्वाग्रहयुक्त है। 1950 के दशक से ही मनोवैज्ञानिकों ने किशोरों में वयस्कों के साथ टकराव, आपराधिक वृत्तियाँ, तुनकमिजाज़ी, तथा जोखिम उठाने के आचरण का अध्ययन किया और उन पर ध्यान केंद्रित किया। इस ध्यान के कारण किशोरावस्था का जो तूफान-और-तनाव प्रतिमान (मॉडल) कहलाता है, वह पुष्ट हुआ। इसका एक बड़ा हिस्सा सिग्मंड फ्रॉयड तक ले जाया जा सकता है, जिनका किशोरावस्था की अशांति के विषय में अपना ही एक रंग-बिरंगा स्पष्टीकरण था। दरअसल उनकी बेटी एना फ्रॉयड, यह मानती लगती थीं कि 'किशोरावस्था में सामान्य होना, अपने आप में ही असामान्य है'। 1990 के दशक के आस-पास, कई मनोवैज्ञानिकों ने इस 'रूढ़छवि' को फिर से जाँचना प्रारंभ किया है। रोचक यह है कि कई सामान्य-जन भी किशोरावस्था की इसी नकारात्मक दृष्टि को मानते हैं। और इस कारण अपने शोध परिणामों की वैधता के बारे में निश्चित होना भी कठिन बन जाता है। इस आयु वर्ग की कठिनाइयों के विषय में जो प्रतिवेदन हैं, उनमें कितना हिस्सा 'भूमिका को अदा करने के कारण है?' विकास का अध्ययन करने के हमारे जो तरीके हैं, वे ऐसी समस्याओं से निरापद नहीं हैं।

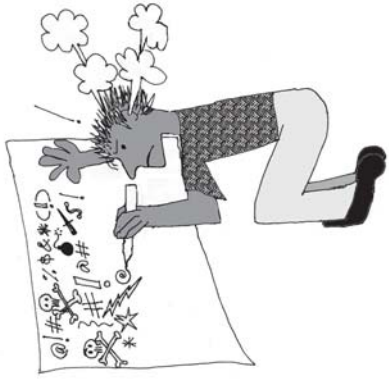

किशोरों के मस्तिष्कों की झलक पाने के केवल कुछ ही तरीके हैं। आप

उनसे सीधे बातचीत कर सकते हैं और उनसे सवाल पूछ सकते हैं। इसे आत्म-प्रतिवेदन (सेल्फ रिपोर्ट) विधि कहते हैं। दुर्भाग्य से किशोरों की एक बड़ी खासियत है, निजता (प्राइवेसी) की उनकी सख्त ज़रूरत, इसलिए यह तरीका एक सटीक छवि नहीं भी दे सकता है। आप उनके करीबी लोगों (माता-पिता, दोस्तों, शिक्षकों) से बात कर सकते हैं। परन्तु संभव है कि वे किशोरावस्था की तूफान-और-तनाव वाली रूढ़छवि से पूर्वाग्रहग्रस्त हों। सो यह तरीका भी सटीक नतीजे दे ऐसा ज़रूरी नहीं। या फिर आप किशोरों का अवलोकन कर सकते हैं, उनके विभिन्न आचरणों की प्रायिकता पर ग़ौर कर सकते हैं, और इससे यह अनुमान लगाने की कोशिश कर सकते हैं कि उनकी खोपड़ी में क्या कुछ हो रहा होगा। मनोवैज्ञानिकों ने यह सब किया है और इसके अतिरिक्त आरामकुर्सी पर बैठे-बैठे किशोरों की सामान्य छवियों पर आधारित कर दार्शनिक सिद्धान्त भी गढ़े हैं। इन सभी विधियों की समस्याओं में एक यह है कि वे सच में पल-प्रति-पल होने वाले उन भावनात्मक उतार-चढ़ावों या मिजाज़ में आए बदलावों को चिह्नित नहीं कर पाते, जिसकी भविष्यवाणी तेज़ी से परिवर्तित होने वाली हार्मोन गतिविधि करती है। इस समस्या का समाधान मनोवैज्ञानिक मिहाले, क्सिएकत्जेन्ट मिहाल्यी तथा रीड लार्सन ने निम्नोक्त कल्पनाशील तरीके से किया। किशोरों को छोटे बीपर दिए गए जो तकरीबन हर दो घंटे पर बजते थे। बीपर के बजने पर उक्त तरुण को एक प्रपत्र भरना पड़ता था जो उनसे उनकी मौजूदा गतिविधि, दिमागी हालत, विचारों व भावनाओं का हाल पूछता था। इस विधि ने तेज़ी से परिवर्तित होने वाले तात्कालिक संवेदनों तथा भावनाओं की उस दुनिया को उज़ागर किया जिसमें किशोर बसते हैं। इसने यह भी दिखाया कि किशोरों को महसूस होने वाले संघर्षों में अधिकांश छोटे और तुच्छ नज़र आने वाले मसलों पर होते हैं, हालाँकि उनकी भावनाओं की सघनता बेहद सशक्त होती है। संभव है कि यह तथ्य कि वयस्क उन चीज़ों को 'तुच्छ' मानते हैं जो किशोरों को महत्त्वपूर्ण लगती हैं, अपने आप में इस टकराव का महत्त्वपूर्ण स्रोत हो।

किशोरावस्था के प्रति सांस्कृतिक व लोकप्रिय पूर्वाग्रह तथा विभिन्न शोध विधियों की कठिनाइयों के प्रति सजगता हमें इस क्षेत्र में हुए अध्ययनों के परिणामों का बेहतर मूल्यांकन करने में सहायता देगी।

परिवर्तन के विषय में सब कुछ

किशोर मनोविज्ञान के विशाल छत्र के नीचे तमाम ऐसे विषय आते हैं जो परस्पर आच्छादित हों। इन सबका संबंध बदलाव से है, जो जीवन के इस चरण का सबसे महत्त्वपूर्ण संकेत-शब्द लगता है। बेशक समूचा बचपन ही भारी वृद्धि और बदलाव का समय है, और हम वयस्क भी यह महसूस करना चाहेंगे कि हम भी बदल रहे हैं, अश्भीभूत नहीं हो चुके हैं! इसके बावजूद बदलावों की दर और अनियमितता खासतौर से

किशोरावस्था को एक अनूठा चरण बनाता है। निम्नोक्त सूची को ज़रा देखें। किशोरावस्था की विशेषताएँ हैं :

- शरीर में हार्मोन व अन्य रसायनों में बदलाव;
- शारीरिक आकार में बदलाव जो अचानक होते हैं और दूसरों को भी स्पष्ट नज़र आते हैं, और यौनिक परिपक्वता का संकेत देते हैं;
- भावनात्मक परिवर्तन, जैसे उत्तेजना, दुश्चिंता, उल्लास, अवसाद;
- नए आचरण (टकराव, आक्रामकता, जोखिम उठाना, रोमांच की तलाश);
- नए मनोवैज्ञानिक मुद्दे, जैसे अपनी अस्मिता की तलाश, सत्ता के प्रति विद्रोह, रूमानी रुचियाँ, बढ़ती संकोचशीलता, हमउम्र साथियों पर बढ़ी हुई निर्भरता;
- सामाजिक बदलाव, जैसे अधिक स्वायत्तता और आज़ादी की इच्छा करना और पाना;
- संज्ञानात्मक बदलाव, ऐसा गुणात्मक या संख्यात्मक बदलाव जो काफी उच्चतर स्तर पर सीखने और समझने की अनुमति देते हैं।

हार्मोन तथा शारीरिक परिवर्तन तथा वे बदलाव जो यौनिक जागृति का संकेत हैं, शक्तियों की एक मज़बूब शृंखला होते हैं। ये किशोरावस्था के सार्विक संकेतक हैं और काफी बड़ी हद तक इनके भावनात्मक और आचरण संबंधी प्रभावों से अपेक्षा रखी जा सकती है कि ये सभी संस्कृतियों में समान होंगे। किशोरावस्था के दौरान हार्मोन औसत सघनता में वृद्धि के साथ उसके आवर्ती प्रतिमान में अनियमितता के माध्यम से अपना प्रभाव डालते हैं। इन प्रभावों की एक बेहद सधी हुई समीक्षा 1992 में जैकलीन एकलेस तथा उनके सहकर्मियों ने प्रकाशित की। मनोवैज्ञानिक एकलैस ने किशोरावस्था के कई विभिन्न पक्षों का अध्ययन बिना उस 'नकारात्मक' पूर्वग्रह के किया है, जिसका मैं पहले ज़िक्र कर चुकी हूँ। 1992 के उनके पर्चे का सारांश इस वक्तव्य से प्रारंभ होता है', .. .किशोरावस्था अनिवार्य रूप से मुसीबत का ऐलान नहीं करती'। इसके बावजूद किशोरावस्था के जिन पक्षों का ठेठ रूप से अध्ययन किया जाता रहा, उसका अंदाज आपको दिलाने के लिए उस पर्चे के उप-शीर्षक ये हैं : 'मनोदशा में उतार-चढ़ाव तथा मनोदशा की सघनता', 'अवसाद', 'दुश्चिंता', 'आक्रामकता तथा आचरण संबंधी समस्याएँ', 'संकोचशीलता'! पर्चा उन समस्त उपलब्ध प्रमाणों को जाँचता है जो इन परिघटनाओं की जड़ हार्मोन को बताते हैं। एक वाक्य में कहें तो : हार्मोन प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही भूमिकाओं को निभाते हैं, और, उनके प्रभाव के कई संभाव्य रास्ते होते हैं। आगामी दो अनुच्छेद इन निष्कर्षों को संक्षेप में रखेंगे।

किसी तरुण के शरीर में आए बदलाव कुछ खास तरह के आचरण की छूट देते हैं, जैसे लड़कों में ताकत की वृद्धि उन्हें जो वे चाहते हैं उसे पाने में आक्रामकता का उपयोग करने की दिशा में ले जाता है। हार्मोनों में बदलाव (टेस्टेस्टोरोन तथा एस्ट्रोजन दोनों के स्तरों में) इंद्रियों को अधिक जीवन्त व सचेत बनाते हैं, और यह कुशलक्षेम के भाव में (जो लगभग नशा चढ़ने-सा हो सकता है) इज़ाफा कर सकता है। दूसरी ओर, दुखद संवेदना के प्रति अधिक संवेदनशीलता चिड़चिड़ाहट और क्रोध में परिणित हो सकती है। हार्मोनों में वृद्धि उद्दीपन के प्रति अधिक तात्कालिक व तेज़ प्रतिक्रिया की दिशा में भी ले जा सकती है, जो विभिन्न परिस्थितियों में अचानक गुस्से से झड़पने या आसानी से हंसने की दिशा में ले जा सकती है। आधारभूत चयापचयी दर (बेसल मैटेबॉलिक रेट) में उतार-चढ़ाव या स्वचालित प्रतिक्रिया (ऑटोमैटिक रिएक्टिविटी) कभी ऊर्जा के अहसास में योगदान देती है, तो कभी सुस्त महसूस करवाती है। और अंततः, हार्मोन किशोरों पर घूम-फिर कर भी असर करते हैं : अगर वे स्वयं और उनके आस-पास के लोग यह विश्वास करते हैं कि हार्मोन तूफान-और-तनाव का कारण हैं, तो यह विश्वास एक स्वयंसिद्ध होने वाली भविष्यवाणी बन जाता है। अतः कई मामलों में मिजाज़ और आचरण में गौण परिवर्तनों पर भी 'किशोर हार्मोनों' का ठप्पा चस्पाँ हो जाता है।[1]

एक ओर यह सब चलता रहता, पर साथ ही गैर-हार्मोनल घटक जैसे स्कूल और परिवार का वातावरण तथा उनकी प्रकृति भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अध्ययनों ने दर्शाया है कि अगर टेस्टोस्टरोन का स्तर ऊँचा हो तो कुण्ठाओं के प्रति सहनशीलता घट जाती है, जिसका मतलब यह है कि *उकसाए जाने पर* व्यक्ति का आचरण अधिक आक्रामक बन जाता है। दूसरे शब्दों में कोई ऐसा लड़का जिसका टेस्टोस्टरोन स्तर ऊँचा हो, पर जिसे बिरले ही उकसाया जाए, या कभी न उकसाया जाए, शायद कभी आक्रामकता प्रदर्शित भी न करे। अर्थात् हार्मोनों के प्रभाव की मध्यस्तता ऐसे वातावरण से

1. हार्मोन में होने वाला उतार-चढ़ाव किशोरों में मनोरोगों या पर्यावरण में मौजूद दबावों जैसे स्पर्धात्मक अकादमिक परीक्षकों के प्रति उनकी संवेदनशीलता के मानसिक रुझानों को बढ़ा सकते हैं। यह अवसाद की दिशा में ले जा सकता है, और कुछ चरम मामलों में, आत्महत्या की ओर भी।

की जा सकती है जो खतरा प्रस्तुत न करते हों। इसी प्रकार हार्मोनों के बदलाव अवसाद को भी प्रभावित करते हैं। पर यह प्रभाव उन किशोरों पर अधिक होता है जो मनोवैज्ञानिक रूप से अधिक संवेदनशील हों, या जो तनावपूर्ण वातावरण में हों।

किशोरों की जो चिरकालिक तलाश रही है, वह है एक स्थिर समेकित पहचान की तलाश। इसकी जड़ संभवतः इस अहसास में है कि वे विभिन्न संदर्भों में, इतना भिन्न-भिन्न आचरण करते हैं ('यह भला मैंने क्यों किया, यह तो मेरे-सा नहीं है', या 'मैं तो बस अपने-सी बनी रहूँगी' पर तब 'असली मैं है कौन-सी?') सुविख्यात मनोवैज्ञानिक एरिक एरिकसन के अनुसार किशोरावस्था का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है पहचान का गठन। अस्मिता या पहचान, बावजूद 'एकाधिक स्व' के अहसास के स्वयं की निरंतरता तथा समानता का भाव है। साथ ही अस्मिता स्वयं के बारे में कुछ मान्यताओं की शृंखला भी है, जिसमें व्यक्ति किन अर्थों में दूसरों के समान तथा किन में दूसरों से भिन्न है इससे जुड़े विश्वास शामिल हैं। अस्मिता गठन प्रक्रिया का जो वर्णन एरिकसन करते हैं वह यह सुझाता है कि यह काम प्रभावशाली और पेचीदा है। किसी भी किशोर के लिए इसमें विश्लेषण के चार स्तर होते हैं:

- दूसरों के बारे में उसके फैसले;
- दूसरों के उसके बारे में फैसले;
- दूसरों के फैसलों के बारे में उसके फैसले; और
- उन सामाजिक व सांस्कृतिक मानकों का ज्ञान जिनके आधार पर वह फैसले ले सके!

इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण को देखें। मान लें कि कोई तेरह वर्षीय छात्रा अपने सहपाठी को गृहकार्य के बारे में बोले गए झूठ में पकड़े जाती देखती है। संभव है कि उसके दिमाग में कई विचार दौड़ें, जैसे, 'गृहकार्य को लेकर झूठ बोलकर बड़ी बेवकूफी की', 'बेवकूफी से पकड़ी गई', 'अगर मैं सच बोल दूँ तो क्या मेरे दोस्त सोचेंगे कि मैं कुछ ज़्यादा ही भोली-भोली लड़की हूँ?' और 'अगर अध्यापक जी को पता चले कि मैंने पिछली परीक्षा में नकल की थी तो क्या वे मुझे बुरी लड़की मानेंगे?' या अगर कोई चौदह वर्षीय लड़का किसी नए छात्र के प्रति दोस्ताना बरताव करता है तो वह यह सोच सकता है कि 'क्या मैं एक दोस्ताना व्यक्ति हूँ? क्या मैं तब अधिक टंच (कूल) होता अगर मैं इस नए छात्र से बदतमीज़ी करता? अगर मेरे दोस्तों को यह पसंद नहीं आता कि मैं इस लड़के से अच्छा बरताव कर रहा हूँ, तो शायद यह समस्या मेरी नहीं उनकी ही है!'

किसी किशोरी की स्व की भावना उसके वातावरण के मूल्यों तथा अभ्यासों से ज़बरदस्त रूप से प्रभावित होती है, और यहाँ स्कूल एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। क्या

आपका स्कूल छात्रों में अपनत्व तथा सुरक्षा का भाव जगाता है, मदद की उपलब्धता के साथ वातावरण की खुद-ब-खुद छानबीन करने का मौका देता है, केंद्रीय गतिविधियों में भागीदारी के अवसर देता है? या वह एकाकीपन के भाव को प्रोत्साहित करता है, छात्र को दूसरे छात्र और छात्र को शिक्षक के विरुद्ध खड़ा कर देता है, छानबीन के प्रयासों को अवरुद्ध करता है, और भागीदारी को हतोत्साहित करता है? कैसा स्कूली वातावरण छात्रों को स्व का सकारात्मक प्रतिनिधित्व पाने में मदद करता है, इसका अनुमान लगाने के लिए आपको कोई इनाम नहीं मिलेगा। अगले भाग में स्कूली वातावरण और उसके प्रभावों पर एक अधिक लम्बी चर्चा दी जा रही है।

किशोरावस्था का एक और रूढ़िगत संघर्ष है स्वायत्तता और स्वतंत्रता की बढ़ती आवश्यकता। यह वयस्कों के साथ टकराव की संभावना को बढ़ाती है। छोटे बच्चे कई तरह की परिस्थितियों में वयस्कों की सत्ता स्वीकार लेते हैं। इन स्थितियों में व्यक्तिगत साफ-सफाई और उनका दिखाव-बनाव कैसा हो, से कैसे और किसके साथ समय बिताएँ आदि शामिल होते हैं। किशोरों के लिए इनमें से कई परिस्थितियाँ, नैतिक या प्रथागत क्षेत्र से हटकर **व्यक्तिगत** क्षेत्र में आ जाती हैं (इन तीनों क्षेत्रों के वर्णन के लिए देखें अध्याय छह)। आखिर, अंततः कोई वयस्क भी तो अपने अधिकांश कृत्यों और निर्णयों को स्वयं के सिवा किसी दूसरे का मसला नहीं मानता सिवाए, शायद उन कृत्यों के जो कानून तोड़ने वाले हों। लगभग प्रत्येक मुद्दे पर वयस्कों के प्रति जवाबदेह होने से हटकर अधिकांशतः स्वयं खुद के प्रति जवाबदेह होना, एक क्रमिक प्रक्रिया ही हो सकती है, और किशोरावस्था ही इस संक्रमण की अवधि है।

यहाँ लगता है कि काश भारतीय किशोरों पर भी कुछ आंकड़े होते, हालाँकि हमें विभिन्न वर्गों, धार्मिक समूहों तथा शहरी-ग्रामीण परिवेशों के पृथक-पृथक आँकड़ों की ज़रूरत भी पड़ सकती है। एक बहु-सांस्कृतिक अध्ययन में, जो आसानी से भारतीय संदर्भ पर लागू किया जा सकता है, एंड्रयू फुलिग्नि ने चार भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों वाले अमरीकी किशोरों से (जो फिलीपीन्स, चीन, मैक्सिको तथा यूरोप से आए प्रवासियों के बच्चे थे) पूछा कि कई प्रकार की स्थितियों में अगर उनके माता-पिता नियम बनाएँ तो वह 'ठीक' (ओके) होगा या 'ठीक नहीं होगा (नॉट ओके)। इन नियमों में सप्ताहन्त में देर से सोना, फोन पर बातचीत करना, घरेलू काम करना, अपनी गतिविधियों की माता-पिता को जानकारी देना, कैसे कपड़े पहनना, किन दोस्तों के साथ समय बिताना, और अपने कमरे को साफ करना शामिल थे। फुलिग्नि ने इन प्रजातीय समूहों का चयन इस उम्मीद से किया था कि जिन संस्कृतियों में माता-पिता की सत्ता को मूल्यवान माना जाता है और जो वैयक्तिकता को कीमती नहीं मानतीं, उनके बच्चे यूरोपीय बच्चों से बिल्कुल भिन्न प्रतिक्रिया करेंगे। फिर भी उन्हें इन समूहों में आश्चर्यजनक रूप से कम अंतर नज़र आया। साथ ही उन्हें चारों समूहों में विकास का समान प्रतिमान मिला -- उम्र

बढ़ने के साथ, कई परिस्थितियों को अधिकाधिक रूप से 'व्यक्तिगत' माना जाने लगता है। दूसरे शब्दों में अधिकाधिक रूप से माता-पिता द्वारा अधिकाधिक मुद्दों पर नियम बनाना बच्चों को 'ठीक नहीं' (नॉट ओके) लगने लगता है। वे अपने निष्कर्षों को एक वाक्य में समेटते हैं, 'जिन समूहों में परंपरागत रूप से व्यक्तिगत स्वायत्तता के ऊपर माता-पिता की सत्ता पर बल दिया जाता है, उनमें भी बच्चे किशोरावस्था में बढ़ने के दौरान माता-पिता की सत्ता के क्षेत्र को सीमित करने के इच्छुक होते हैं'।

अंत में हम उन संज्ञानात्मक बदलावों पर आते हैं जो किशोरावस्था को परिभाषित करते हैं। हालाँकि पियाज़े के विकास के सिद्धान्त ने यह सुझाया था कि किशोरावस्था में अमूर्तीकरण की क्षमताओं में ऊँची छलाँग नज़र आती है, कई दशकों के शोध अधिक बुनियादी कौशलों में क्रमिक सुधार की दिशा में संकेत करते हैं। अध्याय चार बाल विकास पर था उससे शायद आपको याद हो कि आज कई मनोवैज्ञानिक संज्ञानात्मक विकास की एक अधिक निरंतर व क्रमशः बढ़ने वाली छवि के पक्ष में तर्क करते हैं। कार्यात्मक स्मृति, प्रसंस्करण की गति, दीर्घकालिक ज्ञान की मात्रा तथा उसकी व्यवस्था तथा अधिसंज्ञान (मैटाकॉग्निशन) में सुधार देखा जा सकता है और ये सभी किशोरावस्था के दौरान बेहतर से बेहतर होते जाते हैं। पियाज़े ने जो विख्यात काम बच्चों को सौंपा था उसमें कुछ टोंटीदार पात्रों में रसायन थे और एक परीक्षक (टैस्टर) था जो रसायनों के एक खास संमिश्रण से पीला हो जाता था। बच्चों का काम था कि वे प्रयोगों की एक शृंखला द्वारा उस संमिश्रण को तलाशें। इस कार्य के उपयोग से उन्होंने पाया कि बारह वर्ष की आयु के पहले बच्चा अव्यवस्थित व मनमाने तरीके से प्रयोग करता है जिसमें वह कुछ संमिश्रणों को छोड़ देता है, तो कुछ को दोहराता है, और इसलिए वह उस सही मिश्रण तक नहीं पहुँच पाता जिसमें किन्हीं दो रसायनों की उपस्थिति और किसी एक की अनुपस्थिति ज़रूरी है। परन्तु तकरीबन बारह साल के आयु के बाद बच्चे व्यवस्थित योजनाएँ बनाने लगते हैं, और रसायनों को ऐसे जाँचते हैं कि सभी 15 संमिश्रणों को बिना दोहराए एक क्रम में जाँच सकें। इस प्रकार ये 'औपचारिक-संक्रियात्मक' तर्ककर्ता, (फॉर्मल-ऑपरेशनल रीज़नर्स)' जैसा पियाज़े ने उन्हें नाम दिया था, सही उत्तर तक पहुँच जाते हैं। अतः किशोरावस्था को कम से कम संज्ञानात्मक अर्थ में, औपचारिक-संक्रियात्मक चरण के रूप में देखा जाने लगा।

तब से दुनिया भर के अनेक किशोरों ने यह काम किया है, और टोंटीदार पात्रों में छलकते रसायनों ने हमें दो रोचक पाठ पढ़ाए हैं। अव्वल तो यह, कि केवल 20 प्रतिशत किशोर तथा वयस्क ही औपचारिक-संक्रियात्मक तर्ककर्ता होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने तार्किक विवेचना की आवश्यकता वाले अन्य कार्य भी ढूंढ़ निकाले हैं, जैसे कौन-से मार्के की वस्तु खरीदना बेहतर है, और इन सभी कार्यों में अधिकांश किशोर और वयस्क तार्किक रूप से विवेचना करने में असफल रहते हैं।

दूसरी बात यह है, कि सुस्पष्ट प्रशिक्षण के साथ, न केवल किशोर बल्कि उनसे छोटे बच्चे भी व्यवस्थित तर्ककर्ता बन सकते हैं। यह सब संकेत यह देता है कि बेहतर बुनियादी क्षमताएँ और विभिन्न जटिल कार्यों में सुस्पष्ट प्रशिक्षण प्रदर्शन को सुधारता है। उस विकासात्मक वक्र में किशोर ऊँचे बिन्दु पर होते हैं, और हम कई क्षेत्रों में उनकी तार्किकता में बदलाव देखने की उम्मीद स्वाभाविक रूप से कर सकते हैं।

माइकल कोल से, जो विकास व अंतरसांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक हैं, आपका अध्याय चार में परिचय हुआ था। वे स्पष्ट करते हैं कि किशोर अधिकाधिक रूप से अनुमानिक संभावनाओं के बारे में, भविष्य के बारे में, अपने खुद के तथा दूसरे के विचारों के बारे में, और सामाजिक परिपाटियों के परे सोच सकते हैं। सच तो यह है कि इनमें से अंतिम बात उन्हें वयस्कों के जीवन में व वयस्क समाज में विरोधाभासों को देखने की छूट देती है, और यह कभी उन्हें दोषदर्शिता (सिनिसिज़्म) तथा परंपरा को नकारने की दिशा में ले जाता है। संभव है कि इन दिशाओं में बढ़ना स्वायत्तता की उनकी सामान्य आवश्यकता को और पुख्ता करता हो। अतः हमें तब अचरज भी नहीं होना चाहिए अगर किशोर हम वयस्कों के तर्कसंगत प्रश्नकर्ता बनने के बजाए विद्रोही या विद्वेषी बन जाएँ!

बदलावों से समझौता करना हम सबके लिए कठिन होता है, इसलिए हम यह बखूबी समझ सकते हैं कि जब किशोरों के जीवन में सब कुछ तेज़ी से बदल रहा हो, स्वयं उनके अंदर, और कम से कम उनकी नज़र में बाहर भी, तो उनके सामने कैसी चुनौतियाँ होंगी। हमें ऐसे उपायों को तलाशने की ज़रूरत है जिनसे कोई स्कूल इन बदलावों से गुज़रने में, इस संक्रमण काल को सहज बनाने में छात्रों की मदद कर सके। दुर्भाग्य से शोध सुझाता

है कि किशोरों की आवश्यकताओं के संदर्भ में स्कूल उनसे मेल खाने के बदले बेमेल ही सिद्ध होते हैं। अगले भाग में इस बेमेलपन का वर्णन किया जाएगा, जिसके बाद स्कूलों तथा शिक्षकों के लिए शोध से जो सुझाव उभरते हैं, उन्हें प्रस्तुत किया जाएगा।

स्कूल तथा किशोर

आपके स्कूल के लक्ष्य क्या हैं, और उनका अनुसरण किस प्रकार किया जाता है? सफलता के अर्थ के विषय में स्कूल क्या संदेश देता है, और शिक्षक उन्हें किस प्रकार अनुदित करते हैं? क्या छात्रों को स्वयं को अभिव्यक्त करने और महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने के अवसर मिलते हैं? क्या शिक्षक समझने तथा प्रयास करने पर बल देते हैं या फिर वे 'चतुर' छात्रों को बाकी छात्रों से बेहतर मानते हैं? अगर स्कूल समरूप क्षमता समूहों (होमोजीन्यस् एबिलिटी ग्रुप्स्) का पक्षपाती है (फिर चाहे वे ऐसे समूह को चिह्नित कर (ट्रैकिंग) या किसी खास दिशा में मोड़ कर (स्ट्रीमिंग) क्यों न बनाते हों), उपलब्धि के लिए पुरस्कार स्थापित करता है, छात्र के क्रमांक को सार्वजनिक करता है, तो ज़ाहिर है कि वह स्पर्धा तथा सामाजिक तुलना पर ध्यान केंद्रित करता है। ऐसे परिवेश में किशोर छात्र यह संदेश ग्रहण कर लेते हैं कि 'सफलता' पाने के लिए छात्र के व्यक्तिगत स्तर में सुधार या दक्षता महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह सीखने के प्रति उनके उत्प्रेरण को प्रभावित करता है, और उन्हें कुण्ठित बना सकता है, या कम से कम उन्हें सीखने के प्रति संकोचशील बना सकता है। यह उस समय होता है जब वैसे भी उनका रुझान खासतौर से संकोचशीलता की तरफ हो है। यह संकोचशीलता उनकी एकाग्रता को बाधित करती है और अकादमिक जोखिम उठाने के प्रति भय पैदा करती है।

स्कूली वातावरण के कई पक्ष दरअसल किशोरों की विशेष आवश्यकताओं के विरुद्ध काम करते हैं। मनोवैज्ञानिक रॉबर्ट रोएसर तथा उनके सहकर्मियों ने, अमरीका तथा भारत, दोनों ही देशों में स्कूली वातावरण तथा किशोरों की आवश्यकताओं के बीच जुड़ाव का विश्लेषण किया है। किशोरों को भावनात्मक सहारा देने वाले वयस्कों के संपर्क में रहने की ज़रूरत होती है, क्योंकि जीवन के इस चरण में वे अपने माता-पिता से स्वायत्तता व स्वतंत्रता चाहते हैं। सवालों में रूमानियत होती है, अतः वह अपने साथियों की दृष्टि में कैसा लगता है (केवल शारीरिक रूप से ही नहीं), को लेकर दुखद रूप से सचेत होता है। हल्की-फुल्की सामाजिक तुलना भी उसे सार्वजनिक रूप से अपमानित महसूस करवा सकती है। वह बौद्धिक व शारीरिक रूप से अधिक चुनौतीपूर्ण काम के लिए तैयार होता है। परन्तु जिस समय वह सैकण्डरी स्कूल में प्रवेश करता है, तो वहाँ का वातावरण उसकी आवश्यकताओं के प्रति बेहद उदासीन भी हो सकता है।

कुछ दृष्टान्तों में तो स्कूल तथा उसकी माँगे दरअसल बदल कर उस वक्त और खराब बन सकती हैं, जब छात्र किशोरावस्था में पहुँचते हैं। उदाहरण के लिए, जिस समय वे

प्राथमिक शाला में थे, उसकी तुलना में शिक्षकों का भावनात्मक सहयोग घट जाता है, तुलनात्मक मूल्यांकन पर बल दिया जाने लगता है, और विभागों में बंटे शिक्षण का रुझान आ जाता है। बड़ी कक्षाएँ घनिष्ठ शिक्षक-छात्र संबंधों को असंभव नहीं तो, मुश्किल तो बनाते ही हैं, और यह तब जब माता-पिता से इतर वयस्कों के साथ सहयोगात्मक संबंध उनके लिए पहले से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो चुके होते हैं। अन्य दृष्टान्तों में, अपने नए संज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा उत्प्रेरणात्मक अभिमुखीकरण के कारण किशोर अपने उसी वातावरण को एक भिन्न दृष्टि से देखने लगते हैं। वयस्क उन्हें अधिक नियंत्रण करते लगते हैं, या छात्रों को निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी के अवसर देने या उन्हें स्वायत्तता देने के कम इच्छुक लगते हैं। इस बात का स्पष्ट प्रमाण हमें एकलेस तथा उनके सहकर्मियों के एक अध्ययन में मिलता है। उन्होंने यह अध्ययन एक ही कक्षा में पढ़ने वाली देर से तथा जल्दी परिपक्व होने वाली बालिकाओं पर किया था। शारीरिक रूप से अधिक परिपक्व लड़कियों ने कक्षा के निर्णयों से जुड़ने की इच्छा, अपनी कम परिपक्व सहपाठिनों की तुलना में अधिक व्यक्त की। उन्होंने बताया किया कि नियंत्रण करने की उनकी इच्छा तथा दिए जाने वाले अवसरों में 'कर नहीं सकती पर करना चाहिए' किस्म का बेमेलपन है। उदाहरण के लिए उनका इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' था कि 'गणित कक्षा में क्या काम करोगे यह तय करने में मदद करने का अवसर क्या तुम्हें मिलता है?'। परन्तु, 'क्या इस निर्णय में तुम्हारी बात शामिल होनी चाहिए?' के सवाल पर उनका जवाब 'हाँ' था। एक्कलेस कहती है कि यह अंतर अंशतः वयःसंधि के दौरान वातावरण के संबंध में किशोरों की समझ में आए बदलावों के कारण आता है, और अंशतः इसलिए कि दरअसल वयस्क शारीरिक परिपक्वता के प्रति प्रतिक्रिया करते हुए अधिक नियंत्रक आचरण करने लगते हैं।

जिस समय किशोरों में ऊर्जा, दम और ताकत बढ़ रही होती है, उनमें से अधिकांश को अधिकाधिक किताबें और मेज़ पर बैठ कर किए जाने वाले कामों की दिशा में धकेला जाता है। शारीरिक गतिविधि के मौके वास्तव में कम होते जाते हैं। इसी प्रकार चौदह से सतरह वर्ष के किशोरों की तार्किक विवेचना कर पाने की क्षमता, (बेहतर कार्यात्मक स्मृति के कारण) सूचना प्रसंस्करण में कुशलता बढ़ने लगती है। पर इसी आयु के आस-पास उनका अधिक से अधिक समय छोटी और बड़ी परीक्षाओं की तैयारी में खर्च होता है। जब तक ये मूल्यांकन सही अर्थों में चुनौतीपूर्ण न हों, यह किशोरों के अमूर्तिकरण करने और समझने की बढ़ती क्षमताओं का भारी अपव्यय है।

इस बेमेलपन का अंतिम नतीजा कई मामलों में छात्रा के लिए नकारात्मक परिणामों का होता है। अकादमिक क्षेत्र में आम नतीजे हैं -- गिरता उत्प्रेरण, स्कूल में घटती रुचि, कमतर उपलब्धि और यह भाव कि वह अकुशल है। इस भाग के प्रारंभ में पूछे गए प्रश्न पर लौटते हैं, किशोरों के लिए इस संक्रांति को अधिक सहज बनाने के लिए कोई स्कूल

क्या कर सकता है? केवल आप ही यह तय कर सकते हैं कि उस विशिष्ट परिस्थिति में क्या कारगर सिद्ध हो सकता है। यही कारण है कि मैं 'क्या करें और क्या न करें' की सूची बनाने से हिचकती हूँ। फिर भी मैं शोध तथा अपने व्यक्तिगत अवलोकनों के आधार पर कुछ सुझाव सूचीबद्ध कर रही हूँ।

अपने छात्रों को अधिक, वास्तविक ज़िम्मेदारियाँ दें। उन्हें न केवल स्वयं सीखने का ज़िम्मेदार बनाएँ, वरन उनको बाहर की ज़िम्मेदारियाँ भी सौंपें। हालाँकि ऐसा करने से आपका बोझ कम नहीं होगा! बल्कि संभावना यह है कि ऐसा करने के लिए आपको अधिक समय और ऊर्जा का निवेश करना पड़ेगा (कम से कम प्रारंभ में)। कार्यों और परिस्थितियों की संरचना कुछ इस प्रकार करनी होगी कि छात्र स्वयं निर्णय ले सकें और उन्हें क्रियान्वित कर सकें। परन्तु यहाँ मंशा यह होगी कि आप क्रमशः अपने छात्रों के सीखने में नियंत्रक कम और सहायक अधिक बनें।

किशोरों की मित्रता के महत्त्व को स्वीकारें। हममें से कई वयस्क ऐसी दोस्तियों को शक की नज़र से देखते हैं, और कुछ स्कूलों में तो प्रति वर्ष कक्षा की संरचना बदल दोस्तियों को सायास तोड़ने की नीति अपनाई जाती है। शिक्षकों के रूप में हममें अक्सर मित्रों को 'पृथक' करने की प्रवृत्ति होती है, संभव है कि हमारे पास इसके पुख्ता कारण भी हों। परन्तु अगर हम हमउम्र साथियों के बीच दोस्ती के महत्त्व को नकारते हैं, तो विसंबंधन (एलिअनेशन) का खतरा होता है। इसके अलावा अगर हम छात्र के भावनात्मक जीवन में हमउम्र साथी समूह के लाभों भी उन्हें वंचित करते हैं और ऐसे लाभ सच में *होते हैं*। हालाँकि 'हमउम्र प्रभाव' का एक नकारात्मक अर्थ भी होता है, क्योंकि इस शब्द का प्रयोग अमूमन केवल दुराचरण के लिए किया जाता है, परन्तु सकारात्मक आचरण भी होते हैं जो व्यक्ति के हमउम्र साथियों से प्रभावित होते हैं। शोध ने यह संकेत भी दिया है कि हमें अपने छात्रों की अपने हमउम्र साथियों के दबाव का विरोध करने की क्षमता के बारे में बहुत चिंता नहीं करनी चाहिए। बॉक्स-1 संक्षेप में इसी विचार की छानबीन करता है।

लड़की-लड़के की दोस्ती पर शिकंजा न कसें। सभी 'वर्जनाओं' में से इसकी अनुपालना शायद सबसे कठिन है, क्योंकि किशोरों को यौनिकता को 'पूरी' तरह तलाशने की अनुमति देने में बेशक वास्तविक खतरे भी हैं। अक्सर यही खतरे हमें लड़कियों और लड़कों के बीच किसी भी तरह के संपर्क की थानेदारी करने, उन्हें रोकने, उसकी अनुमति नहीं देने की दिशा में धकेलते हैं। ऐसा करना दो कारणों से गलत है। पहली बात तो यह है कि हम इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि किशोरों के अधिकांश विचार और भावनाएँ शारीरिक आकर्षण और प्रेम की दिशा में निर्देशित होते हैं -- जो नितांत नैसर्गिक, जैविक दिशा में बढ़ना है, अगर हम यह नहीं चाहते कि इन सहज प्रेरणाओं को कुछ खास तरह

से अभिव्यक्त किया जाए, तो हमें शर्तिया उनका दमन भी नहीं करना चाहिए। इन मुद्दों को किस प्रकार प्रबंधित किया जाए उस पर हमें रचनात्मक रूप से सोचना चाहिए। किशोरों पर शिकंजा कसना बेहद आसान तरीका है और दीर्घकालिक रूप से यह कारगर भी नहीं होगा। दूसरे, किशोर अपनी यौनिकता की छानबीन वैसे भी करेंगे ही, बस वे यह सावधानी बरतेंगे कि आलोचना करने वाले वयस्कों को पता न चले। इस प्रकार हम अपने छात्रों के साथ यौनिकता पर बातचीत करने के मौके को भी खो देंगे, और वे भी हमसे कुछ सीख नहीं सकेंगे। ऐसा भी नहीं है कि इन मुद्दों पर खुल कर बातचीत करना आसान हो -- ज़ाहिर ही है कि किशोर इन्हें निजी मानते हैं और हमारे साथ अपने विचार व भावनाएँ साझा करने में अनिच्छुक होते हैं। हालिया शोध बातचीत के सीमित प्रभाव की ओर संकेत करते हैं, पर इस पर अध्याय के अंतिम भाग में अधिक विस्तार से चर्चा की गई है।

तुलनात्मक मूल्यांकन का उपयोग न करें। भारत में समूची शिक्षा व्यवस्था काफी कम आयु से ही प्रदर्शन और तुलना पर आधारित है। वयस्क नन्हों से यहाँ तक कहते है, 'देखें कौन जल्दी खाता है', 'जल्दी करो नहीं तो वह पहले खत्म कर लेगा' और 'देखो तो, वह कितनी अच्छी तरह खेल रही है -- तुम उस जैसे क्यों नहीं खेल सकते?' सो, जब बच्चे किशोर बनते हैं तो आपको लग सकता है कि उन्हें तुलना की आदत हो जानी चाहिए। उनके जीवन के लगभग प्रत्येक पक्ष में सतत तुलनात्मक मूल्यांकन से निर्विकार या सुन हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा करना उनमें स्वयं की दूसरों से तुलना करने की मज़बूत आदत भी डालता है। पर्याप्त शोधों ने यह दर्शाया है कि यह उनके विकास और सीखने के लिए नुक्सानदेह है (देखें उत्प्रेरण पर अध्याय आठ)। मैं नहीं मानती की छात्र कभी भी ऐसे मूल्यांकन से सहज होते हैं -- वे भी नहीं जो तुलनात्मक रूप से सफल हों। मेरे स्कूली दिनों में मैं जिस सबसे चिंताग्रस्त लड़की को जानती थी, वह 'कक्षा में प्रथम' आती थी। किशोरावस्था में जब छात्र स्वयं के बारे में सोचते हैं, स्वयं को परिभाषित कर रहे होते हैं, नकारात्मक प्रतिपुष्टि, नकारात्मक आत्म-छवि तथा आत्म-सम्मान में कमी को बढ़ावा ही देती। इसलिए यह सुनिश्चित करें कि छात्रों को यह पता हो कि आप उनमें से प्रत्येक की सीखने की प्रक्रिया का सम्मान करते हैं, उसे मूल्यवान मानते हैं। उन्हें बेहतर सीखने को उकसाने के लिए तुलनाओं के उपयोग से बचें।[2]

2. यह तो लगभग तय है कि आपके कुछ छात्र ऐसे होंगे ही जिन्हें कुछ भी करने के लिए तुलना आधारित उत्प्रेरण के धक्के की ज़रूरत होगी! फिर भी किशोर उत्प्रेरण तथा तुलना जैसे अमूर्त विचारों को समझ सकते हैं, उन पर चर्चा कर सकते हैं। आप उन्हें स्वयं में इन भावनाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से जाँचने को कह सकते हैं, परन्तु ऐसी आत्म-समझ के परिणामों को व्यक्तिगत छात्र पर छोड़ने की आपको प्रस्तुत भी होना होगा।

बॉक्स-1

समसमूह परिघटना

जिस किसी का किशोरों से थोड़ा-सा भी संपर्क है वह जानता है कि समसमूह मूल्य (पीयर ग्रुप वैल्यूस्) कई प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ समसमूह गहरी और स्नेहपूर्ण मित्रताओं को कीमती मानते हैं, कुछ कसरती ओज को, तो कुछ अन्य अकादमिक उत्कृष्टता को। मनोवैज्ञानिक शोध और लोकप्रिय मीडिया, दोनों में इस बात पर काफी ध्यान दिया गया है कि कुछ समसमूह असामाजिक आचरणों, जैसे चोरी करना, संपत्ति को नुक्सान पहुँचाना तथा आक्रामकता, आदि को मूल्यवान मानते हैं -- खासकर लड़कों में। किशोर मनोविज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत शोधकर्ता लैरी स्टाइनबर्ग मानते हैं कि इस असंतुलन को तटस्थ समसमूह मूल्यों पर ध्यान दे सुधारा जा सकता है, जैसे उनके कपड़े पहनने की शैली और संगीत संबंधी रुचि, साथ ही उनके समाज समर्थक मूल्य, जैसे स्वेच्छा से धमार्थ के लिए अपनी सेवाएँ देना। स्कूल में मेहनत करने और अच्छा करने संबंधी निर्णय अक्सर व्यक्ति के समसमूह का काम होता है, ठीक उसी तरह जैसे शराब, मादक द्रव्यों या यौन संभोग से दूर रहने के निर्णय।

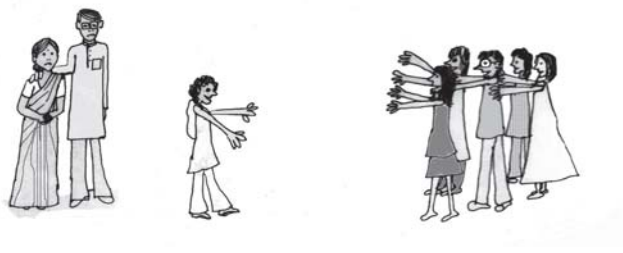

यह धारणा भी काफी प्रचलित है कि किशोरों में समसमूह प्रभावों का विरोध करने की शक्ति लगभग होती ही नहीं है। परन्तु इस रोचक परिवर्तनशील घटक को एक उम्दा प्रश्नावली के माध्यम से मापने पर स्टाइनबर्ग तथा उनके सहकर्मियों ने पाया कि चौदह से अठारह वर्ष की आयु के दौरान किशोरों में प्रतिरोध करने की शक्ति लगातार बढ़ती जाती है। प्रश्नावली में आपको वक्तव्यों की दी गई अनेक जोड़ियों में से एक को चुनना पड़ता है, और यह बताना पड़ता है कि वह वक्तव्य किस हद तक आपका वर्णन करता है। जैसे -- 'कुछ लोग मानते हैं कि एक विशिष्ट व्यक्ति होना, भीड़ के अनुरूप होने से अधिक महत्त्वपूर्ण है', **परन्तु** 'दूसरों का मानना है कि भीड़ के अनुरूप होना व्यक्ति के रूप में पृथक नज़र आने से अधिक मह त्त्वपूर्ण है'। 'कुछ लोग अपने दोस्तों को खुश रखने के लिए उनकी बात मान लेते हैं', **पर** 'दूसरे अपने दोस्तों की बात मानने से इन्कार कर देते हैं, हालाँकि उन्हें पता होता है कि इससे उनके दोस्त नाखुश होंगे।'

स्टाइनबर्ग की शोध जो संयुक्त राज्य अमरीका में की गई थी, ने दर्शाया कि समसमूह प्रभाव का प्रतिरोध लड़कों तथा लड़कियों दोनों में, तथा विभिन्न जातीय समूहों और सामाजिक वर्गों के छात्रों में क्रमशः बढ़ता है। दस से चौदह साल की आयु में समसमूह प्रभाव का प्रतिरोध काफी कम होता है। जो किशोर अपने माता-पिता पर भावनात्मक निर्भरता से स्वतंत्र हो चुके हों उनके लिए मित्र ही तब तक वह सुरक्षा जाल होते हैं, जब तक कि वे भावनात्मक रूप से स्वायत्त होने को तैयार न हो जाएँ। एक तरह से माता-पिता पर निर्भरता का स्थान समसमूह पर निर्भरता ले लेती है। स्टाइनबर्ग कहते हैं कि अठारह वर्ष की आयु तक कोई किशोर या किशोरी अपनी पहचान के एक भाव को पा लेती है जो उसे अपने समसमूह से भी अधिक स्वतंत्र होने की अनुमति देता है। उनके शब्दों में '...हमारा अनुमान यह है कि समसमूह प्रभाव के प्रतिरोध की वृद्धि एक विकासात्मक परिघटना है जो प्रारंभ में माता-पिता से पृथक व्यक्तित्व बनाने से जुड़ी होती है और जिसका समापन अपनी अस्मिता के विकास से होता है।' हमारे संदर्भ में, हम यह कयास लगा सकते हैं, कि यह विकासात्मक परिघटना यहाँ भी लागू होती है, परन्तु संभवतः आयु में अंतर होता हो।

छात्रों को चुनौतीपूर्ण अकादमिक काम दें। इस आयु में आपके छात्र अवधारणात्मक रूप से चुनौतीपूर्ण काम से जुड़ने की क्षमता रखते हैं -

- छात्र जो विषय स्कूल में सीख रहे हों उनसे संबंधित सुलिखित सामग्री से उन्हें परिचित करवाएँ, उनके साथ उसे पढ़ें और उसका विश्लेषण करें। इन सामग्रियों के स्रोत संपादकीय, पत्रिकाओं और जर्नलों में छपे लेख, अच्छी पुस्तकों के अंश हो सकते हैं।
- उनकी संज्ञानात्मक माँगों को केवल उत्तर दोहराने या तथ्यों को रटने द्वारा सीमित

न करें -- यह उनके अमूर्तीकरण की बेहतर क्षमता का स्वाल्प-उपयोग करना होगा।

- खासतौर से हमारी शिक्षा व्यवस्था में, छात्रों पर अधिकाधिक परीक्षाएँ लादी जाती हैं, और यह कतई स्पष्ट नहीं हैं कि वे स्वयं के लिए किस प्रकार की संज्ञानात्मक चुनौतियाँ इस समय रच सकते हैं, जब वे लगातार अपने आप 'अध्ययन' कर रहे हों। परन्तु जब वे किसी जोशीले और तैयार शिक्षक से कुछ सीखते हैं, या अवधारणात्मक रूप से उत्कृष्ट सामग्री पर काम करते हैं तो उनकी संज्ञानात्मक क्षमताएँ वास्तव में फैलती हैं और उनकी वर्जिश होती है। इसलिए समय के उस अनुपात को ध्यान से देखें, जो वे विभिन्न प्रकार की अकादमिक गतिविधियों पर बिताते हैं, और उनकी संज्ञानात्मक चुनौतियों को अधिकतम बनाने की चेष्टा करें।
- किशोरावस्था तक छात्रों का परिचय इतनी अधिक परिघटनाओं से हो चुका होता है कि उनको पाठ्यपुस्तक आधारित सीखने से यथासंभव जोड़ने में मदद न करना सच में दुखद होगा। वे ज्ञान और कौशलों का एक अच्छा-खासा भण्डार गढ़ चुके होते हैं, और यह पहले मौजूद ज्ञान और अनुभव के व्यापक आधार के सहारे, सह-संबंध स्थापित कर नए ज्ञान को सीखने की संभावना बनाता है। उदाहरण के लिए, दबाव का विषय प्रेशर कुकर, ब्रेक, पम्प और ऊँचाई पर कान के परदों पर दबाव के संदर्भों की मदद से पढ़ाया जा सकता है। अंग्रेज़ी भाषा को खबरों, विज्ञापनों, भाषणों, वार्तालापों और पत्रों में भाषा के उपयोग के उदाहरणों द्वारा सिखाया जा सकता है। ये सभी ऐसी चीज़ें हैं जिनका किशोरों को खासा अनुभव होता है। अतः उनके अनुभवों का उपयोग करें, और जहाँ तक संभव हो, ज्ञान से ऐसा बरताव न करें मानो उसका अस्तित्व जलरोधी खंडों में सबसे अलग-थलग, पृथक हो।

वयस्कों और किशोरों के पारस्परिक संवाद का समय निकालें। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इस आयुवर्ग की एक संज्ञानात्मक प्रगति मौजूदा ढाँचों तथा परिपाटियों पर प्रश्न उठाने की क्षमता होती है। विडंबना यह है कि वे इस समय अपने समसमूह के प्रभाव के शिकंजे में जकड़े हुए भी होते हैं। इसका अर्थ कभी यह भी हो सकता है कि बड़े साहस के साथ वयस्कों की परिपाटियों को खारिज करने के बाद वे बड़े दब्बूपन के साथ हमउम्र समूह की परिपाटियों को अपना लें। 'चीज़ें जैसी हैं' पर प्रश्न उठाने की उनकी क्षमता को विस्तार दिया जा सकता है, टेलिविज़न, फिल्में और किशोर एक-दूसरे को जो संदेश देते हैं उन्हें भी शामिल कर उन पर सवाल उठाए जा सकते हैं। आप अब अपने छात्रों से विज्ञापनों, उपभोक्तावाद, पर्यावरण पर हमारी जीवन शैली का प्रभाव, सामाजिक असमता, रिश्तों, नैतिकता, और आज़ादी तथा सामाजिक व्यवस्था पर चर्चाएँ कर सकते हैं। उम्मीद है कि ये केवल आरामकुर्सी पर बैठे हुए की गई रोचक चर्चाएँ न

रह कर, आपके तथा आपके छात्रों के रोज़मर्रा के जीवन से संबंधित चर्चाएँ बन सकेंगी। रोएसर इसका बयान बखूबी करते हैं:

शिक्षा तरुणों को आदतन (स्वचालित रूप से) चीज़ों को संबोधित करने, देखने-समझने, महसूस करने, सोचने तथा करने के प्रति सजग बनाने और उनसे स्वयं को छुड़ाने में सहायता पाने के विषय में भी है। ऐसा वे, इन बुनियादी स्व-प्रतिक्रियाओं तथा दुनिया में अस्तित्व के तरीकों के प्रति अधिक सतर्क नज़रिया पनपा कर करते हैं... (जो) रचनात्मकता, वैचारिक स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत व सामाजिक नवीनीकरण के विभिन्न स्वरूपों की पूर्वशर्त है।

ये संवाद सार्थक हों सकें, इसके लिए आपको ऐसा स्थान रचना होगा जहाँ पारस्परिक सम्मान और स्नेह हो, जहाँ छात्र और शिक्षक अपने विचारों, भावनाओं तथा मतों को खुलेपन के साथ संप्रेषित कर सकें। ऐसे संवाद सत्रों के कुछ दिशानिर्देश बॉक्स-2 में सूचीबद्ध हैं।

बॉक्स-2

तरुण वयस्कों के साथ संवाद : स्थान का निर्माण

जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा गंभीर मसलों पर अपने छात्रों के साथ नियमित संवाद सत्र आदर्श हैं। तेरह से अठारह वर्ष के छात्रों के साथ ऐसे सत्रों को सुसाध्य बनाने को संबंध में कुछ सुभाव ये हैं।

- एक शिक्षक के रूप में आप इन सत्रों के स्पष्टतः मददगार इस रूप में हैं कि, आप चर्चा को दिशा देते हैं, परन्तु उस हद तक नहीं कि आप उसे नियंत्रित करें। संभव है कि आपको कोई दिशा न देना बेहतर लगता हो, आप उसे मुक्त 'बातचीत' का रूप देना पसंद करते हों। परन्तु मेरा निजी अनुभव यह रहा है कि सभी संभागियों में सुसंगतता और संतोष का भाव तब जगता है जब संवाद केंद्रित रहता है। कोई विषय या प्रश्न मन में हो तो यह उपयोगी सिद्ध होता है ताकि संवाद प्रारंभ किया जा सके। परन्तु यह भी सुनिश्चित करें कि अगर कोई बच्चा अनपेक्षित रूप से कोई बात उठाना चाहे, तो उसकी गुंजाइश भी हो।
- सबकी भागीदारी आपको सुनिश्चित करनी होगी। बड़ी कक्षा में यह एक वास्तविक चुनौती होगी; परन्तु छोटी कक्षाओं में भी इस बारे में आपको सचेत रहना होगा। भागीदारी प्रोत्साहित करने का मतलब यह नहीं है कि आप प्रत्येक बच्चे को बोलने पर बाध्य करें। मौन रहकर सुनना भी कीमती होता है, पर आपको सावधान रहना होगा कि किसी की 'बत्ती गुल तो नहीं हो रही'। इसकी दो सरल तकनीकें हैं -- वृत्त में सबकी टिप्पणियाँ आमंत्रित करना, और जो मौन रहें उनकी ओर यदा-कदा एक सवाल उछालना।

- कुछ छात्रों को अपने विचार स्पष्ट कर पूरे वाक्य सोच लेने के बाद ही उन्हें अभिव्यक्त करना पसंद आता है, जबकि कुछ दूसरों को 'बोलते हुए सोचने' में झिझक नहीं होती। इसलिए ऐसे तरीकों को तलाशें जिनसे दोनों ही प्रकार के छात्र भागीदारी कर सकें। उदाहरण के लिए, प्रत्येक बच्चे को उसका विचार पूरा करने का समय दें। टोका-टाकी किसी भी संवाद के लिए अभिशाप हो सकता है, और एक बिन्दू के बाद उन्हें पूरी तरह हटाया भी नहीं जा सकता। फिर भी हम सभी को इस तथ्य के प्रति संवेदनशील बना सकते हैं कि कोई दूसरा भी बोलना, या अपना विचार पूरा करना चाह सकता है, सो उसे भी स्थान दिया जाना चाहिए।

- भाषा और शब्दावली सरल हो सकती है और आप अधूरे वाक्यों तथा (कुछ वृत्तों में) 'जैसे' (लाइक), 'जो भी हो' (व्हॉटएवर) और 'कुछ' (समथिंग) जैसे शब्दों के बाहुल्य की छूट दे सकते हैं। फिर भी, समय के साथ छात्रों को अपने विचार स्पष्टता से अभिव्यक्त करने और पूरे वाक्यों का प्रयोग करने को प्रोत्साहित करना अच्छा होता है। स्पष्ट भाषा में अपनी भावनाओं और भावनात्मक स्थिति को अभिव्यक्ति कर पाना एक सीखने लायक कौशल है।

- यह स्थान **सुरक्षित स्थान** भी होना चाहिए जहाँ सभी अपनी भावनाएँ, मत तथा विचार साझा करने को स्वतंत्र महसूस करें। उन्हें किसी के फैसले का भय न हो। ऐसा स्थान बनाने में कड़ी मेहनत करनी पड़ती है -- और इसके लिए एक दिशानिर्देश यह है कि शिक्षक इस स्थान का उपयोग 'फटकार' सत्र के रूप में न करें। न ही इसे, सिफट के साथ, एक 'नैतिकता के पाठ' का रूप दें। छात्रों को अगर इसकी भनक भी लगी तो वे फौरन चुप्पी साध लेंगे।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है शिक्षकों के रूप में हमें इन संवादों से बड़ी-भारी उम्मीदें नहीं रखनी चाहिएँ। ऐसा करने पर दो बिन्दुओं पर हताशा हाथ लग सकती है : अव्वल तो छात्र मुक्त संप्रेषण से हिचकिचा सकते हैं, और दूसरे उनका आचरण उनकी बातों की परिपक्वता से मेल खाए यह ज़रूरी नहीं है। जैसा अध्याय का अंतिम भाग स्पष्ट करता है, हालाँकि किशोर लगातार अधिकाधिक परिष्कृत अभिव्यक्ति में सक्षम होते जाते हैं, वे अक्सर स्वयं पर उतने 'काबिज़' नहीं होते, जितने उनकी बातों से वे लगते हैं।

किशोरावस्था के खतरे और संभावनाएँ

सभी ने किशोरों के विख्यात जोखिम उठाने के आचरण के बारे में सुन रखा होगा -- खासतौर से यौनिकता, मादक द्रव्यों के उपयोग और तेज़ गति से वाहन चलाने जैसे क्षेत्रों में। इसका एक पसंदीदा स्पष्टीकरण यह है कि तरुण अपने जोखिम भरे आचरण के संभावित नतीजों का सही अनुमान नहीं लगा सकते। उदाहरण के लिए, वे यह मानने लगते हैं कि वे अमर हैं, या उन्हें किसी नशे की लत कभी पड़ ही नहीं सकती, या वे कभी

गर्भवती नहीं हो सकतीं। आजकल अधिकाधिक स्कूल व अन्य समूह किशोरों को इन मुद्दों पर जागरूक बना रहे हैं। संभव है कि जागरूकता बढ़ाने के कार्यक्रमों का किशोरों के आचरण पर कुछ असर पड़ता हो, पर जिन किशोरों को 'तथ्य' पता हों वे भी जोखिम भरा आचरण करते हैं। मनोवैज्ञानिक लैरी स्टाइनबर्ग हमें बताते हैं कि जागरूकता अभियानों तथा जोखिम उठाने के आचरण के घटे स्तर में लगभग कोई भी संबंध नहीं होता है। आखिर हम संज्ञानात्मक विकास संबंधी शोध से यह तो जानते ही हैं कि किशोर छोटे बच्चों की तुलना में अधिक परिष्कृत तथा तार्किक विचारक होते हैं। साथ ही, हम यह भी जानते हैं कि वे परिकल्पित स्थितियों, जैसे लापरवाही से गाड़ी चलाने के नतीजों की कल्पना भी कर सकते हैं। तकरीबन पंद्रह साल की उम्र में हमारे छात्र अपने चिंतन में उतने ही तार्किक हो जाते हैं, जितने हम हों। अतः यह संभव नहीं लगता कि उनका आचरण वास्तव में इस *विश्वास से उपजता* है कि वे अमर हैं, या कभी गर्भ-धारण नहीं कर सकते, या उन्हें कभी एड्स नहीं होगा। इसके बावजूद यह दृढ़ तथ्य है कि किशोरावस्था में जोखिम उठाने का स्तर आयु की किसी भी दूसरी अवस्था से अधिक होता है। तो फिर इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण क्या हो सकता है ?

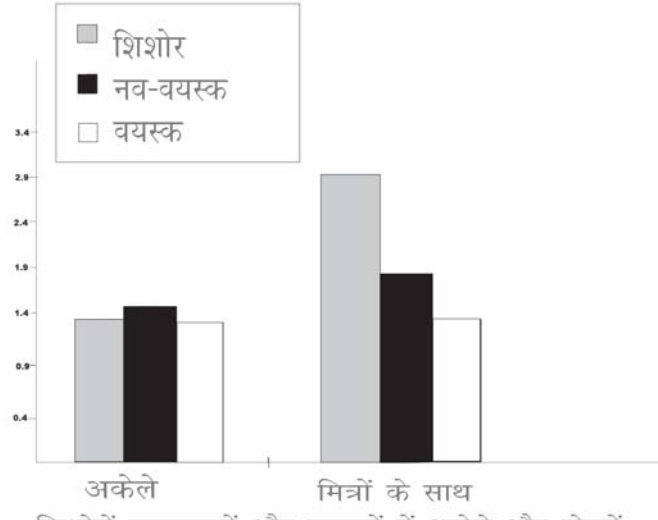

किशोरों नववयस्कों और वयस्कों में अकेले और दोस्तों के साथ वाहन-चालन का विडियो खेल खेलते समय जोखिम उठाने की वत्रत्ति।

इसका उत्तर देने के लिए हमें मस्तिष्क के दो संजालों (नेटवर्क) से परिचित होना होगाः इनमें एक तो है **संज्ञानात्मक नियंत्रण संजाल** (कॉग्नेटिव कंट्रोल नेटवर्क) जो मस्तिष्क के बाहरी क्षेत्रों में स्थित होता है (प्रीफंटल तथा पैरिएटल कॉर्टाइसेस), और दूसरा है **सामाजिक-भावनात्मक संजाल**, जो एमीग्डाला जैसे लिम्बिक तथा पैरालिम्बिक क्षेत्रों में स्थित होता है। संज्ञानात्मक नियंत्रण में दूर की सोचना, आवेगों पर नियंत्रण, तुष्टि पाने में विलंब (अर्थात् भविष्य में किसी पुरस्कार के लिए काम करना) तथा आत्म-नियमन (सैल्फ रेग्युलेशन) शामिल होते हैं। इनसे जुड़े मस्तिष्क के जो भाग हैं वे क्रमशः पर लगातार प्रारंभिक वयस्कावस्था में विकसित होते हैं। वयःसंधि का प्रारंभ होना इन क्षेत्रों की परिपक्वता पर कोई विशेष असर नहीं डालता। इसके विपरीत सामाजिक-भावनात्मक संजाल भावनात्मक व सामाजिक उद्दीपनों के प्रति संवेदनशीलता के संवेदनों की तलाश और पुरस्कार अभिमुखीकरण को (खासतौर से तात्कालिक पुरस्कारों को) शासित करता है। वयःसंधि के दौरान इससे जुड़े मस्तिष्क के हिस्से अधिक संवेदनशील तथा आसानी से उत्तेजित हो जाते हैं और किशोरावस्था के हार्मोनल बदलावों से खासतौर से प्रभावित भी होते हैं।

किशोरावस्था के दौरान कई निर्णय लेने की परिस्थितियाँ इन दोनों संजालों को एक-दूसरे से स्पर्धा की स्थिति में ले आती हैं। जब किशोर अकेला होता है, सामाजिक-भावनात्मक संजाल कम सक्रिय होता है, और संज्ञानात्मक नियंत्रण संजाल उसकी निर्णय प्रक्रिया को दिशा दे पाता है। परन्तु भावावेग की स्थितियों में जैसा कि समसमूह साथियों की उपस्थिति के दौरान, सच्चाई इससे ठीक उलटी होती है। ऐसी स्थितियों में संज्ञानात्मक नियंत्रण पूरी तरह शक्तिहीन हो जाता है, खासतौर से किशोरों में जिनमें यह प्रणाली पूरी तरह विकसित भी नहीं हुई हो। स्टाइनबर्ग का कयास है कि हमउम्र साथियों की उपस्थिति सामाजिक पुरस्कार-सा काम करती है, और यों मस्तिष्क के उन हिस्सों को सक्रिय कर देती है जो इन परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील हों। फलस्वरूप एक खास प्रकार से कृत्य करने के उद्दीपन इसलिए क्रियान्वित किए जाते हैं, क्योंकि किशोर उन्हें रोक ही नहीं पाते। हाल में मस्तिष्क स्कैन शोध ने इस सामान्य बिन्दु की पुष्टि कई प्रकारों से की है। उदाहरण के लिए एक अध्ययन जो समसमूह प्रभाव के उच्च तथा निम्न प्रतिरोध वाले छात्रों पर किया गया था, ने दर्शाया कि जब छात्रों को क्रोधित लोगों के विडियो दिखाए गए और उसके बाद उनके मस्तिष्क का स्कैन किया गया तो मस्तिष्क की गतिविधि पैटर्न में अंतर पाया गया। जिन छात्रों ने एक प्रश्नावली में (देखें बॉक्स-1) समसमूह प्रभाव के प्रति कम प्रतिरोध होने का संकेत दिया था, उनके प्रीमोटर क्षेत्र में (जो दूसरों के कृत्यों की पढ़ने तथा अपने कृत्य की तैयारी के लिए ज़िम्मेदार है) अधिक

मस्तिष्क गतिविधि थी। जबकि जिन्होंने प्रश्नावली द्वारा समसमूह प्रभाव के उच्चतर प्रतिरोध का संकेत दिया था उनके प्रीमोटर तथा प्रीफ्रंटल क्षेत्रों (जो विवेक से लिए गए निर्णयों के लिए ज़िम्मेदार हैं) के जुड़ावों में अधिक मस्तिष्क गतिविधि थी। मस्तिष्क के प्रीमोटर तथा प्रीफ्रंटल क्षेत्रों में अधिक संयोजन संभवतः भावावेग की प्रतिक्रियाओं को ज़रूरत पड़ने पर रोकने की अनुमति देता है। एक बात और कि कम तथा अधिक प्रतिरोध वाले छात्रों के बीच यह अंतर उस वक्त गायब हो गया जब वे तटस्थ फिल्म-क्लिपों को देख रहे थे। यह अवश्य लगता है कि समसमूह प्रभाव का प्रतिरोध कर पाना भावनात्मक तथा सामाजिक 'आधिक्य' या हाई के बीच (जो हमउम्र साथियों की उपस्थिति से प्रेरित होता है) आत्म-नियमन तथा आवेग नियंत्रण द्वारा संतुलन बैठा पाने का मसला है।

स्टाइनबर्ग एक अन्य रोचक अध्ययन की बात भी बताते हैं, जो समसमूह साथियों की उपस्थिति का जोखिम उठाने की प्रकृति पर पड़ने वाले असर पर किया गया था। इसमें किशोरों (तेरह से सोलह वर्ष के बच्चे), कॉलेज छात्रों (अठारह से बाईस साल) तथा वयस्कों (चौबीस और उससे अधिक वर्ष) को एक कम्प्यूटर खेल खेलने को दिया गया। इस खेल में अंक पाने के लिए एक वाहन को यथासंभव दूर तक चलाना था। खेल में किसी बिन्दु पर यातायात बत्ती पीली और तब लाल हो जाती थी, लाल बत्ती को पार करने पर टक्कर होने की संभावना रहती थी। मनोवैज्ञानिकों ने यह मापने की चेष्टा की कि लोग कितनी बार पीली बत्ती में आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं -- दूसरे शब्दों में कहें तो जोखिम भरा निर्णय लेते हैं। आधे प्रतिभागियों ने यह खेल अकेले खेला, और शेष ने दो मित्रों की मौजूदगी में, जो खेल देखने के साथ सलाह दे रहे थे। आंकड़ों ने नतीजों को साफ-साफ दर्शाया : किशोरों, और कुछ कम हद तक युवाओं में हमउम्र साथियों की मौजूदगी में जोखिम उठाने के आचरण में वृद्धि हुई। अकेले खेलते समय तीनों ही समूहों के खेलने का तरीका काफी समान था।

विडियो चालन खेल के दौरान, अकेले तथा मित्रों के साथ खेलते हुए किशोरों, युवाओं तथा वयस्कों द्वारा जोखिम उठाना

यह शोध इस निष्कर्ष की ओर संकेत करती है कि अगर हम चौदह से सतरह वर्षीय किशोरों में जोखिम मोल लेने के आचरण तथा उसके परिणामों पर केवल बातचीत करें तो उसका सिर्फ सीमित असर होगा। इसलिए, क्योंकि जो स्थितियाँ भावावेग जगाती हैं, उनमें वे अपने निर्णयों को नियंत्रित कर पाने में लगभग *असमर्थ* ही होते हैं। स्टाइनबर्ग इसके बदले बाहरी उपायों की अनुशंसा करते हैं, जैसे सिगरेट की कीमतें बढ़ाना, वाहन

चालन की आयु में वृद्धि, तथा मानसिक स्वास्थ्य तथा गर्भ-निरोध सेवाओं तक पहुँच बढ़ाना। दूसरे शब्दों में वे **'अपरिपक्व फैसलों के नुक्सानदेह परिणामों के अवसरों को सीमित करने'** की बात कहते हैं। यह सुझाव बढ़िया है पर इसमें दुरुपयोग की भारी संभावना भी है! इसका तात्पर्य यह कतई नहीं समझना चाहिए कि हमें इस कठिन दौर में अपने छात्रों की थानेदारी करनी चाहिए और उन पर अविश्वास करना चाहिए। किशोरों पर हुई शोध की एक अधिक समग्र समझ हमें इससे कहीं अधिक सूक्ष्म तथा सतर्क नज़रिया अपनाने की दिशा दिखा सकती है। साथ ही हमारे किशोर छात्र जहाँ एक ओर अविवेकपूर्ण आचरण कर सकते हैं वहीं अपने चिंतन में बेहद तार्किक भी ही हो सकते हैं। आप इन दोनों प्रवृत्तियों में संतुलन बैठाकर अपने छात्रों की श्रेष्ठतम वृत्तियों को कैसे उभारें यह विभिन्न नज़रियों को आजमाने का और उनकी प्रतिपुष्टि पर निरंतर अनुक्रिया करते जाने का मसला है। यह वादा कोई नहीं कर रहा कि ऐसा करना आसान होगा। फिर भी यह बेहद महत्त्वपूर्ण है। हम किशोरों की सकारात्मक संभावना को हमेशा दिमाग में रखें। आगे जिस शोध का वर्णन किया जा रहा है, वह उनके विकास के इस चेहरे को खूबसूरती से प्रस्तुत करता है।

किशोरावस्था में, हम तकरीबन बीसेक वर्ष की भारी वृद्धि तथा विकास की प्रक्रिया की पराकाष्ठा देख रहे होते हैं। इस चरण के समापन के साथ कई बातों को पूर्ण तथा स्थिर हुआ माना जाता है। जैसे उनका कद, कार्यात्मक स्मृति, मस्तिष्क का आकार, तथा बुद्धिलब्धि। बेशक, ज्ञान और कौशल आजीवन विकसित होते जाते हैं। एक क्षेत्र जहाँ हम यह मान सकते हैं कि किशोरावस्था के अंत के साथ विकास भी समाप्त नहीं हो गया होगा, वह है **बुद्धिमत्ता**। हममें से अधिकांश यह मानते हैं कि आप तब तक बुद्धिमान नहीं हो सकते जब तक आप काफी बूढ़े न हो गए हों, और हम किसी इक्कीस वर्षीय युवक को 'बुद्धिमान युवक' भी नहीं कहते (सिवा मज़ाक में!)। मनोवैज्ञानिक पॉल बॉल्टेस, जिन्होंने दशकों तक जीवन-अवधि विकास का अध्ययन किया है, उन्होंने बुद्धिमत्ता का अध्ययन करने के दुष्कर काम को उठाया है। जो गुण बुद्धिमत्ता जितना अमूर्त हो, उसके अध्ययन में सबसे पहली और सबसे कठिन चुनौती है एक क्रियात्मक परिभाषा गढ़ना। बॉल्टेस तथा उनके सहकर्मी बुद्धिमत्ता या विवेक की परिभाषा कुछ इस प्रकार करते हैंः 'जीवन की उन बुनियादी व्यावहारिकताओं का विशिष्ट ज्ञान जो पेचीदा तथा अनिश्चित मामलों में असाधारण अंतर्दृष्टि, फैसले, तथा परामर्श की छूट देता हो'। वे इसे *बुद्धिमत्ता संबंधी ज्ञान तथा फैसला* कहते हैं और उसे पाँच मानदण्डों पर आधारित करते हैं, जो निम्नोक्त तालिका में दर्शाए गए हैं।

बुद्धिमत्ता के मानदण्ड	संक्षिप्त वर्णन :
1. जीवन के विषय में समृद्ध अवधारणात्मक ज्ञान।	1. जीवन के विविध मुद्दों, सामान्य तथा विशिष्ट दोनों को, गहराई से जानना।
2. जीवन के विषय में समृद्ध प्रक्रियात्मक (प्रोसीज़रल) ज्ञान।	2. निर्णय लेना, समस्याओं का समाधान करना, लक्ष्य प्राप्ति और विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में परामर्श दे पाना आना।
3. जीवन-अवधि संदर्भवाद।	3. अतीत, वर्तमान तथा संभाव्य भावी परिस्थितियों को समझना।
4. मूल्य सापेक्षवाद।	4. सार्विक मूल्यों (जो सबकी भलाई के लिए हों) की एक छोटी शृंखला होना, और साथ ही यह समझना कि जीवन में कई मूल्य सापेक्ष होते हैं।
5. अनिश्चितता को पहचानना तथा उसका प्रबंधन।	5. यह जानना कि जीवन अंतर्निहित रूप से अनिश्चित है और उस अनिश्चितता से कैसे निपटना है यह जानना।

जैसा सभी क्रियात्मक परिभाषाओं के साथ होता है, आप इस परिभाषा से सहमत हो भी सकते हैं, तो नहीं भी हो सकते हैं। परन्तु इतना तो है कि यह परिभाषा तुलनात्मक रूप से स्पष्ट है। बॉल्टेस् तथा अन्य ने पच्चीस से अस्सी वर्षीय वयस्कों में इस रोचक परिवर्तनशील का अध्ययन किया है, और आश्चर्यजनक रूप से पाया कि यह घटक आयु के साथ स्वतः नहीं बढ़ता है। उनकी परिभाषा तथा विधियों के उपयोग से उन्हें पता चला है कि उम्र में बड़े होना, अधिक बुद्धिमान होना नहीं होता। जो घटक बुद्धिमत्ता-संबंधी ज्ञान तथा फैसला निर्मित करते हैं वे कुछ खास तरह के अनुभव तथा व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताएँ प्रतीत होते हैं, जैसे अनुभव के प्रति खुलापन और चीज़ों पर सोच-विचार करना।

तो क्या बुद्धिमत्ता भी एक और चारित्रिक विशेषता है जो किशोरावस्था में ही परिपक्वता तक पहुँच जाती है? बॉल्टेस तथा उनके सहकर्मी मोनीशा पशुपति व उर्सुला स्टाउडिंगर ने किशोरों में 'बुद्धिमत्ता के बीजों' की तलाश करने का निर्णय लिया। बर्लिन के स्कूलों के डेढ़ सौ छात्रों, जो चौदह से उन्नीस वर्ष की आयु के थे तथा साठ युवा-वयस्कों, जो बीस से सैंतीस साल के थे, उनको कुछ परिकल्पित दुविधाओं पर चिंतन करने को कहा गया, जैसे :

- 'एक किशोर या किशोरी के पता चलता है कि वह उस परीक्षा में असफल रहा/रही

है जो उसके भविष्य के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति या वह किशोर/किशोरी क्या कर और सोच सकता/सकती है।?'

- 'किसी किशोर या किशोरी को अहसास होता है कि उसे अपने दोस्तों की योजनाओं में अब शामिल नहीं किया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में कोई व्यक्ति या वह किशोर/किशोरी क्या कर और सोच सकता/सकती है?'
- 'अपने जीवन पर सोच-विचार करते समय, किसी व्यक्ति को लगता है कि उसने वह सब हासिल नहीं किया है जिसकी कल्पना उसने कभी की थी। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति या उक्त व्यक्ति क्या कर सकता है?'

छात्रों तथा वयस्कों से कहा गया कि वे दुविधा पर 'बोलते हुए चिंतन' करें, और उनके विचारों का पाँच भिन्न-भिन्न मानदण्डों के आधार पर आकलन किया गया। परिणाम आश्चर्यजनक थे -- पाँचों मानदण्डों पर चौदह से तेईस वर्षीय लोगों के प्राप्तांकों में पैनी वृद्धि रही। परन्तु तेईस और उससे अधिक आयु के लोगों में आयु बढ़ने के साथ काई इज़ाफा नज़र नहीं आया (देखें नीचे दी गई तालिका)।

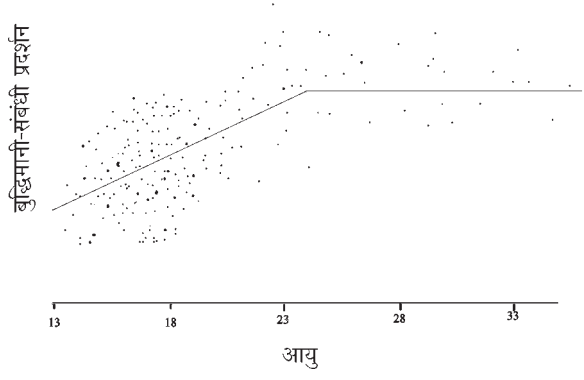

यह अध्ययन स्पष्ट इंगित करता है कि बुद्धिमत्ता संबंधी ज्ञान तथा फैसला चौदह से उन्नीस वर्ष की आयु में विकसित होता है, वह *मानकीय* (नॉर्मेटिव) है। अर्थात् वह ऐसे घटकों द्वारा निर्धारित होता है, जो सभी किशोरों में साझा रूप से मौजूद होते हैं। परन्तु इसके बाद बुद्धिमत्ता का आगे विकास गैर-मानकीय (नॉन-नॉर्मेटिव) होता है, या व्यक्तिगत घटकों द्वारा निर्धारित होता है। यह तथ्य मांग करता है कि हम किशोरावस्था तथा

युवा-वयस्कावस्था के बारे में जिस प्रकार सोचते हैं, उसमें बदलाव करें। आप इसे बुद्धिमत्ता कहें या कोई दूसरा नाम दें, हमें तरुणों को उस गुण का श्रेय भी देना होगा, जो अमूमन हम सिर्फ अपने लिए या उम्र में काफी बड़े लोगों के लिए आरक्षित रखते हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धिमत्ता के बीज वास्तव में किशोरावस्था में ही मिलते हैं।

निष्कर्ष

हमारे छात्र किशोरावस्था में, कब सरक आते हैं, उसका अहसास तक हमें नहीं हो पाता। अचानक एक दिन आप खुद को किसी बारह वर्षीय बालिका से ऊपर देखते हुए बात करते पाते हैं, या किसी चौदह वर्षीय लड़के को फोन पर बात करते समय भ्रमवश उसे उसका पिता समझ बैठते हैं। हालाँकि हमारी नज़रों में वे अब भी 'बच्चे' ही होते हैं, वे स्वयं से भिन्न प्रकार का बरताव चाहते हैं, जो उचित भी है। इन अस्तव्यस्त तथा उत्तेजक वर्षों के दौरान, उनके मस्तिष्क तथा जीवनों में क्या कुछ चल रहा होगा, उसके प्रति अधिक जागरूकता हमें उनसे निपटते समय अधिक संवेदनशील, समझदार और धैर्यवान बनाएगी। संभव है तब 'किशोरावस्था' शब्द अपनी नकारात्मकता को झाड़ सकेगा।

संदर्भ तथा पुस्तक सूची

1. आर्नेट, जे.जे., 1999। 'अडोलसेंट स्टॉर्म एण्ड स्ट्रैस, रीकंसिडर्ड'। *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट,* खण्ड-54, संख्या-5, 317-26

2. बुखानेन, सी.एम., जे.एस.एकलेस, तथा जे.बी. बेकर, 1992। 'आर अडोलेसेंटस द विक्टिमस ऑव रेजिंग हार्मोन्स : एविडेन्स फॉर एक्टिवेशनल इफैक्टस् ऑव हार्मोनस् ऑन मूडस एण्ड बिहेवियर एट अडोलोसेन्स'। *साइकोलॉजिकल बुलेटिन,* खण्ड-111, संख्या-1, 62-107

3. केसी, बी.जे., जे.एन.गिएड, तथा के.एम.थॉमस, 2000। 'स्ट्रक्चरल एण्ड फंक्शनल ब्रेन डेवलेपमेंट एण्ड इटस् रिलेशन टू कॉग्निटिव डेवलपमेंट'। *बायोलॉजिकल साइकॉलजी,* खण्ड-54, 241-57

4. एकलेस, जे.एस., सी.मिडग्ले, ए.विगफील्ड, सी.एम.बुखानेन, डी.रियूमेन, सी.फ्लैनगन, तथा डी. मैकआइवर, 1993। 'डेवलपमेंट ड्यूरिंग अडोलसेन्सः द इम्पैक्ट ऑव स्टेज-एन्वायरन्मेंट फिट ऑन यंग अडोलसेन्टस् एक्सपीरियन्सेस इन स्कूल एण्ड इन फैमिलीस्, *अमेरिकन साइकॉलजिस्ट, खण्ड-48, संख्या-2, 90-101*

5. फुलिग्नी, ए.जे.,1998। 'ऑथोरिटी, ऑटोनमी एण्ड पेरेंट-अडोलोसेन्ट कॉन्फिलिक्ट एण्ड कोहेज़नः अ स्टडी ऑव अडोलोसेन्टस् फ्रॉम मैक्सिकन, चाइनीज़, फिलिपीनो एण्ड यूरोपियन बैकग्राउन्डस्'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-34, संख्या-4, 782-92

6. लार्सन, आर.डब्ल्यू. तथा एम. हैम, 1993। 'स्ट्रैस एण्ड 'स्टॉर्म एण्ड स्ट्रैस' इन अर्ली अडोलसेन्सः द रिलेशनशिप ऑव नेगेटिव इवेन्टस् विद डायस्फोरिक अफैक्ट'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-29, संख्या-1, 130-40

7. लार्सन, आर.डब्ल्यू., 2000। 'टुवर्ड अ साइकॉलजी ऑव पॉज़िटिव यूथ डेवलपमेंट'। अमेरिकन साइकॉलजिस्ट, खण्ड-55, संख्या-1, 170-83

8. पशुपति, एम., यू.एम.स्टाउडिंगर, तथा पी.बी.बॉल्टेस, 2001 'सीडस् ऑव विज़डम अडोलसेन्टस् नॉलेज एण्ड जजमेंट अबाउट डिफिकल्ट लाइफ प्राब्लम्स'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-37, संख्या-3, 351-61

9. रोएसर, आर. डब्ल्यू., जे.एस.एकलेस, तथा ए.जे.समेरॉफ, 1998। 'अकैडमिक एण्ड इमोशनल फंक्शनिंग इन अर्ली अडोलसेन्स्'। *डेवलपमेंट एण्ड साइकोपैथॉलजी,* 10, 321-52

10. रोएसर, आर.डब्ल्यू., तथा एम.जी.गैलोवे, 2002। 'स्टडीइंग मोटिवेशन टू लर्न इन अर्ली अडोलसेन्स्: अ होलिस्टिक पर्सपैक्टिव'। जे.टी.उर्डन तथ एफ.पैजेरस (संपादित) एकेडमिक मोटिवेशन आव अडोलसेन्टस् : अडोलसेन्स् एण्ड एज्युकेशन, खण्ड-2, (पृष्ठ, 331-72) में शामिल है। ग्रेनिच, सी. टी. : इन्फर्मेशन एज़ पब्लिशिंग।

11. रोएसर, आर.डब्ल्यू., सी.मिजली, तथा टी.सी.अर्बन, 1996। 'पर्सेप्शन्स् ऑव द स्कूल साइकोलॉजिकल एन्वायरमेंट एण्ड अर्ली अडोलसेन्टस् साइकॉलजिकल एण्ड बिहेवियरल फंक्शनिंग इन स्कूल : द मीडिएटिंग रोल ऑव गोल्स् एण्ड बिलॉन्गिंग'। *जर्नल ऑव एज्युकेशनल साइकॉलजी,* खण्ड-88, संख्या-3, 408-22

12. स्टाइनबर्ग, एल., 2005। 'कॉग्निटिव एण्ड अफैक्टिव डेवलपमेंट इन अडोलसेन्टस्'। *ट्रेन्डस् इन कॉग्निटिव साइन्स,* 9(2), 69-74

13. स्टाइनबर्ग, एल., 2007, 'रिस्क टेकिंगइन अडोलसेन्स् : न्यू पर्सपेक्टिवस् फ्रॉम ब्रेन एण्ड बिहेवियरल साइन्स'। *करेन्ट डाइरैक्शन्स् इन साइकॉलजिकल साइन्स,* 16(2), 55-59

14. स्टाइनबर्ग, एल., तथा के.सी.मोनाहैन, 2007। 'एज डिफरेन्सेस् इन रेसिस्टेंस टू पीयर इन्फल्यूएन्स'। *डेवलपमेंटल साइकॉलजी,* खण्ड-43, संख्या-6, 1531-43

❑❑❑